भगवान वामन

— सुदर्शन सिंह 'च

पौराणिक उपन्यास—

भगवान वामन

लेखक

सुदर्शनसिंह 'चक्र'

इस पुस्तकको अथवा इसके किसी अंशको कहीं प्रकाशित करने अथवा किसी भी भाषामें अनूदित करनेका सबको अधिकार है।

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान सेवा-संस्थान,
मथुरा–२८१००१

[यह पुस्तक भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्यपर उपलब्ध कागजपर मुद्रित है।]

प्रकाशक :

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान सेवा-संस्थान,

मथुरा–२८१००१

प्रथम संस्करण : ११,०० प्रतियाँ

प्रकाशन तिथि :

विजय-दशमी, सं० २०४० वि०

१६ अक्टूबर, १९८३ ई०

मूल्य : १२ रुपये ५० पैसे

मुद्रक :

मयूर प्रेस

बद्रीनगर, दरेसी रोड,

मथुरा।

फोन : ४४६४

BHAGWAN VAMAN—

A Novel–Sudarshan Shingh 'Chakra' Price Rs. 12.50 P.

अनुक्रमणिका

१.	भगवान वामन : वन्दन	२
२.	अपनी बात	३
३.	उपक्रम	७
४.	बलि विजय	२०
५.	हस्तक्षेपकी आवश्यकता	३७
६.	देवताओंका दैन्य	४३
७.	कश्यप-अदिति	५३
८.	अदितिका पयोव्रत	६२
९.	आविर्भावके पूर्व	७१
१०.	प्रादुर्भाव	८१
११.	बलिका सुयश	९२
१२.	यज्ञशालाकी ओर	१०३
१३.	यज्ञशालामें	११४
१४.	भूमि-दान	१२५
१५.	वामनसे विराट्	१३६
१६.	बलि-बन्धन	१४६
१७.	सुतल-साम्राज्य	१५७
१८.	दशग्रीवका दुर्भाग्य	१६७
१९.	उपेन्द्र	१७८
२०.	आगामी इन्द्रत्व	१८३
२१.	सिंहावलोकन	१८८
	कल्पान्तर-कथा	
२२.	धुन्धका इन्द्रत्व	१९९
२३.	देव-संकट	२०८
२४.	वही भूमि-दान	२१९
२५.	एक दृष्टि	२२९

सांस्कृतिक कहानियाँ

'कल्याण' (गीताप्रेस-गोरखपुर)में कई वर्षतक श्री 'चक्र'की कहानियाँ निकलती रही थीं। अब गत कई वर्षोंसे वे कहानी लिखना बन्द कर चुके हैं।

'कल्याण'में निकली वे सब कहानियाँ श्रीकृष्ण-जन्मस्थानसे पुस्तकाकार प्रकाशित हैं। उनके संकलन—

१.	साँस्कृतिक कहानियाँ १२ भाग	मूल्य प्रत्येक भाग ३.००
२.	दस महाव्रत	१.६०
३.	नवद्या भक्ति	४.००
४.	भक्ति भागीरथी (गीताके अध्याय १२ की कहानी व्याख्या)	४.००
५.	ज्ञान गंगा (गीताके अध्याय १५ की कहानी व्याख्या)	४.५०

भगवान वामन

भगवान वामन

वन्दन—

वन्दनीय काश्यप वामन।
अदिति-नन्दन।
लीलामय व्रजेन्द्र तनय—
अतिशय सदय।
स्वयं ठगे जाते तुम
ठगने जाकर भी
क्योंकि—
नहीं आता तुम्हें—
कठोर होना,
किसीपर भी।
लेने भी जाकर—
हो देते ही,
वह भी कुछ अल्प नहीं,
अपनेको ही।
भोले यशोदा-तनय,
तुम्हीं तो वामन!
अदिति-नन्दन! विप्रश्रेष्ठ!
वन्दन!

अपनी बात—

वामन भगवान और श्रीव्रजेन्द्रनन्दनमें मुझे बहुत सादृश्य लगता है। नन्हे-नन्हे कर-पदवाले भगवान वामन कहीं कौपीन, कमण्डलु, पलाशदण्ड, ताड़पत्रका छाता सम्हाले न होते तो ? लेकिन उनकी भी विवशता ही तो है कि प्रकट होते ही वामन बने तो पिता महर्षि कश्यपने सिर घुटवा दिया, बड़ी-सी चुटिया रख दी और उपनयन कराके भिक्षापात्र पकड़ा दिया। किसीने पूछा ही नहीं कि 'तुम्हें पीताम्बर प्रिय लगेगा या नहीं ?' कटिमें मूंजकी मोटी मेखला बाँधकर कौपीन लगादी और वस्त्रके नामपर कालामृग-चर्म दे दिया।

कन्हाईकी कौन-सी जाति ? गोप या यादवका जैसे घपला है, भगवान वामनकी जातिका घपला उससे बड़ा है। पुराने समयमें उच्च वर्णका पुरुष अपनेसे छोटे वर्णकी कन्यासे विवाह कर लेता था। वैसे शुक्राचार्यजीकी पुत्री देवयानी इसकी अपवाद हैं। उन्होंने ब्राह्मण कन्या होकर भी क्षत्रिय राजा ययातिको वरण किया; किन्तु तब भी उनकी सन्तान पिताके ही वर्णकी मानी गयी। लेकिन महर्षि कश्यप तो लोकपितामह हैं। उनकी सन्तानोंमें देवता, दैत्य, दानव ही नहीं; नाग, पशु, पक्षी आदि सब हैं। अतः उनकी सन्तानोंका वर्ग माताके अनुसार माना जाता है।

महर्षि कश्यपकी पत्नी देवी अदितिकी सन्तान देवता कही जाती है; किन्तु देवताओंमें सब अदिति-पुत्र ही नहीं हैं। वायु (मरुत) अग्नि, वसु आदि और भी देवता हैं। देवी अदितिके बारह पुत्र हुए। उनको आदित्य कहा जाता है। उनके नाम हैं—१. विवस्वान (इनके ही पुत्र वर्तमान मन्वन्तरके मनु श्राद्धदेव हैं। पिताके नामसे उनको वैवस्वत कहा जाता है।), २. अर्यमा (ये पितृलोकके भी अधिपति हैं।), ३. पूषा, ४. त्वष्टा, (वृत्रासुरके पिता), ५. सविता, ६. भग, ७. धाता (ये ब्रह्मा नहीं हैं।), ८. विधाता, ९. वरुण, १०. मित्र, ११. शक्र (इन्द्र) १२. उरुक्रम (वामन)।

इनमें-से अधिकांश भिन्न-भिन्न समयमें सूर्य-मण्डलके अधिपति रहते हैं। अतः आदित्य शब्द ही सूर्यका पर्यायवाची हो गया है। जब सब भाई क्षत्रिय हैं तो सबसे छोटे भाई वामनके ब्राह्मण होनेमें कोई कारण है ?

वामनजीका एक नाम उपेन्द्र है। इन्द्रको जब पुराणके विद्वान क्षत्रिय देवता मानते हैं तो उपेन्द्र ब्राह्मण माने जाने चाहिए। स्वर्गमें उपेन्द्र देवताओंके रक्षक हैं और सुतलमें दैत्यराज बलिके द्वारपाल होकर बलिके रक्षक हैं। इनमें कोई कर्म ऐसा है कि कर्मणा ही इन्हें ब्राह्मण कहा जाय ?

लेकिन अवतारोंमें वामनजीको ब्राह्मण माना जाता है। क्यों माना जाता है ? इसलिए कि उपनयनके पश्चात् बलिके यज्ञमें दान माँगने पहुँच गये। जातिका घपला करनेका कदाचित यही स्वभाव कृष्णावतारमें बना रहा।

सबसे बड़ी बात यह कि कन्हाई करुणा-वरुणालय तो है ही; किन्तु नटखट होनेके साथ बहुत भोला है। यह पूरी-की-पूरी विशेषता वामन भगवानमें है। उनका अद्भुत औदार्य बलि तकको विगलित कर देता है। स्वयं शुक्राचार्य स्तब्ध रह जाते हैं कि इतना अनुग्रह भी सम्भव होता है। वामन कन्हाई ही तो बना और वह है ही अनुग्रह-विग्रह।

नटखटपना भी सीमातीत। नटखटपनेमें कठोरताका ऐसा नाटक कि विश्वस्रष्टा ब्रह्माजीतक घबड़ाकर भागे आये। बलिको बाँधकर अपराधीके समान डाल रखा था सामने और अत्यन्त निष्ठुरके समान डाँट रहे थे— 'तूने मुझे तीन पैर पृथ्वी देनेका सङ्कल्प किया था। बड़ा गर्व था तुझे अपने ऐश्वर्यका। तेरा सब राज्य पृथ्वी और स्वर्गका मैंने तेरे सामने नाप लिया है। अब तीसरे पैरको रखनेका स्थान ला; अन्यथा नरक जा। तूने मुझे ठगा है। जब तेरे पास देनेको नहीं था तो तूने देनेको कहा ही क्यों ?'

त्रिलोकीका साम्राज्य जिसने बिना हिचक, बिना आनाकानी दे दिया, वह महादानी नरक जाय तो धर्मकी मर्यादा बची रहेगी ? धर्मकी ही मर्यादा नष्ट हो जाय तो सृष्टि रहेगी किस आधारपर ? धर्म ही तो धारक है सम्पूर्ण लोकोंका। अतः सृष्टिकर्ता घबड़ाये भागे आये थे। उन चतुर्मुखकी चतुराई इस नटखटके सामने चलती कहाँ है।

बलिकी मनस्विताकी चर्चा तो आगे करनी ही है। भगवान वामनकी जब उदार वाणी गूँजी, निष्ठुरताका नाट्य छोड़कर जब आप अपने रूपमें हँसते प्रकट हुए; ब्रह्माजी धीरेसे खिसक गये। इतना औदार्य उनके विधानमें तो सम्भव नहीं और बलि ही नहीं, शुक्राचार्यतक स्तब्ध रह गये। उन्हें स्वप्नमें भी कल्पना नहीं थी कि उनके प्रतिपक्षी इन्द्रकी सहायता करने आनेवाला उनका इतना अपना बन जायगा।

बलिको ठगनेका एक बड़ा भारी आडम्बरपूर्ण नाटक आपने खेला अवश्य; किन्तु ठगे स्वयं गये। बलिके द्वारा नहीं, अपनी ही उदारताके द्वारा। मायापतिको दूसरा कोई ठग सके, इतनी सामर्थ्य कोई कहाँसे पावेगा ? लेकिन मायापति इतना ममतामय, इतना उदार कि अपनी ही करुणाके करोंसे सदा ठगा जाता है।

बलि तो बन्धनमें रहे कुछ क्षण। लेकिन वामन तो अपनी उदारतासे, अपने वरदानोंसे सदाको बँध गये। इस स्वभावोदारकी उदारता अन्तरमें उतरे तो अन्तर उससे निरपेक्ष और कठोर बना रहेगा ? द्रवित नहीं होगा ?

वामन पुराणमें भगवान वामनके दो कल्पोंकी अवतार-कथा है। मुख्य कथा तो वही है जो श्रीमद्भागवतके अष्टम स्कन्धमें है। वामन पुराणमें भी वही कथा मुख्य है और लोकमें भी वही प्रचलित है। उसीको मुख्य रूपसे लेनेका मन भी है; किन्तु वामन पुराणमें ही कल्पान्तरकी कथा बतलाकर भगवान वामनके द्वारा अन्धकासुरके निग्रहकी कथा भी है। उसे भी संक्षिप्त ही सही, दे देनेका मन है।

मैं मन ही कर सकता हूँ। यही मैंने अबतक प्रत्येक प्रयासमें किया है। यह दूसरी बात है कि कन्हाई मेरा मन रख लेता है। वह मेरे इस कागज काले करनेके प्रयासको अलंकृत कर देता है। अब भी कर देगा, यह विश्वास न होता तो मैं यह प्रयत्न ही क्यों प्रारम्भ करता। मेरे पास अपना धरा क्या है।

'करन पुनीत हेतु निज बानी।'

मानसके महान गायकने अपने प्रयत्नका हेतु बतलाया था। विविध रूपोंमें, विविध प्रकारसे श्रीव्रजेन्द्रनन्दनके चिन्तनका प्रयास किया जाता

रहे—जैसे भी सम्भव हो, यह प्रयास किया जाय—यही जीवनकी, अन्तरकी सफलता है। इसीमें प्रयासकी सार्थकता है।.

पूर्ण निरूपण-समस्त वर्णन ? रामका नाम लीजिये। उसको परमपूर्ण कहते ही इसलिए हैं कि उसका ओर-छोर मिला नहीं करता। लेकिन छोटी लुटिया या शीशीमें जितना गङ्गाजल आ जाता है, वह हमको-आपको पवित्र करनेके लिए पर्याप्त है या नहीं ? गङ्गाजीमें कितना जल गङ्गावतरणसे अबतक बह गया और कितना प्रलयतक बह जायगा, यह गणित गणितके उद्भट विद्वानोंके लिए सरलतासे छोड़ दिया जा सकता है।

मुझे तो इस प्रयासमें ही अपना पुरस्कार प्राप्त हो जाता है। कन्हाईकी अद्भुत क्रीड़ाओंका चिन्तन चित्तमें चले, इससे महत्तर कोई पुरस्कार होगा ?

मुझे विश्वास है कि भगवच्चरित होनेके कारण सभी भावुक भक्तोंको भी यह प्रिय ही लगेगा और यदि इससे कृष्णके स्वजनोंको किञ्चित् भी प्रसन्नता प्राप्त होती है तो यह प्रयत्न सार्थक हो गया।

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान, मथुरा.
चैत्र शुक्ल तृतीया, २०३९ वि०
२८-३-१९८२ ई०

—सुदर्शनसिंह 'चक्र'

उपक्रम—

अवतारोंकी जब बात आती है तो यह तथ्य पहिले सम्मुख आता है कि संसारमें केवल हिन्दू धर्म और उसकी भी सनातन-धर्म शाखा अवतार मानती है। यद्यपि सिखोंको अवतार तत्त्व स्वीकार है; किन्तु वहाँ अवतारकी धारणा बहुत स्पष्ट नहीं है।

'अवतार' शब्दका अर्थ है उतरना। भगवदीय सत्ता जब किसी पार्थिव आकारमें उतरती है तो उसे अवतार कहते हैं। अवतार पृथ्वीपर ही हो, यह आवश्यक नहीं है। कुछ अवतार ब्रह्मलोकमें हुए—जैसे हंसावतार।

सम्पूर्ण सृष्टि ही परमात्मा है। वैदिक धर्मको—इसके किसी सम्प्रदायको यदि परमात्मासे भिन्न सत्ता स्वीकार भी है, तो भी वह उस परमात्माके भीतर ही, उससे अभिन्नप्राय। हिन्दू धर्म कोई जड़ सत्ता नहीं मानता। प्रत्येक जड़ दीखनेवाले तत्त्वमें चेतनसत्ता ओतप्रोत है। हिन्दूके मनमें परमात्माका प्रतिद्वन्द्वी कोई शैतान है ही नहीं।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' माननेके बाद अवतार क्या?

अवतार और जीवका भेद समझे बिना यह गुत्थी नहीं सुलझेगी। जीव कर्म-परतन्त्र होता है। प्रारब्धके अनुसार उसे शरीर तथा शरीरके भोग एवं आयु मिलती है। अवतारका कोई प्रारब्ध नहीं होता। जीवके शरीर पाञ्चभौतिक होते हैं; किन्तु अवतार-शरीर पार्थिव दीखते हुए भी पाञ्चभौतिक नहीं होता। वह तो ईश्वरके सङ्कल्पसे व्यक्त चिद्घन देह होता है।

'कल्कि अवतार या कलियुगका अन्त' पुस्तकमें स्पष्ट कर चुका हूँ कि सम्पूर्ण चेतन तत्त्वको समझानेके लिए शास्त्रकारोंने षोडश कलात्मक माना है। पार्थिव देह उसकी एकसे आठ कलाओंतक ही सहन कर सकता है। जैसे कौन-सी धातुका तार कितनी बिजलीकी शक्ति सह सकेगा, यह निश्चित है, वैसे ही कोई भी पार्थिव शरीर ८ कलासे अधिक चेतना सह नहीं पाता।

जब नौ या अधिक कलाको आविर्भूत होना होता है तो शरीर भी चिन्मय व्यक्त होता है। ऐसे शरीरमें अङ्ग—हाथ-पैर,नाक-कान आदि दीखते तो हैं और उससे सामान्य आकारोंके समान व्यवहार भी होता है; किन्तु वह सामान्य होता नहीं। उसमें दीखते ही हैं व्यवहार तथा नेत्र, कर, पादादि। उनमें-से प्रत्येक अङ्ग सम्पूर्णक्रिया सक्षम है। जैसे चीनीके बने हाथीकी सूंड़ और पैरमें मिठास एक समान होती है।

अवतार वैसे तो असंख्य हुए हैं। जब भी किसी महाभाग भक्तिप्रवण हृदयमें भगवद्दर्शनकी व्याकुलता बढ़ती है, उसे दर्शन देनेके लिए भगवान प्रकट होते ही हैं। यह साकार दर्शन अवतार ही है; किन्तु शास्त्र-पुराणोंमें चौबीस अवतारोंकी चर्चा है और उनमें भी दस अवतार मुख्य माने जाते हैं।

यहीं यह स्पष्ट करदें कि पाश्चात्य चाक्चिक्यसे भारतके अनेक विद्वान—बड़े विद्वान भी भ्रममें पड़े और उन्होंने अवतारोंमें भी विकासवादकी संगति लगाना प्रारम्भ किया।

१. मत्स्य, २. कूर्म, ३. वाराह, ४. नृसिंह, ५. वामन, ६. परशुराम, ७. श्रीराम, ८. श्रीकृष्ण, ९. बुद्ध और १०. कल्कि। इस क्रमसे अवतारोंके नाम पुराणोंमें भी आये हैं और महाकवि जयदेवने गीत-गोविन्दमें इसी क्रमसे अवतार-वन्दना की है। लेकिन यह क्रम तो काव्यकी सुविधाकी दृष्टिसे प्रचलित हुआ। इस क्रमसे अवतार हुए नहीं है।

इस क्रममें सबसे बड़ी असंगति है कूर्मका नाम दूसरा और वाराह तथा नृसिंहका तीसरा और चौथा होना; क्योंकि कूर्मावतार अमृत-मन्थनके समय मन्दराचलको धारण करनेके लिए हुआ। उस समय असुरोंके नायक दैत्यराज बलि रहे हैं। ये बलि प्रह्लादके पौत्र हैं। अतः प्रह्लादकी रक्षाके लिए होनेवाला नृसिंहावतार कूर्मावतारसे पहिले हुआ, यह बिना सन्देहके सिद्ध है। उससे भी पहिले वाराहावतार हुआ; क्योंकि वाराहने हिरण्याक्षको मारा, इसीलिए तो हिरण्याक्षके बड़े भाई हिरण्यकशिपुकी विष्णुसे शत्रुता हुई।

समाजमें कुछ बड़े विद्वानों द्वारा भी फैलाये गये विकासवादके भ्रमको अवतारोंमें घसीटनेके प्रयासको निर्मूल करनेके लिए यहाँ संक्षिप्त रूपसे दसों

अवतारोंका उल्लेख उनके अवतरण क्रमसे, श्रीमद्भागवतमें वर्णित उनके काल (मन्वन्तर)के उल्लेखके साथ किया जा रहा है।

१. **वाराहावतार**—इस समय तो ब्रह्माजीकी आयुके पचास वर्ष बीत चुके हैं; किन्तु उस समय ब्रह्माजी केवल दो दिनके थे। पहला दिन ब्रह्माजीका ब्राह्मकल्प कहा जाताहै। दूसरा दिन अर्थात् पाद्मकल्प प्रारम्भ हुआ था। ब्रह्माजी सृष्टि करनेमें लगे थे। वे मानसिक (संकल्प) सृष्टि करनेमें लगे। देवता, ऋषि, नाग आदि बहुत प्राणी बना चुके थे; किन्तु यह मानसिक सृष्टि बढ़ती नहीं थी। जितनी बना दी, उतनी ही रह जाती थी। अन्तमें ब्रह्माने अपने शरीरके ही दो भाग किये। दाहिना भाग पुरुष हुआ। उसीका नाम स्वयम्भू मनु है। बायाँ भाग स्त्री हुई। उसका नाम शतरूपा हुआ।

'तुम शतरूपाको पत्नी बनाओ। इसमें सन्तान उत्पन्न करो।' ब्रह्माजीने मनुको आज्ञा दी।

'आज्ञा पालन करूँगा।' मनुने स्वीकृति देकर कहा—'लेकिन मेरी सन्तान रहेगी कहाँ ? पृथ्वी तो जलमें❀ डूब गयी है। उसे निकालनेका यत्न कीजिये।'

ब्रह्माजीके द्वारा उत्पन्न मानसी सृष्टि तो ब्रह्मलोकमें रह सकती थी; किन्तु मनुको पत्नीसे सन्तान उत्पन्न करनी थी। भले मनु-शतरूपा स्वयं मानसी सृष्टिके थे; किन्तु अब उनकी सन्तानको कुछ स्थूलाधार अपेक्षित था।

ब्रह्माजी चिन्तामें पड़ गये। उसी समय उनकी नासिकासे वराहका प्राकट्य हुआ। वाराह भगवानने प्रलय समुद्रमें-से पृथ्वीका उद्धार किया।

वराहने दितिके पुत्र हिरण्याक्षको धरोद्धारमें बाधा देनेके कारण मारा।

❀पृथ्वी केवल इस मिट्टीके गोलेको नहीं कहते और न नदी-समुद्रमें भरा पानी मात्र जलतत्त्व है। जहाँ तक गन्ध तन्मात्रा है, सब पृथ्वी है और रस तन्मात्रा जहाँ तक है, सब जल है। उस समय रसकी इतनी प्रबलता हो गयी थी कि उसमें गन्धतत्त्व डूब गया था।

इस प्रथम अवतार चरितमें कुछ गुत्थियाँ हैं और कुछ ध्यान देने योग्य तथ्य हैं—

गुत्थियाँ दो हैं। एक—वाराहने पृथ्वीका उद्धार किया। उस समय तक कोई सृष्टि नहीं थी। तब हिरण्याक्ष कहाँसे आया? क्योंकि हिरण्याक्ष महर्षि कश्यपसे दितिमें उत्पन्न हुआ है। दिति दाक्षायणी अर्थात् दक्ष प्रजापतिकी कन्या हैं और उनके पिता दक्ष सतीके पिता नहीं हैं। वे तो प्राचेतस अर्थात् प्रचेताके पुत्र हैं। ये प्रचेता ध्रुवके वंशमें कई पीढ़ी बाद उत्पन्न हुए। ध्रुव स्वयं स्वयम्भू मनुके पौत्र हैं।

दो—हिरण्याक्ष पहिले वरुणसे युद्ध करने गया था। वरुणने ही उसे विष्णुसे मिलनेकी प्रेरणा दी। वरुण हैं अदितिके पुत्र। अदिति-दिति सगी बहिनें हैं।

इन दोनों शङ्काओंका उत्तर है कि हिरण्याक्ष और वरुण उस पाद्मकल्पके ही नहीं हैं। वे वर्तमान ब्रह्माजीके जन्मसे पूर्व जो कल्प था, उसमें उत्पन्न हुए थे।

विशेष तथ्य—१. वाराहवतार पृथ्वीपर नहीं, ब्रह्मलोकमें हुआ। पृथ्वीकी स्थापना अवश्य जलके ऊपर वाराहने की; किन्तु तबतक पृथ्वी निर्जन थी।

२. वाराहका दर्शन केवल ब्रह्माजी तथा उनके मानसपुत्र ऋषियोंने किया। इनके अतिरिक्त हिरण्याक्षने वाराहको देखा।

३. श्रीमद्भागवतमें जिस वाराह (यज्ञवाराह) का वर्णन है, वे नीलवाराह हैं। वर्तमान कल्पका नाम ही श्वेतवाराहकल्प है। इसका अर्थ है कि इस कल्पके प्रारम्भमें भी वाराहावतार हुआ।

४. भगवान यज्ञवाराहकी स्तुति केवल ब्रह्म (सत्य) लोकके निवासियोंने ही नहीं की; जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक तीनोंके निवासियोंने की। इसका अर्थ है कि पृथ्वीपर मनुष्य या प्राणियोंकी उत्पत्तिसे पूर्व ये तीनों ऊपरके लोक ऋषियोंके आवास थे।

५. भागवतके पञ्चम स्कन्धमें बतलाया गया है कि अर्यमाके साथ

भूदेवी उत्तरकुरुवर्षमें वाराहकी उपासना करती हैं। क्योंकि अर्यमा पितृलोकके अधिपति हैं, उत्तरकुरुवर्षका पितृलोकसे कुछ सम्बन्ध होना चाहिये अथवा वही पितृलोक होना चाहिये।

२. **नृसिंहावतार**—दैत्य हिरण्याक्षका वध भगवान् वाराहने किया था। उसका जुड़वाँ बड़ा भाई हिरण्यकशिपु अपने छोटे भाईके मारनेवाले विष्णुका शत्रु हो गया। इसीलिए वह अपने ही पुत्र प्रह्लादका शत्रु बन गया; क्योंकि प्रह्लाद परम विष्णु-भक्त थे। हिरण्यकशिपु अनेक प्रकारसे प्रह्लादको उत्पीड़ित करने लगा। अन्तमें जब वह स्वयं प्रह्लादको मारनेको उद्यत हुआ, उसीकी राजसभाके खम्भेसे भगवान नृसिंह रूपमें प्रकट हुए और उन्होंने हिरण्यकशिपुको मार दिया।

भगवान नृसिंहकी उपासना हरिवर्षमें प्रह्लादजी ही सनातन रूपसे करते हैं। इसका अर्थ है कि प्रह्लाद कल्पान्तजीवी हैं और उनका निवास हरिवर्षमें है, भले वे सुतलमें अपने पुत्र बलिके समीप भी कभी-कभी जाते हों।

प्रह्लादजीके सम्बन्धमें भी कई बातें जानने योग्य हैं। प्रह्लादजीके शरीरका रंग अञ्जनकी भाँति काला था (भागवत ८.२२.१३); जबकि उनके पिता हिरण्यकशिपुके शरीरका वर्ण तप्त-काञ्चन-गौर था (भागवत ७ ३.२३)।

हिरण्यकशिपुने सौ दिव्य वर्ष तप किया था (७.३.१९)*। जब हिरण्यकशिपु तप करने गया तो प्रह्लाद माताके गर्भमें थे। यह बात प्रह्लादने ही कही है (७.७.२ से १०)। हिरण्यकशिपुने इतने अधिक वर्षोंतक शासन किया कि उसके लिए कहा गया—

कालो महान् व्यतीताय (भागवत ७.४ २०)

इसलिए जब भगवान नृसिंहने प्रकट होकर हिरण्यकशिपुको मारा, प्रह्लादजी आयुकी दृष्टिसे छोटे नहीं थे। यद्यपि हिरण्यकशिपुने कहा है—

---

* मनुष्यका एक वर्ष देवताओंका एक दिन होता है। उनके ३६० दिनका एक वर्ष होता है। अतः मनुष्य वर्षोंसे हिरण्यकशिपुने ३६,००० वर्ष तप किया था।

'अहाद्यः पञ्चहायनः ।' (भागवत ७.५.३६)

लेकिन यह उसका वात्सल्य कहा जा सकता है अथवा यह भी मान सकते हैं कि प्रह्लादजी सचमुच उस समय पाँच वर्षके ही थे; किन्तु तब मानना होगा कि प्रह्लादजीकी माता कयाधूको हिरण्यकशिपुके तप करने जानेपर जब इन्द्र बलपूर्वक स्वर्ग ले जा रहे थे तथा देवर्षि नारद दया करके इन्द्रसे छुड़ाकर अपने आश्रममें ले आये; कयाधू गर्भवती थीं उस समय और दैत्य-दानव स्त्रियाँ क्योंकि इच्छानुसार प्रसव करनेमें समर्थ होती हैं, वे बालकको गर्भमें ही लिये रहीं। हिरण्यकशिपुके तप करके लौटनेपर भी वे देवर्षिके आश्रममें ही बनी रहीं।* वे तो पतिके पास उसकी मृत्युसे लगभग पाँच वर्ष पूर्व आयीं और तभी उन्होंने प्रह्लादको जन्म दिया। लेकिन ये पाँच वर्ष देवताओंके हैं; क्योंकि हिरण्यकशिपु स्वर्गमें रहता था, वहींके अनुसार वर्ष गिनना है।

नृसिंहावतार भी पाद्मकल्पके स्वायम्भुव मन्वन्तरमें हुआ और स्वर्गमें हुआ। पृथ्वीपर नहीं हुआ; क्योंकि हिरण्यकशिपुने स्वर्गपर अधिकार कर रखा था और वहीं रहने लगा था (भागवत ७.४.८)। वहीं नृसिंहने उसका वध किया।

३. कूर्म (कच्छप) अवतार—यह अवतार हुआ पाद्मकल्पके चाक्षुष मन्वन्तरमें (८.६.७ से १०)। यह अवतार ग्रहण किया भगवान अजितने। चाक्षुष मन्वन्तरमें श्रीहरि वैराजकी सम्भूति नामक पत्नीसे अवतरित हुए थे। उनका नाम अजित था।

हिरण्मय वर्षमें अर्यमा इनकी उपासना करते हैं। अर्यमा पितरोंके अधिपति हैं। पितृलोकके संरक्षक हैं। अतः यह प्रश्न उठता है कि हिरण्मय वर्षका पितृलोकसे कोई सम्बन्ध है या नहीं ?

महर्षि दुर्वासा देवराज इन्द्रके प्रमादसे असन्तुष्ट हुए। उन्होंने शाप दे दिया देवश्री नष्ट होनेका। फलतः देवता श्रीहीन होकर दुर्बल हो गये।

---

* उस समयतक देवर्षि नारद परिव्राजक नहीं बने थे। वे आश्रम बनाकर रहते थे। उन्हें शाप तो बहुत पीछे प्राचेतस दक्षने दिया और तबसे वे नित्य भ्रमणशील रहने लगे।

शुक्राचार्यकी सम्मतिसे दैत्योंने प्रह्लादजीके पौत्र बलिके नेतृत्वमें आक्रमण करके स्वर्गपर अधिकार कर लिया। देवता भागनेपर विवश हुए।

असुरोंसे पराजित देवता ब्रह्माजीकी शरणमें गये। देवताओंका प्रतिवेदन सुनकर ब्रह्माजी सुरोंके साथ भगवान अजितके समीप गये और वहाँ उनकी स्तुति की।

इस समयतक शक्ति-सन्तुलन असुरोंके पक्षमें था। युद्ध होनेपर देवता-असुर दोनोंमें ही कुछ मारे जाते थे; किन्तु जो असुर मरते थे, उन्हें तो शुक्राचार्य अपनी संजीवनी विद्यासे जीवित कर देते थे; जब कि जो देवता मरते थे, उनकी संख्या घट जाती थी। भगवान अजित एक बार असुरोंको पराजित भी कर देते तो भी यह समस्या बनी रहती। इस समस्याको सुलझाना था। सुर अमर हो जायँ तो शक्ति-सन्तुलन हो जाय। इसलिए भगवानने सम्मति दी कि असुरोंसे सन्धि कर लो और देव-दैत्य सब मिलकर क्षीराब्धिका मन्थन करें।

दैत्य भी इस प्रस्तावसे सहमत हो गये। अमृत पीनेको मिलनेपर उनकी शुक्राचार्यकी कृपापर निर्भरता दूर होती थी। मन्दराचलको क्षीराब्धिमें डालकर मन्थन करना था। सब औषधियाँ उसमें डालनी थीं। वासुकी नागको मन्थन-रज्जु बनाना था।

दूसरी सब तैयारी तो किसी प्रकार हो भी गयी; किन्तु मन्दराचल जब क्षीरसागरमें डाला गया तो डूब गया। उसे बीचमें रोके रखना सुर-असुर समूहकी शक्तिसे बाहर था।

भगवान अजितने कच्छप-रूप धारण किया। कच्छप जलके नीचे कीचड़में भी घुस सकता है। इस रूपसे वे डूबे मन्दराचलके नीचे गये और उसे पीठपर लेकर इतने ऊपर आ गये कि पर्वतका कुछ भाग डूबा रहे और बड़ा भाग ऊपर निकला रहे। तब क्षीराब्धि-मन्थन सम्भव हुआ।

इस कच्छपका शरीर एक लाख योजन विस्तीर्ण बतलाया गया है (८.७.९)। पीठपर पूरे वेगसे मन्दाचल घूमता रहा; किन्तु भगवान कच्छपको ऐसा लगा कि उनका शरीर खुजलाया जा रहा है (८.७.१०)।

भगवान कच्छपके इस रूपका किसीने दर्शन नहीं किया। पता नहीं हिरण्मय वर्णमें अर्यमाको भी उनके दर्शन होते हैं या नहीं। कच्छपावतार हुआ क्षीरसागरमें। पृथ्वीपर नहीं हुआ। दूध पारदर्शी नहीं होता और भगवान कच्छप क्षीरसागरके ऊपर आये नहीं। अमृत प्रकट होनेपर वे क्षीरोदधिमें हैं या नहीं, जाननेका उपाय नहीं था। मन्दराचलकी स्थितिके कारण ही इस अवतारका अनुमान देव-दैत्योंको हुआ।

४. **वामनावतार**—यह अवतार भी वर्तमान कल्पके **चाक्षुष मन्वन्तरमें** हुआ। ऐसा माननेका कारण यह है कि वर्तमान श्वेतवाराह कल्पके इस वर्तमान वैवस्वत मन्वन्तरके बाद सावर्णि मन्वन्तर आनेवाला है और उसका इन्द्रपद बलिको मिलेगा। अभी दैत्यराज बलि सुतलमें हैं।

यह अवतार भी स्वर्गमें ही हुआ। अदिति देवमाता हैं और उनका निवास स्वर्गमें ही है। भले इन्द्रके भवनसे कहीं दूर हो। श्रीमद्भागवतके अनुसार श्रीकृष्णचन्द्र सत्यभामाके साथ भौमासुरके बधके पश्चात् देवमाता अदितिके कुण्डल देने उनके यहाँ स्वर्ग गये थे।

भले यह अवतार स्वर्गमें हुआ हो; किन्तु यही पहिला अवतार हुआ जो पृथ्वीपर आया। इस अवतारका चरित तो आगे इस पुस्तकमें विस्तारसे आने ही वाला है।

५. **मत्स्यावतार**—वर्तमान श्वेतवाराह कल्पसे पूर्वके कल्पके* चाक्षुसमन्वन्तरकी अन्तिम चतुर्युगीका अन्तिम कलियुग भी बीत चुका था। उसके केवल आठ दिन बाकी थे, जब दक्षिण भारतकी कृतमाला नदीमें बहुत नन्हीं; किन्तु मछलीके रूपमें यह अवतार हुआ।

अवतारकथामाद्यां मायामत्स्यविडम्बनम्। (भागवत, ८.२४.१)

इस श्लोकके कारण अनेक लोग भ्रममें पड़ गये कि मत्स्यका अवतार प्रथमावतार है। लेकिन श्रीमद्भागवतमें इस अष्टम स्कन्धके चौबीसवें अध्यायमें यही वर्णन है कि इस श्वेतवाराह कल्पसे पहिले जो कल्प बीता है

---

* भागवत १.३.१५

उस कल्पके अन्तमें ब्रह्माजीका दिनान्त होनेपर नैमित्तिक ब्राह्म प्रलय हुई थी, उस समयकी यह घटना है (भागवत ८.२४.७ से १२)। क्योंकि वर्तमान श्वेतवाराह कल्पकी सन्धिमें यह अवतार हुआ, अतः इस कल्पका आदि अवतार इसे कहा गया है। पृथ्वीपर होनेवाला यह पहिला अवतार है।

वैसे इससे पूर्वके वाराह और नृसिंह अवतार तो पाद्म कल्पमें हुए। कच्छपावतार क्षीरोदधिमें हुआ और वामनावतार भी स्वर्गमें हुआ।

भगवान मत्स्य उस समय राजा सत्यव्रतकी अञ्जलिमें आ गये, जब राजा स्नान करके कृतमाला नदीमें जल तर्पण कर रहे थे। उन दिनों राजा सत्यव्रत केवल जल पीकर भगवान नारायणकी प्रसन्नताके लिए तप कर रहे थे (८.२४.१०)।

राजा सत्यव्रत अञ्जलिमें आयी नन्ही मछलीके ही अनुरोधपर उसे ले आये; किन्तु वह आश्चर्यजनक रूपसे बढ़ने लगी और उसे दूसरे ही दिन समुद्रमें छोड़ना पड़ा।

इस मत्स्यरूप भगवानका दर्शन राजा सत्यव्रत और उनके अनेक अनुचरोंने किया होगा। सात दिन पश्चात् ही प्रलय-समुद्र उमड़ पड़ा। सत्यव्रतको मत्स्य भगवानने पहिलेसे समझा दिया था। अचानक प्रलय-समुद्रके उमड़ते ही एक विशाल नौका आ गयी। उसमें सब (वनस्पति तथा प्राणियों) के बीज रखकर अकेले राजा सत्यव्रत बैठे तो सप्तर्षि भी आ गये उसमें।

मत्स्य स्वर्णिम थे और उनके एक सींग था। उसी सींगमें वह नौका वासुकी नागको रस्सी बनाकर बाँधी गयी। पूरी ब्राह्मी निशा (प्रलयकाल) उस नौका सहित मत्स्य भगवान प्रलय समुद्रमें विचरण करते रहे।

यही राजा सत्यव्रत इस कल्पमें वैवस्वत (श्राद्धदेव) मनु हुए हैं (भागवत ८.२४.५८)।

मत्स्यावतारके सम्बन्धमें भी कुछ बातें ध्यान देने योग्य हैं। चार युगोंका एक महायुग (चतुर्युगी) होता है। इसका कालमान ४३,२०,०००

सौर वर्ष है। एक हजार महायुगका एक कल्प या ब्रह्माजीका एक दिन और उतनी ही बड़ी रात्रि होती है। इसका अर्थ हुआ कि प्रलय-समुद्रमें राजा सत्यव्रतको सौरमानसे लगभग ४,३२,००,००,००० वर्ष रहना पड़ा। भगवानके सान्निध्य एवं कृपासे उन्हें भूख, प्यास आदि कुछ नहीं लगी।

निश्चय ही प्रलयके पश्चात् राजा सत्यव्रतका शरीर छूट गया होगा; क्योंकि वर्तमान कल्पमें वे श्राद्धदेव नामक मनु हुए हैं। उनका जन्म भगवान सूर्यकी पत्नी संज्ञासे हुआ है।

प्रथम स्कन्धकी अवतार-गणनामें मत्स्यावतार 'चाक्षुषोदधिसम्प्लवे' कहा गया और अष्टम स्कन्धमें 'ब्राह्मो नैमित्तिकोलयः'। चाक्षुष मन्वन्तर इस कल्पमें छठाँ मन्वन्तर है। उस समय तो ब्रह्माजीके दिनका दोपहर भी पूरा नहीं होता। उस समय ब्राह्म प्रलय कैसे होगी ? ब्रह्माके शयनका उस समय प्रश्न ही नहीं। अतः या तो दो मत्स्यावतारकी चर्चा मानें या मानना होगा कि उस बीते कल्पमें चाक्षुष मन्वन्तर ही चौदहवाँ मन्वन्तर था।

६. **परशुराम अवतार**—इससे पहिलेके अवतारोंमें-से वाराह, नृसिंह, कच्छप और मत्स्य प्रकट हुए थे। उन्होंने कोई माता-पिता नहीं बनाया था। प्रकट तो भगवान् वामन भी हुए थे; किन्तु उन्होंने महर्षि कश्यपको पिता तथा अदितिको माता बना लिया था। लेकिन कश्यप-अदिति सामान्य मानव नहीं थे। उनके शरीर मनुष्योंके समान पार्थिव नहीं थे। देवताओंके समान वे (अग्नि प्रधान) ज्योतिर्देह तो होंगे ही। भगवान परशुराम ठीक मानव माता-पितासे, मानव शिशुके समान उत्पन्न हुए। पृथ्वीपर उत्पन्न हुए। भारतवर्षमें ही पृथ्वीपर होनेवाले सब अवतार हुए—यह आपको स्मरण होगा।

वर्तमान श्वेतवाराह कल्पकी इसी चतुर्युगीके बीते त्रेतामें परशुरामजी हुए। महर्षि ऋचीकका विवाह राजा गाधिकी पुत्री सत्यवतीसे हुआ था। इस सत्यवतीके पुत्र हुए ऋषि जमदग्नि। इनकी रेणुका नामक पत्नीसे परशुराम हुए।

महर्षि जमदग्निको इस मन्वन्तरमें सप्तर्षि वर्गमें स्थान प्राप्त हुआ।

परशुरामजी अमर हैं। वे अगले मन्वन्तरमें सप्तर्षियोंमें रहेंगे। इस कलियुगके अन्तमें कल्कि अवतार होनेपर वे कल्किको अस्त्र-शिक्षा देंगे।※

परशुरामजी उत्पन्न तो हुए थे उत्तर भारतमें; किन्तु उन्होंने दक्षिण भारतमें महेन्द्राचलपर अपना आश्रम बनाया। महाभारतके वर्णनके अनुसार वे अदृश्य रहते हैं। अदृश्य रहनेकी शक्ति सभी अमर पुरुषोंको प्राप्त होती है। यह अमरत्वकी एक सहज उपलब्धि है। किसीको भी दर्शन देना उनकी ही इच्छापर निर्भर होता है।

७. **श्रीराम**—यह अवतार पिछले त्रेतामें अयोध्यामें हुआ। इसे हुए महाभारतके अनुसार लगभग नौ लाख वर्ष व्यतीत हो चुके। श्रीरामका सम्पूर्ण चरित (चार खण्डोंमें) पृथक छपा है।

८. **श्रीकृष्ण**—श्रीराम और श्रीकृष्ण युगावतार नहीं हैं। ये पूर्णावतार कल्पमें एक ही बार होते हैं। एक कल्पमें प्रत्येक युगको एक सहस्र बार आना है; किन्तु उनमें-से किस चतुर्युगीके त्रेतामें रामावतार और किस चतुर्युगीके द्वापरमें कृष्णावतार होगा, यह अन्वेषणका विषय है। वर्तमान कल्पकी इस अट्ठाइसवीं चतुर्युगीके द्वापरान्तमें श्रीकृष्णावतार हुआ है। श्रीकृष्णको हुए अभी ५२०८ वर्ष (ईस्वी १९८३ तक) बीते हैं।

श्रीकृष्णावतार किसका—भूमापुरुष नारायणके अंश (उनके केश)का या पूर्णपुरुष गोलोक विहारीका ? श्रीकृष्ण नन्दनन्दन नित्य द्विभुज अथवा वासुदेव कभी द्विभुज, कभी चतुर्भुज ? इस विषयपर पृथक विशाल (चार खण्डोंके) चरितोंमें प्रकाश पड़ा है।

९. **बुद्धावतार**—यह अवतार कब हुआ, कहाँ हुआ, इस विषयमें मतभेद हैं। महाकवि जयदेवके गीतगोविन्दमें दशावतारकी स्तुतिमें शाक्य मुनि गौतमबुद्धको ही बुद्धावतार मानकर वन्दना की गयी है।

तथागत गौतमबुद्धको बुद्धावतार कहना मुझे उनका अपमान लगता

※ पूरा विवरण 'कल्कि अवतार या कलियुगका अन्त' पुस्तकमें गया है।

है। पुराणोंके अनुसार असुरोंको मोहमें (भ्रममें) डालनेके लिए यह अवतार हुआ। 'संमोहाय सुरद्विषाम्।' इसलिये यह अवतार पृथ्वीपर नहीं हुआ। यह तो दानवेन्द्र मयके बनाये अन्तरिक्षगामी त्रिपुरोंमें-से किसीमें हुआ और इस अवतारमें असुरोंके मनमें असंगत, अव्यावहारिक अहिंसाका आग्रह दृढ़ किया गया।

स्मरण रखने योग्य है कि जैनमत अहिंसा प्रधान है; किन्तु बौद्धमत जीवदया प्रधान है। गौतम बुद्धकी अहिंसामें जीवदयाको प्रमुखता प्राप्त है।

१०. **कल्कि अवतार**—यह अवतार कलियुगके अन्तमें सम्भल ग्राममें श्रीविष्णुयशके यहाँ होगा। इसके होनेमें अभी ४,२६,००० से भी अधिक वर्ष बाकी हैं। 'कल्कि अवतार या कलियुगका अन्त' पुस्तकमेंइस अवतार-की पुराण-सम्मत झाँकी वर्णित है।

वाराहावतार हुआ था स्थानकी प्रतिष्ठाके लिए। पृथ्वीका उद्धार—आधार-भूमि मनुकी सन्तानोंको देनेके लिए। भगवदाश्रित सदा, सब समय, विपरीत प्रचण्डतम परिस्थितिमें भी सुरक्षित है, यह सिद्ध करनेके लिए भगवान नृसिंह अवतरित हुए।

देव-दैत्य सबका उद्योग असफल रहेगा यदि उसे भगवान ही आधार न दें, यह कच्छपने समझा दिया।

धर्मकी अचिन्त्य शक्ति है, स्वयं धर्मके स्वामी अच्युत भी उसकी अवहेलना नहीं कर सकते। इस तथ्यको भगवान वामनने अवतरित होकर स्पष्ट किया।

'धर्मो रक्षति रक्षितः' जो धर्मकी रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है। धर्मपर स्थितको कभी गिराया भी गया तो वह अधिक उत्कृष्ट स्थान ही प्राप्त करेगा, यह सन्देश भगवान वामनके अवतारका है।

'मैं धर्मात्मा हूँ' यह भ्रम मुझे कभी नहीं हुआ। मेरे कन्हाईने भी कभी अपनेको धर्मात्मा घोषित नहीं किया। यह दूसरी बात है कि जिन्हें श्रीकृष्ण स्वयं 'धर्मका सूर्य' कहते हैं, वे भीष्मपितामह युधिष्ठिरसे कहने लगे—'धर्मका वास्तविक तत्त्व श्रीकृष्णके अतिरिक्त कोई नहीं जानता।'

'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्' अतः उसे जो जानते हों, जो उसको जीवनमें ला चुके हों, उन धर्मात्मा पुरुषोंके चरणोंमें मेरी प्रणति। उनके आशीर्वादकी ही कामना और वह भी 'धर्म लाभ हो' की नहीं, कामना 'कृष्णे प्रीतिरस्तु' आशीर्वादकी।

धर्मात्मा भले न होऊँ, धर्म और धर्माचरण करनेवाले प्रिय लगते हैं। अतः धर्मका चिन्तन करनेका तो आप मुझे अनधिकारी नहीं ही मानेंगे और यह कोरे धर्मका—शुष्क धर्मका चिन्तन भी नहीं है। यह है धर्मके परम प्रभुका चिन्तन। अतः अब यही चिन्तन करना उचित है।

बलि विजय–

अनेक भ्रम हैं सामान्यजनोंमें असुरोंको लेकर और सुरोंको लेकर भी। अतः पहिले इन दोनों वर्गोंको समझ लें। सुर (देवता) एक वर्ग है। इसमें सुर, गन्धर्व, अप्सराएँ, किन्नर, किम्पुरुष, पितर और यक्ष भी सम्मिलित हैं। कहीं-कहीं पितरोंको प्रेतवर्गमें गिना गया है और यक्षोंको असुर वर्गमें भी; क्योंकि देवता और प्रेत वर्गकी सन्धिपर पितर हैं और देवता तथा असुर वर्गकी सन्धिपर यक्ष हैं।

दैत्य, दानव, राक्षस—ये असुर वर्ग हैं। यहीं यह भी कह देना ठीक होगा कि नाग, वानर, ऋक्ष आदि कुछ उपदेव वर्ग भी है।

सुरोंमें सब सुन्दर और सुकुमार ही नहीं हैं। जैसे यमराज कठोर कायावाले हैं। कुबेरका कु+बेर (शरीर) नाम ही इसलिए है कि वे कुबड़े, काने, कुरूप हैं। इस प्रकार अनेक देवता भयङ्कर शरीरके हैं।

असुरोंमें भी सब भयङ्कर और कुरूप ही नहीं है। उनमें भी अनेक गौरवर्ण और सुन्दर देह हैं। अतः शारीरिक गठनको लेकर सुर-असुरकी धारणा भ्रमपूर्ण ही है। असुरोंमें सबके सिरपर सींग नहीं होता और न सबके दाँत बाहर निकले, भयानक होते।

सुर और असुर दोनों महर्षि कश्यपकी सन्तान हैं। केवल माताएँ भिन्न-भिन्न हैं। असुर ज्येष्ठ हैं सुरोंसे। सुर-असुर दोनों ही पार्थिव शरीरधारी नहीं हैं। दोनोंका शरीर तेजस् तत्त्व प्रधान है।

अवश्य ही असुरोंमें सुरोंकी अपेक्षा शारीरिक शक्ति प्रायः अधिक होती है और सङ्कल्प बल भी अधिक होता है। सुर-असुर दोनों विलासी हैं। दोनों भोगपरायण, इन्द्रियाराम हैं। काम-क्रोधादि प्रबल हैं।

असुर भी सुरोंके समान यज्ञ-हवनादिके भागसे ही पुष्ट होते हैं। अविधिपूर्वक जो यज्ञादि होते हैं, उनकी प्राप्ति असुरोंको ही होती है।

सुरोंमें सत्त्वगुण अधिक होता है और असुरोंमें रजोगुण, इसीलिए सुरोंसे असुर अधिक क्रियाशील तथा संघर्षशील होते हैं। वैसे दोनोंमें मानापमानकी प्रतिक्रिया तीव्र होती है। सुर-असुर दोनोंके आराध्य—आश्रय ब्रह्माजी हैं; किन्तु सुर उनतक पहुँच सकते हैं और असुरोंको तप करके उन्हें बुलाना पड़ता है; क्योंकि ब्रह्मलोकके मध्यमें महर्लोक, जनलोक, तपोलोक पड़ते हैं। इन लोकोंके तापस ऋषि-मुनियोंकी उत्कट अन्तर्मुखता और सत्त्वात्मकता असुरोंको असह्य है। केवल विरोचन जैसे अपवाद रूप धर्मात्मा असुर यदाकदा ब्रह्मलोक पहुँचे हैं।

असुरोंमें भी अनेक धर्मात्मा हैं। ब्राह्मणोंका और निर्बलोंका सम्मान तथा पालन करते हैं। असुरोंमें अहङ्कार अधिक होता है; किन्तु सुर भी अहङ्कारी होते हैं। सुर-असुरोंमें कोई कदाचित् ही मोक्षपुरुषार्थी निकलता है। दोनोंमें ही ऐसे महानुभाव हुए हैं।

मुख्य भेद है अधिकारका। असुरोंको मनुष्य लोकपर कोई अधिकार नहीं प्राप्त है। सुरोंको अधिकार प्राप्त है। हमारी आपकीइन्द्रियोंके अधिष्ठाता विभिन्न देवता हैं। गृहदेवता, ग्रामदेवता, पदार्थों और क्रियाओंके अधिदेवता; नदी, पर्वत, समुद्रके देवता। वरुण, कुवेर, अग्नि, इन्द्र, यम आदि सबके कार्य एवं शासन क्षेत्र हैं मनुष्यलोकमें; किन्तु किसी असुरको यहाँ कोई भी अधिकार नहीं प्राप्त है।

यही संघर्षका मुख्य कारण है। सृष्टिके सञ्चालनका मुख्य केन्द्र है मनुष्य। मनुष्य योनिके कर्मोंसे ही सब लोक, सब योनियाँ—देव और असुर दोनों होने हैं और उसपर असुरोंका कोई नियन्त्रण ही नहीं, यही असुरोंको असन्तुष्ट करता है। इसीलिए मनुष्य लोकका सञ्चालन पानेके लिए वे बार-बार सुरोंसे संघर्ष करते हैं।

मनुष्य लोकका सञ्चालन-नियन्त्रण आधिदैवत रूपमें होता है स्वर्गसे, अतः असुर स्वर्गपर अधिकार करनेको कमर कसे ही रहते हैं। अन्यथा उनके लोकोंमें (सुतल, अतल, वितल आदिमें) स्वर्गसे अधिक ही ऐन्द्रियक भोग एवं स्वच्छन्दता उपलब्ध है।

इतनी जानकारीके पश्चात् अब बलिके संघर्ष एवं विजयकी बात करें।

श्रीहरि सम हैं; किन्तु सृष्टिके परम सञ्चालक भी हैं। अतः सृष्टिके स्थितिकालमें सुरोंका समर्थन करके उन्हें सशक्त रखते हैं और प्रलयकाल आनेपर असुरोंकी शक्ति बढ़ा देते हैं। असुरोंकी प्रवृत्ति सुरोंसे इस अर्थमें भिन्न है कि उन्हें तोड़-फोड़में, हत्या-उत्पीड़नमें आनन्द आता है। वे केवल ऐन्द्रियक भोगोंसे सन्तुष्ट नहीं रहते।

क्षीरोदधिका मन्थन सुरों और असुरोंने मिलकर किया था। समुद्र-मन्थन करनेमें सुर-असुर दोनों श्रान्त हो गये थे। अन्तमें श्रीनारायणने स्वयं मन्थन किया था और समुद्रसे जो कुछ निकला, वह उनके ही मन्थनसे निकला। देवता-दैत्य तो हलाहल विष निकलनेसे भी पहले थक चुके थे।

क्षीरोदधि-मन्थनका सुझाव भी श्रीहरिने दिया। मन्दराचल पर्वतको समुद्रतक वे गरुडपर उठाकर ले आये। उस महापर्वतको कच्छप बनकर उन्होंने पीठपर धारण किया। ऊपरसे पर्वतको वे पकड़े रहे और उनके ही मन्थनसे चौदह रत्न निकले। ऐसी दशामें उन सबपर उनका पूर्ण स्वत्व होता है या नहीं ?

देवता और दैत्य दोनों वर्ग थककर बैठ चुके थे और जो कुछ मन्थनसे निकलता था उसे लेनेको झपट पड़ना चाहते थे; किन्तु पहिले निकला हलाहल विष। दोनों वर्गका मुख सूख गया। उसे तो भगवान शङ्कर ही पी सकते थे।

दूसरी वस्तु निकली कामधेनु। श्रीनारायणने कह दिया—'प्रथम उपयोगी उत्पादन ब्राह्मणोंका भाग होता है।'

देवता-दैत्य दोनों वर्गोंने समर्थन किया। इसके पश्चात् क्रम चल पड़ा। उच्चैःश्रवा अश्व निकला तो उसे दैत्यराज बलिने लिया, ऐसी दशामें ऐरावत देवताओंको मिले, इसपर वे आपत्ति कर नहीं सकते थे।

'यह मेरा भाग' कौस्तुभ मणिको श्रीनारायणने अपना कण्ठाभरण बनाया तो कोई बोल कैसे सकता था। जो अकेला श्रम कर रहा था, उसे रुष्ट करके कोई वर्ग कुछ पानेकी आशा ही कैसे कर सकता था।

'यह स्वर्गमें रहेगा।' कल्पवृक्षके सम्बन्धमें श्रीनारायणने निर्णय

दे दिया और उन्होंने ही अप्सराओंके सम्बन्धमें भी कह दिया—'ये स्वर्गवासियोंका मनोरंजन करेंगी।'

सुर समझते थे कि स्वर्ग अन्ततः उनको ही मिलनेवाला है और असुर सन्तुष्ट थे; क्योंकि स्वर्गपर उनका उस समय आधिपत्य था। कोई विवाद उठा ही नहीं। अवश्य जब वारुणी उत्पन्न हुई, असुरोंने कहा—'यह हमारी।'

'अवश्य आप सबकी।' नारायणने समर्थन कर दिया तो सुर मौन रह गये।

भगवती श्री निकलीं। उनका सौन्दर्य, तेज ऐसा कि बिना कहे सब समझ गये—'इनके साथ किसी प्रकारकी छेड़छाड़ या मनमानी नहीं चल सकती। ये तो स्वयं जिसे स्वीकार करें, उसको प्राप्त होंगी।'

उन सिन्धुसुताने अपनी ओरसे उदासीन, समुद्र-मन्थनमें लगे श्रीहरिके गलेमें वरमाला डाल दी।

इस प्रकार उदधिसे उत्पन्न रत्नोंका बटवारा होता गया। वस्तुतः असुरोंको केवल उच्चैःश्रवा अश्व और वारुणी मिली। अन्तमें अमृत-कलश लिये धन्वन्तरि प्रगट हुए तो उनके हाथसे असुरोंने अमृत-कलश झपट लिया।

असुरोंके हाथ अमृत-कलश झपटना ही आया, अमृत उन्हें मिला नहीं। श्रीहरिने मोहिनी रूप धारण करके उन्हें ऐसा मोहित किया कि उन्होंने स्वयं अमृत-कलश मोहिनीको दे दिया कि वही अमृत वितरित करें। मोहिनीने अमृत सुरोंको पिलाया और जब सब पी चुके, अमृत-कलश उन्हें सौंपकर स्वयं अपना पुरुष वेश प्रकट कर दिया।

असुर चौंके, उत्तेजित हुए, क्रुद्ध हुए और सुरोंपर टूट पड़े; किन्तु अब अवसर उनके हाथसे निकल चुका था। गरुड़ारूढ़ श्रीहरि प्रत्यक्ष सुरोंके पक्षमें थे। असुरोंको पराजय तो प्राप्त होनी ही थी। अनेक मारे गये और अनेक आहत हुए।

क्षीरोदधिके तटपर हुए इस देवासुर-संग्राममें दैत्यराज बलि इन्द्रके

हाथों मारे गये। देवता विजयी हो गये। उन्होंने स्वर्गपर अधिकार प्राप्त कर लिया। श्रीहरि तो अत्यावश्यक सहायता युद्धमें करके अदृश्य हो गये थे।

देवासुर-संग्रामकी अन्तिम घड़ियोंमें वहाँ देवर्षि नारद पहुँच गये थे। उन्हें ब्रह्माजीने यह सन्देश देकर भेजा था कि देवता पराजित दैत्योंका पीछा करके वध न करें। इस आदेशका देवताओंने पालन किया।

असुरोंमें जो बच गये थे, वे मृत दैत्यराज बलिका शरीर उठाकर अस्ताचल (पश्चिम दिशाके किसी दुर्गम अन्धकारपूर्ण पर्वत) पर ले गये। आचार्य शुक्रको भी वहाँ ले आये। शुक्राचार्यने अपनी सञ्जीवनी विद्याके प्रभावसे बलिको जीवित कर दिया।

शुक्राचार्यने संग्राममें मारे गये असुरोंमें-से जिनके भी मस्तक और धड़ मिल सकते थे, सबके शरीरोंको—खण्डित शरीरोंको भी वहीं मँगा लिया और खण्डित अङ्गोंको जोड़कर उनको जीवित कर दिया।

अवश्य असुरोंमें कुछ जीवित नहीं किये जा सके; क्योंकि उनके सिर या धड़ नष्ट हो गये थे। लेकिन ऐसोंकी संख्या बहुत बड़ी नहीं होगी। सुर तो अमृत पीकर अमर हो गये थे। उनमें कोई मारा ही नहीं गया था; किन्तु वे अब स्वर्ग चले गये थे। असुरोंकी स्थिति एवं क्रियाओंका पता रखना उन्हें अनावश्यक लगा।

बलि जीवित हुए। उनके पक्षके आहत और मारे गये दैत्य स्वस्थ हुए, जीवित हुए। लेकिन अब असुर उस अन्धकारपूर्ण पर्वतपर रहनेको विवश थे।

बलि अत्यन्त विवेकशील और मनस्वी थे। उन्हें अपनी पराजय और स्वर्ग छिन जानेका कोई खेद नहीं था। उनका मनोबल टूटा नहीं था। अतः असुरोंके अधोलोकोंमें जानेका विचार भी उनके मनमें नहीं आया।

'जीवनमें जय-पराजय तो आती-जाती रहती है।' बलिने अपने साथी असुरोंको समझाया—'पराजय उसकी होती है, जिसका मनोबल भग्न हो जाय। हम सब इस समय कालके अनुकूल होनेकी प्रतीक्षा करेंगे और सुरोंको पराजित करनेका कोई उपयुक्त उपाय ढूँढ़ेंगे।'

असुरोंका यह सबसे बड़ा सद्‌गुण है कि उनमें कठोर अनुशासन बना रहता है और वे अपने अग्रणीके आदेशपर मरने तथा कोई भी कष्ट दीर्घकालतक भोग लेनेको प्रस्तुत रहते हैं। अतः असुरोंमें किसीने बलिका प्रतिवाद नहीं किया। सब बलि जैसा कहें, करनेको प्रस्तुत हो गये।

'अदितिके पुत्र अमृत पी चुके हैं। उनकी शक्ति बढ़ गयी है और इस समय हम लोग साधनहीन हैं। हमारे अस्त्र-शस्त्र भी बहुत कुछ नष्ट हो गये हैं।' बलिने स्पष्ट आकलन किया परिस्थितिका—'मुझे नहीं लगता है कि हम सब मिलकर इस समय अदितिके पुत्रोंको पराजित करनेवाला कोई पराक्रम कर सकते हैं।'

'एक ही उपाय है—तप। तपस्यासे असीम शक्ति प्राप्त होती है।' बलिने ही कहा—'हमारे पूर्वजोंने और हममें-से अनेकोंने अनेक बार कठोर तप करके दुर्लभ शक्तियाँ प्राप्त की हैं; किन्तु प्रत्येक बार श्रीनारायणने सुरोंका पक्ष लेकर किसी न किसी प्रकार तपस्यासे शक्तिप्राप्त त्रिलोकजयी असुर अग्रणीको मार दिया है। सुरोंपर ऐसी शक्तिकी विजय कभी स्थायी नहीं बन सकी है।'

'तपस्या तो हममें-से कोई कर सकता है।' एक दैत्यने कहा—'अतिशय कठोर तप भी हम सब सहज साध्य कर लेंगे; किन्तु हममें-से कोई आपके रहते तप करके अग्रणी बननेको उत्सुक नहीं है, और आपको अभी तपका निश्चय नहीं करना चाहिये। अभी आपका शरीर पूर्णतः सशक्त हुआ नहीं है।'

'शरीरकी चिन्ता मुझे नहीं है।' बलिने कहा—'किन्तु मुख्य प्रश्न विष्णुका है। विष्णु हमारा समर्थन करेंगे, ऐसी आशा मुझे नहीं हैं; किन्तु वे हमारे और सुरोंके संघर्षमें तटस्थ बनाये जा सकें तो हम अदिति पुत्रोंको देख लेंगे।'

दैत्योंमें-से अधिकांशका मानना था कि विष्णु सुरोंके सहज समर्थक हैं। वे तटस्थ नहीं बनाये जा सकते; किन्तु बलिको यह बात स्वीकार नहीं थी। श्रीहरि जब हिरण्यकशिपुके पुत्रका पक्ष लेने अवतीर्ण हो सकते हैं; तब प्रह्लादके पौत्रसे होनेवाले किसी संग्राममें तटस्थ क्यों नहीं रह सकते ?

'श्रीहरि परमब्रह्मण्य हैं।' बलिको सहसा एक युक्ति सूझ गयी— 'ब्राह्मणोंके भक्तका वे विरोध नहीं कर सकते।'

'ब्राह्मण स्वभावसे सुरोंके पोषक-समर्थक होते हैं।' एक ओरसे शंका आयी—'कोई ब्राह्मण हमें समीप आने देगा या हमारी सेवा स्वीकार करेगा ?'

'अपने आचार्यश्री ब्राह्मण नहीं हैं ?' बलिने दैत्योंको मार्ग सुझा दिया—'उनके ब्रह्मचारी, पुत्र सभी तो ब्राह्मण हैं। हम कोई और ब्राह्मण कहीं ढूँढ़ने क्यों जायँ ?'

निर्णय हो गया। दैत्योंमें सब श्रीशुक्राचार्य और उनके पुत्रों–शिष्योंकी सेवामें लग गये। स्वयं बलि आचार्यकी सेवामें जुट गये। ऐसी सेवा बलिने शुक्राचार्यकी प्रारम्भ कर दी, जैसी कोई अत्यन्त विनम्र, सेवा-तत्पर सेवक-शिष्य भी न कर सके।

आचार्यकी इच्छा, इंगित बलिके लिए आदेश बन गया। आचार्यको कोई आवश्यकता अनुभव हो, उससे पूर्व वह कार्य सम्पन्न। बलि सदा अञ्जलि बाँधे सेवामें उपस्थित रहने लगे।

सदाचारी, सात्त्विक ब्राह्मण तो निम्रतापूर्वक प्रणाम करने मात्रसे प्रसन्न हो जाता है। शुक्राचार्यकी प्रवृत्ति अवश्य तपस्वी रहनेकी नहीं है। वे सुख-सुविधापूर्वक रहनेके अभ्यासी न होते तो दैत्योंका पौरोहित्य ही स्वीकार नहीं करते। साथ ही उनकी स्पर्धा है देवगुरु वृहस्पतिसे। देवता पराजित होकर स्वर्गसे पलायन करते हैं तो वृहस्पतिका वैभव भी जाता है। यह स्थिति भी शुक्राचार्यको प्रसन्न करती है।

दैत्य अतिशय विनम्र और सेवा-परायण हो रहे थे और देवता स्वर्गमें सुखी थे, अतः देवगुरु पूरा सम्मान पा रहे थे अपने यजमानोंसे। यह बात शुक्राचार्यजीके लिए भी खटकनेवाली थी। अतः उन्होंने निश्चित किया कि वे बलिको विशिष्ट शक्ति सम्पन्न बनावेंगे।

'बलि, मैं चाहता हूँ कि तुम एक यज्ञ करो!' अन्ततः शुक्राचार्यने बलिको एक दिन आदेश किया।

'सेवक तो आज्ञानुवर्ती है।' बलिने विनम्रतापूर्वक आदेश स्वीकार कर लिया।

यह अनुभूत तथ्य है कि जबतक व्यक्ति सम्पूर्ण सन्तुष्ट, प्रसन्न नहीं होता, उसे वे उपाय सूझते ही नहीं जो ऐसी सन्तुष्टिमें सूझते हैं। अपनी ओरसे कोई प्रमाद नहीं होता। रोगीकी चिकित्सा पूरी ईमानदारी और सावधानीसे चिकित्सक कर रहा है; किन्तु रोगी या उसके परिजनोंकी किसी सेवा, क्रियासे जब उसका हृदय रोगीको स्वस्थ करनेको आतुर हो उठता है, तब उसकी सम्पूर्ण योग्यता जाग जाती है। तब उसे वे उपाय सूझने लगते हैं, जो अब तक सूझे ही नहीं थे।

शुक्राचार्य अपने शिष्योंकी उपेक्षा नहीं करते थे। वे बलिके प्रति सदय थे। दैत्य स्वर्गपर अधिकार करलें, यह वे हृदयसे चाहते थे; किन्तु बलिकी विनम्रता और सेवाने उन्हें ऐसा प्रभावित किया कि अब वे बलिको विश्व-विजयी देखनेके लिए उत्सुक हो उठे।

आचार्यने जो भी सामग्री बतलायी, दैत्योंने उसे एकत्र कर दिया। जो-जो विधि आचार्य बतलाते गये, सबका पालन हुआ।

शुक्राचार्य जैसा अत्यन्त नीतिकुशल, परमवेदज्ञ, सतत सावधान, सर्वतोमुखी प्रतिभाका धनी आचार्य जब तुल ही गया कोई यज्ञ विधिपूर्वक सम्पन्न करानेको तो उसमें त्रुटि सम्भव नहीं थी।

निर्दोष ही नहीं, अपने सर्वथा अनुकूल पवित्र स्थल ढूँढ़ लिया गया पृथ्वीपर। अनुकूल निर्दोष मुहूर्त शुक्राचार्यने शोध लिया। देश, काल और और पदार्थकी सब प्रकार अनुकूलता, निर्दोष स्थिति कदाचित ही मिलती है; किन्तु शुक्राचार्यके प्रयत्नसे सुलभ हुई।

बलिको विश्वजित यज्ञकी दीक्षा दी आचार्यने और इस यज्ञके द्वारा अग्निको ही सन्तुष्ट करना था। चराचर सृष्टिकी शक्ति अग्नि। ऊर्जाके अधिपतिको ही आचार्य सन्तुष्ट करनेमें लगे थे।

अन्ततः अग्नि सन्तुष्ट हुए। यज्ञकुण्डसे ही दिव्य रथ प्रकट हुआ। उस रथके अश्व मारे नहीं जा सकते थे। रथ तोड़ा या जलाया नहीं जा सकता था। रथपर लगा सिंहध्वज काटा नहीं जा सकता था।

यज्ञकुण्डसे ही दिव्य धनुष, दो अक्षय त्रोण और अभेद्य कवच प्रकट हुआ। इन उपकरणोंको प्राप्त करके बलि अजेय हो गये।※

इतना सब हो गया; किन्तु बलिमें न कोई अहङ्कार आया और न उन्होंने अपनी ओरसे कुछ करनेकी उत्सुकता प्रकट की। वे अत्यन्त विनम्र, शान्त बने रहे।

दैत्योंमें अवश्य अत्यधिक उत्साह आ गया था। वे अपने अस्त्र-शस्त्र उठाकर तत्काल अमरावतीपर चढ़ दौड़नेको आतुर हो उठते थे; किन्तु जब उनके अग्रणी उत्सुक न हों, उनकी आतुरताका कुछ अर्थ नहीं था।

'वत्स ! यह दिव्य शङ्ख ग्रहण करो और इस अग्नि प्रदत्त रथपर बैठो !' आचार्य शुक्रने ही आदेश दिया—'इस कवचको धारण करके त्रिविष्टपपर चढ़ाई करो। अदितिके तनय अब तुम्हारे सम्मुख युद्धमें आनेका साहस नहीं करेंगे।'

'जैसी आपकी आज्ञा !' बलिने शङ्ख ले लिया। कवच धारण करके त्रोण कसे कमरपर और धनुष सम्हाला। दैत्योंकी ओर देखकर उन्होंने आदेश दिया—'आप सब आचार्यकी आज्ञामें रहेंगे।'

'दैत्यराज एकाकी अमरावतीपर आक्रमण करेंगे ?' दैत्योंमें-से किसीने पूछा नहीं; किन्तु सबका हृदय आशंकित हो उठा।

'तुम सब बलिके साथ जाओ !' आचार्य शुक्रने दैत्योंको आदेश दे दिया।

'भगवन् ! आप यहाँ.......' बलिका स्वर ही कहता था कि वे बहुत विह्वल हो उठे हैं। आचार्य यहाँ इस अन्धकारपूर्ण प्रदेशमें एकाकी रह जायँ तो उन्हें बहुत कष्ट होगा, यह सोचकर बलि चिन्तित हो उठे थे।

※स्मरण रखने योग्य है कि खाण्डवदाहके पश्चात् अग्निने ही अर्जुनको भी गाण्डीव नामक अछेद्य धनुष और अक्षय त्रोण दिये थे। अर्जुनका नन्दिघोष नामक रथ भी तोड़ा नहीं जा सकता था। उस रथका वानरध्वज भी कटता नहीं था।

'दैत्येन्द्र ! तुम जानते हो कि सुर भी शुक्रकी अवमानना करनेका साहस नहीं कर सकते और तुम्हारे इस एकाक्ष आचार्यका किसीके भी सम्मुख पड़ना उसे असफल करता है।'❀ आचार्य खुलकर हँसे। फिर सुप्रसन्न बोले—'इस बार तो युद्ध होना ही नहीं है। अमरावती तुम्हें बिना संघर्षके प्राप्त होगी। तुम प्रस्थान करो। मैं सब तुम्हारे लोगोंके परिवार लेकर आ रहा हूँ।'

अमृत-मन्थनके समय तो बलिका अमरावतीपर अधिकार था। उस समय दैत्योंके परिवार वहीं स्वर्गमें ही थे। अमृत-मन्थनके लिए केवल दैत्य पुरुष आये थे; किन्तु वहाँ जो कुछ हुआ, उसमें दैत्योंको अपने परिवारोंकी सुधि लेनेका भी समय कहाँ मिला था।

अमृत मिला श्रीनारायणकी कृपासे सुरोंको और उसके पश्चात् होनेवाले समरमें असुर पराजित हो गये। उनमें-से अधिकांशके तो निष्प्राण शरीर इस अन्धकारपूर्ण पर्वतपर लाये गये थे। यहाँ भी सुरोंसे सशंक ही रहना था। उन्हें तो पता भी नहीं था कि उस आपत्तिमें उनके परिवारोंका क्या हुआ।

अमृतपान तथा विजयसे उन्मद अदितिके पुत्रोंने अमरावतीको जब अधिकृत किया होगा, अपने शत्रुओंके परिवारोंके साथ कोई सद्व्यवहार तो किया नहीं होगा। बेचारी दैत्यनारियाँ और उनके थोड़े-से वृद्ध संरक्षक-सेवक भागे ही होंगे। कुछने महर्षि कश्यपके आश्रममें माता दितिके यहाँ शरण ली होगी और कुछ नीचेके लोकोंमें दानवेन्द्र मयके यहाँ अथवा हिरण्मय वर्षमें प्रह्लादजीके यहाँ गयी होंगी। यही सम्भाव्य शरणस्थल थे। अतः अनुमान इनके सम्बन्धमें ही किया जा सकता था। इनमें-से कहीं सुर कोई उत्पात करनेका साहस नहीं कर सकते थे। इसीलिए असुर आपत्तिके इस प्रवासमें अपने परिवारकी ओरसे अधिक चिन्तित नहीं थे।

शुक्राचार्यकी बातने बलि तथा सभी दैत्योंको आचार्यके प्रति अधिक आभारी बना दिया। आचार्यसे अधिक उपयुक्त व्यक्ति दूसरा नहीं हो सकता

❀ज्योतिषके अनुसार किसी यात्रामें शुक्र सम्मुख हो तो कार्य असफल रहता है।

था दैत्योंके परिवारोंका अन्वेषण करनेवाला और न किसी दूसरेके साथ सब दैत्यनारियाँ आ सकती थीं। अतः बलिने कोई प्रतिवाद नहीं किया।

आचार्य शुक्रने स्वस्त्ययन किया। उनको प्रणाम करके, वहाँ उपस्थित ब्राह्मणोंकी अनुमति लेकर वलि रथारूढ़ हुए और उन्होंने विजय मुहूर्तमें प्रस्थान किया।

अमरावती अभी दूर थी—मनुष्य जितना अनुमान कर सकता है, उससे बहुत अधिक दूर, जब बलिने युद्ध-घोषणाके स्वरमें शङ्खनाद प्रारम्भ किया; किन्तु देवता संकल्प-ग्राही होते हैं। बलिके संकल्पके साथ हुई शङ्खध्वनिसे लगा कि अमरावतीमें भूकम्प आ गया है। भवन थरथराने लगे और देवियाँ तथा अप्सराएँ भयभीत होकर इधर-उधर भागने लगीं। इन्द्रकी सुधर्मा सभाका नृत्य, संगीत सहसा समाप्त हो गया।

देवराज इन्द्रको न कभी जासूस नियुक्त करना पड़ता और न चर भेजकर कोई पता लगाना पड़ता। वायुदेवके द्वारा इच्छा करते ही उन्हें कहींका भी संवाद तत्काल मिल जाता है। अतः शक्रने वायुकी ओर देखा।

'कोई शुभ समाचार नहीं है।' वायुने बतलाया—'दैत्यराज वलि त्रिविष्टपपर आक्रमण करने आ रहे हैं। उनके साथ सभी दैत्य नायक अपने दलोंके साथ हैं।'

देवराज इन्द्रका इतनेसे सन्तोष नहीं हुआ। वे वायुसे अभी कुछ और—शत्रुकी शक्ति, तेज, उत्साहके सम्बन्धमें भी सुनना चाहते थे; क्योंकि बलिका आक्रमण असंभावित नहीं था। दैत्योंको शुक्राचार्य जीवित कर देंगे और वे कभी भी अवसर मिलते ही आक्रमण करेंगे, यह अनुमान था; किन्तु बलि इतने शीघ्र आक्रमणका साहस करेंगे, यह आशा नहीं थी।

बीचमें कोई समाचार नहीं मिला था असुरोंके सचेष्ट होनेका। अतः यह जानना आवश्यक था कि वलिको अकस्मात सहायता कहाँसे मिली है।

'वलिका तेज असह्य है। यद्यपि अन्य दैत्योंमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं लगता।' वायुदेवने विवरण दिया—'किन्तु वलिके समीप तो मुझे

सशंक, सावधान जाना पड़ता है। लगता है कि वे संकल्पपूर्वक मुख खोलें तो पूरे विश्वको निगल लेंगे अथवा अपनी दृष्टिसे त्रिभुवनको भस्म कर देंगे। उनकी शक्ति, उत्साह अनुमानसे परे है। उनको देखकर केवल एकका ही स्मरण मैं कर सकता हूँ और वे हैं श्रीनारायण।'

इन्द्र अपने सिंहासनसे एक बार उछल पड़े—'श्रीहरि दैत्य पक्षमें हैं ? वे हम सुरोंसे असन्तुष्ट हो गये ?'

'ऐसा तो कुछ लगता नहीं है।' वायुने कहा—'वलिने उनकी कोई आराधना नहीं की है और न वे क्षीराब्धिशायी अपने धामसे त्रिलोकीमें अभिव्यक्त हुए हैं; किन्तु बलिके तेजकी तुलना दूसरे किसीसे की नहीं जा सकती।'

'बलिको किसकी सहायता मिली है।' इन्द्र चिन्ता भरे स्वरमें बोले—'बलिने तपस्या नहीं की तो सृष्टिकर्ता, भगवान महेश्वर, महाशक्ति या गणपतिमें-से उन्हें किसीने वरदान नहीं दिया होगा। दानवेन्द्र मयसे वलि मिले थे ?'

'दानवेन्द्र अपने लोकमें ही हैं।' वायुने देवेन्द्रकी सब आशंकाओंका खण्डन दिया—'बलि या दूसरे कोई दैत्य भी दानवेन्द्रसे नहीं मिले। वलिने तप या आराधनासे वरदायक विभूतियोंमें-से किसीको प्रसन्न किया हो, यह भी पता नहीं लगता। मैं उनकी शक्तिका स्रोत ढूँढ़ नहीं पाता।'

'इसे जाने बिना तो प्रतिकार किया नहीं जा सकता।' इन्द्र इतना कहकर उठ खड़े हुए। वे सीधे देवगुरु बृहस्पतिके आश्रम पहुँचे।

'भगवन् ! बलि हमारे पूर्वशत्रु हैं और उन्होंने अमरपुरीपर आक्रमण कर दिया है।' देवता बोलें ही, आवश्यक नहीं है। संकल्पकी भाषा है उनकी। इन्द्र इस समय व्याकुल थे, अतः बोल रहे थे—'पता नहीं, वलिको कहाँसे अपार शक्ति प्राप्त हो गयी है। अब हम सुरोंके आप ही शरणद हैं।'

देवगुरु दो क्षणको ध्यानस्थ हो गये। पलकें खुलीं, तब शान्त शिथिल स्वरमें बोले—'सब सुरोंके साथ स्वर्ग त्याग दो और सुमेरुकी गुहाओंमें शरण

लो। इस समय बलिके साथ सग्राम करके विजय प्राप्तिकी कोई आशा नहीं है।'

'भगवन् !' इन्द्र तो हक्के-बक्के खड़े ही रह गये। देवगुरुसे ऐसे आदेशकी आशा उन्हें नहीं थी।

'भगवान काल, सर्वेश्वर और धर्मज्ञ ब्राह्मण जिसके अनुकूल हों, उसके विरुद्ध पराक्रम करनेवाला केवल अपने लिए विपत्ति बुलाता है।' आचार्य वृहस्पति गम्भीर स्वरमें कहते गये—'बलिकी सेवासे भार्गव ब्राह्मण प्रसन्न हैं। शुक्राचार्यने अपने यजमानको तेजोन्वित किया है। उस तेजसे तेजोन्वित बलिको श्रीहरिके अतिरिक्त दूसरा कोई—सुरोंकी सम्मिलित शक्ति भी पराजित नहीं कर सकती।'

'सुरोंके लिए कहीं कोई आशा नहीं है ?' इन्द्रके स्वरमें इतनी अधिक व्यथा थी कि देवगुरु भी व्यथित हो गये; किन्तु उनको भी कोई उपाय नहीं सूझ रहा था।

'अनुकूल समयकी प्रतीक्षा करनी पड़ेगी सुरोंको।' देवगुरुने एक आशाकी किरण प्रदान की—'शुक्राचार्यकी सेवा करके उनको प्रसन्न किया दैत्योंने और प्रसन्न होकर उन भार्गवने बलिको अपरिमित शक्ति दे दी; किन्तु जो शक्ति देता है, वह उसे छीन भी ले सकता है। दैत्योंका स्वभाव तुम जानते हो। बलि या किसी दैत्यके द्वारा जिस दिन शुक्राचार्यका अपमान होगा, उसी दिन समझ लो कि असुर-शक्तिके नाशका समय आ गया। मैं आचार्य शुक्रके स्वभावको जानता हूँ। वे प्रसन्न होनेपर सब कुछ कर सकते हैं; किन्तु संकेतसे किया अपमान, तनिक भी उपेक्षा उन्हें असह्य है। भले वे क्षणार्ध मनु हैं; किन्तु क्रोध उन्हें आता है। अत्यल्प कारणसे आता है और क्रोध आनेपर कोई भी शाप वे दे सकते हैं।'

'तब ठीक है।' इन्द्रका स्वर स्वस्थ हो गया। वे निश्चयपर पहुँच गये—'बलिको अमरावतीका अधिपति हो जाना चाहिये। दैत्योंको निर्बाध ऐश्वर्य मिलना चाहिये। ऐश्वर्य प्राप्त किये बिना तो वे अपने आचार्यके प्रति अविनीत होंगे नहीं। ऐश्वर्य प्राप्त करके देखें कि वे कबतक संयमी और विनीत बने रहते हैं।'

स्वर्गका परित्याग अब युद्ध-नीतिका आवश्यक अङ्ग बन गया था। जब बलिको पराजित नहीं किया जा सकता तो उनसे युद्ध करके अपनी शक्तिका क्षय करना बुद्धिमानी नहीं थी।

महर्षि बृहस्पतिने पहले ही सूचित कर दिया था कि वे अपने पिताके आश्रम जा रहे हैं। सुरोंको आवश्यकता होनेपर उनकी सम्मति और सान्निध्य उपलब्ध रहेगा।

देवता कश्यपाश्रममें माता अदितिके समीप भी जा सकते थे; किन्तु ऐसे अवसरोंपर कभी वहाँ जाते नहीं थे। यह पहला अवसर तो था नहीं सुरोंके अमरपुरी त्यागनेका। वे अनेक बार असुरोंसे पराजित होकर यहाँसे भाग चुके थे। अतः उन्होंने सुमेरुकी गुहाओंमें ऐसे आपत्तिकालमें रहनेकी व्यवस्था कर रखी थी। वहाँ वे अपनी देवियोंके साथ दीर्घकालतक रह सकते थे।

अवश्य ही अप्सराएँ, गन्धर्व, किन्नर आदि ऐसे अवसरोंपर भी अपने आवासोंमें ही बने रहते थे। अमरावतीपर जो भी अधिकार करेगा, उसीकी उन्हें सेवा करनी थी और कोई स्वर्गका नवीन शासक इन कलाकारोंको कष्ट नहीं देता था। इसलिए इस वर्गमें कोई आतंक नहीं था।

सूर्य, यम, वरुण, वायु, अग्नि प्रभृति लोकपाल-दिक्पालोंमें-से केवल इन्द्रको भागना था। दूसरे दिक्पालोंके अधिकार लेनेको असुर उत्सुक नहीं थे और ब्रह्माजीके द्वारा दिये गये अधिकारोंको वे प्रायः छीनते भी नहीं थे। दिक्पाल, लोकपाल भी इन्द्रपदपर आये असुरका आदेश मान लिया करते थे। अतः इस वर्गमें भी कोई हलचल नहीं हुई।

बलि ऐसे संयमी कि अमरलोकके अधिपति होनेपर भी उन्होंने ध्यान नहीं दिया कि अप्सराओं और गन्धर्वोंने उनका कितना स्वागत-सत्कार किया। देवियाँ चली गयी थीं देवताओंके साथ; किन्तु वे न भी जातीं तो उन्हें बलि न अपमानित करते, न कोई कष्ट होने देते। बलि विलासी नहीं थे, अतः अप्सराओं तथा गन्धर्वों आदिको तो उन्होंने लगभग छुट्टी ही दे दी थी। नृत्य-संगीत होता तो था; किन्तु उसमें दूसरे ही दैत्य रस लिया करते थे।

देवता स्वर्ग छोड़कर चले गये । देवियाँ भी चली गयीं अपने पतियोंके साथ । बलि जब दैत्योंकी सेना लिये अमरपुरीके द्वारपर पहुँचे, द्वारपालोंने उनका स्वागत किया । बलिको युद्ध तो क्या करना पड़ता, कहीं किसीने रोका भी नहीं था ।

'आप सब तो सुरोंके अग्रज हो ।' त्रिविष्टपके सेवकोंका स्वर, आचरण जैसे अचानक परिवर्तित हो गया था । वे सब कहीं दैत्योंको सेवा-तत्पर मिले—'अमरावती तो आपकी है ही । अबतक हम लोग आपके अनुजोंकी सेवा कर रहे थे, अब आपकी सेवाका सौभाग्य मिला है ।'

देवताओंके भवनोंपर दैत्योंने अधिकार कर लिया । आचार्य शुक्र शीघ्र दैत्योंकी पत्नियों-परिजनोंको लेकर आ गये । उनको भव्य भवन दिया बलिने नन्दनकाननके भीतर । नन्दनकानन दैत्योंके विहारवनके स्थानपर शुक्राचार्यका आश्रम बन गया ।

बलि स्वर्गके अधिपति होकर सुधर्मा सभामें इन्द्रके आसनपर बैठे ही थे कि भगवती लक्ष्मी करमें कमल लिये पधारीं । उन्हें देखते ही बलि आसनसे उठे; किन्तु उन्हें पूजाका अवसर नही मिला ।

'मैं क्षीरोदधि-सम्भवाकी अंशभूता हूँ ।' कमलाने स्मितपूर्वक कहा—'मैं पुण्यात्मा ऐश्वर्यशाली पुरुषोंके हृदयमें रहकर अपने स्वामीकी सेवा करती हूँ । तुम्हारे हृदयमें जो अधोक्षज हृषीकेश हैं, मैं उनके श्रीचरणोंमें रहने आयी हूँ ।'

बलि कुछ कहें, इससे पूर्व श्री उनके शरीरमें प्रविष्ट हो गयीं । अब तो यह क्रम कुछ कालतक चलता रहा । ह्री, कीर्ति, धृति आदि क्रमशः आती गयीं । वे केवल इतना कहती थीं—'हम श्रीकी सखियाँ हैं । जहाँ वे, वहाँ हम ।'

एक-एक करके वे बलिके शरीरमें प्रविष्ट होती गयीं । बलिका तेज बढ़ता गया । बलिने केवल सूर्यदेवको आदेश दिया—'आप अब दैत्यपथ (दक्षिणायन)में ही स्थित रहें ।'

सूर्यदेवको कोई आपत्ति नहीं थी । वे उत्तरायण-दक्षिणायन दोनोंके

अभ्यासी। उन्हें दक्षिणायन रहनेमें कोई बाधा नहीं थी। अदृश्य पृथ्वीपर एक हिमयुग प्रारम्भ हो गया था। कह नहीं सकता कि उत्तरध्रुव उसी समय हिमप्रदेश बना था या नहीं; किन्तु बहुत अधिक सम्भावना है कि दक्षिणध्रुव प्रदेशका महाद्वीप अण्टार्कटिका उस समय समृद्ध जनपदोंसे भरा रहा होगा। वहाँ सुसभ्य, सुसंस्कृत लोग उस समय रहते होंगे।

'धर्म बराबर चतुष्पाद रहेंगे।' बलिने दैत्यनायकोंकी ओर देखकर आदेश दिया—'सत्य, दया, दान, शीलका कहीं कोई अतिक्रमण दण्डनीय माना जायगा।'

इसका परिणाम हुआ कि अधर्म अत्यन्त दुर्बल हो गया। उसका चतुर्थांश भी कहीं कठिनाईसे ही रह गया।

बलिने दैत्य-नायकोंको विविध क्षेत्र दे दिये सम्हालनेके लिए। देवताओंके स्थानपर दैत्य पदार्थों और क्रियाओंके अधिष्ठाता बना दिये गये। इसका अतर्कित परिणाम हुआ। देवता तो विलासी होनेसे प्रमाद करते थे, प्राणियोंको स्वतन्त्र छोड़ देते थे और प्राणी असंयमित होकर अधर्म करते थे। उसके परिणामस्वरूप दुःख, शोक, रोग, अभावादि भी उन्हें भोगने पड़ते थे; किन्तु दैत्योंमें प्रमाद था ही नहीं। वे बराबर सतर्क और सक्रिय रहनेके स्वभाववाले थे। फलतः पृथ्वीपर मनुष्यसे प्रमाद होना बन्द हो गया। सब अपने-अपने धर्मका, कर्तव्यका ठीक-ठीक पालन करने लगे।

धर्मका प्रमादहीन पालन जो पुरस्कार देता है, वह पृथ्वीको पूरा प्राप्त हुआ। रोग, शोक, चिन्ता, अभाव भी होते हैं, यह मनुष्य भूल ही गया। न अकाल, न अतिवृष्टि। महामारी तो सुनी ही नहीं जाती थी, साधारण रोग भी कहीं नहीं। मृत्यु होती थी; किन्तु केवल वृद्धोंकी और वे भी जराजर्जर होकर नहीं मरते थे।

लोगोंके मनमें सहजभावसे सन्तोष, अपरिग्रह आ गया था। अतः स्वार्थका संघर्ष सम्भव ही नहीं था। चोरी, असत्य, ईर्ष्यादि सुने नहीं जाते थे। स्पर्धा चलती थी सेवाके लिए। असन्तोष होता कि किसीको कुछ दिया नहीं जा सका।

यज्ञ, दान, जप, तप, तीर्थाटन खूब चलता था; किन्तु इनका फल दैत्योंको मिलता था। आहुति भले स्वाहा कहकर इन्द्रके नामसे दी जाय, इन्द्र तो उस समय बलि थे, अतः उन्हें प्राप्त होती थी। पितृश्राद्धमें स्वधा कहकर दिये पिण्ड पितरोंको मिलते थे। मनुष्य पूर्णतः श्राद्धतत्पर था। अतः पितर तृप्त-पुष्ट थे; किन्तु स्वधाका वह भाग जो अर्यमाको प्राप्त होता है, पितृलोकके उस समयके शासक शम्बरको मिलने लगा था।

पृथ्वीपर समयसे आवश्यक वर्षा होती थी। शीत और उष्णताका सन्तुलन बिगड़ता नहीं था। मनुष्य ही नहीं, दूसरे प्राणी भी सुखी थे। सन्तुष्ट थे।

अधर्म बढ़नेसे जिन प्राणियोंकी वृद्धि होती है, वे मच्छर, दंश, मक्खी, टिड्डी, चूहे, खटमल ही नहीं, कृषिके दूसरे शत्रु शुकादि तथा रोगाणु अत्यल्प रह गये थे और वे भी कूड़ा-करकट ही स्वच्छ करनेमें लगा दिये गये थे।

जहाँतक पृथ्वीके प्राणियोंका सम्बन्ध है, बलिका राज्यकाल ऐसा समय था कि वैसा समय रामराज्य ही फिर हुआ। पीड़ित केवल देवता थे। उन्हें न आहुति-भाग मिलता था और न पूजा-अर्चा। पदच्युतको भला कहीं कोई स्मरण किया करता है? संसारमें तो बलि और अनुचरोंकी जय-जयकार हो रही थी।

हस्तक्षेपकी आवश्यकता—

आपको स्मरण होगा कि श्रीरामको भी अन्तमें कालपुरुषने आकर कहा था—'आपके अवतारका प्रयोजन पूरा हो गया!'

श्रीकृष्णचन्द्रसे यह प्रार्थना ब्रह्मादि देवताओंने की थी।

अन्ततः इसकी आवश्यकता क्यों होती है? जब बलिका शासन इतना उत्तम था तो श्रीहरिको उसमें हस्तक्षेपकी आवश्यकता क्यों पड़ी? क्यों बलिको इन्द्रपदसे हटाया गया? क्या सचमुच नारायणका असुरोंसे कोई द्वेष है? अन्यथा वे सुरोंका, इन्द्रका पक्षपात क्यों करते हैं?

इन प्रश्नोंके समाधानके लिए ही प्रारम्भमें श्रीराम और श्रीकृष्णका उदाहरण दिया गया है। सृष्टिकर्ताको उनका भी अधिक दिनतक पृथ्वीपर रहना वांछित नहीं था। अतः उनसे प्रार्थना की गयी कि वे नरलीला तिरोहित करें।

भगवान मङ्गलमय हैं। परम दयालु हैं और सर्वसमर्थ हैं। यदि सृष्टिका काम चल सकता होता तो वे चार युगका विधान न करके केवल सतयुग ही बनाये नहीं रख सकते थे?

प्रकृतिमें सत्त्व, रज, तम तीन गुण हैं। यदि केवल सत्त्वगुण ही प्रधान बना रहे, तो भी प्रलय हो जायगी; क्योंकि उसमें भले शान्ति हो, आनन्द हो; किन्तु क्रिया सर्वथा नहीं है।

सत्त्वगुणमें दृढ़ स्थिति होती है निर्विकल्प समाधिमें और यदि वह निर्जीव हो—उसमें-से उठनेका सङ्कल्प बीज न हो तो शरीर इक्कीस दिनसे अधिक नहीं टिका करता।

जो बात व्यष्टि—एक शरीरके लिए सत्य है, वही समष्टिके लिए—विश्व ब्रह्माण्डके लिए भी सत्य है। अतः यहाँ सत्त्व, रज, तम तीनों गुणोंका ह्रास-उल्लास चलता रहता है और चारों युग अपने-अपने कालतक विद्यमान

रहते हैं। इस क्रममें व्यतिक्रम समूची सृष्टि-व्यवस्थाको अव्यवस्थित कर देता है।

सतयुगमें सघन वन, मृग, पशु, पक्षी आदि नहीं रहेंगे तो उस युगके तपस्वी रहेंगे कहाँ ? वे क्या रेत फाँककर तपस्या करेंगे ? यदि स्थान-स्थानपर पर्वत नहीं होंगे तो झरने और सरिताएँ होंगी ? नहीं होगी तो तपस्वियोंको, पशु-पक्षियोंको जल मिलेगा ?

स्मरण रखना है कि वृक्ष-लता, तृण तथा पशु-पक्षी आदि सब मनुष्यको ही अपने कर्मोंके अनुसार बनना है और जड़प्राय अचर तथा पशु-पक्षी पुण्यात्मा मनुष्य तो बन नहीं सकते।

यदि सृष्टिमें सतयुग ही बना रहे तो उस समयके मनुष्य आयु समाप्त होनेपर या तो स्वर्ग जायँगे या तप, जन लोकादिमें। सृष्टिका सन्तुलन ही समाप्त हो जायगा। केवल नरक ही उजाड़ नहीं होगा, पृथ्वी भी धीरे-धीरे समाप्त हो जायगी; क्योंकि नदी, पर्वतादि भी बनने योग्य प्रारब्ध जब किसीके बनेंगे ही नहीं तो पृथ्वी बचेगी ?

अयोध्यामें प्रायः सब मर्यादा-पुरुषोत्तमके भक्त ही रहते हैं। वे यदि कहें—'मनसे भी रावण, सूर्पणखा आदिका चिन्तन उचित नहीं है।' तो आपको उनका कथन कहीं असंगत लगता है ? लेकिन तब वहाँ रामलीला हो सकेगी ? उन पात्रोंके अभिनयमें उनका चिन्तन और उनके वाक्यों तथा कर्मोंकी अनुवृत्ति करनी होगी या नहीं ?

मन्दिर बनाया जाता है तो उसके आस-पास ही कहीं मन्दिरके पुजारी, सेवक आदिके लिए शौच, लघुशङ्काका स्थान भी बनाना पड़ता है।

हमारे आपके शरीरमें मुख, मस्तक श्रेष्ठ सही; किन्तु पैर, मल-मूत्रके द्वार, मलाशय न रहें तो जीवन चल सकेगा ?

धर्म विश्वात्मा परम पुरुषका हृदय है; किन्तु क्या अधर्म उनका ही पृष्ठ देश नहीं है ? इसलिए सृष्टिमें यदि सतयुग, त्रेता आवश्यक हैं तो द्वापर, कलियुग भी आवश्यक ही हैं। सृष्टि जिसकी सत्तामें स्थित है और जो इसका सञ्चालक है, वह मङ्गलमय है और सर्वसमर्थ है। सब युग और उन युगोंके

कर्म—वे आपको ठीक लगें या न लगें, उसीके विधान हैं। उनमें-से किसी एकको भी निकाला नहीं जा सकता।

इसीलिए मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामका या लीला-पुरुषोत्तम श्रीकृष्णका जब अवतार-प्रयोजन पूर्ण हो गया तो सृष्टिकर्ताको उनसे लीला-संवरणका अनुरोध करना पड़ा। यह अनुरोध ऐसा ही था—जैसे सेवा-तत्पर सेवक स्वामीको स्मरण कराता है समयपर—'आपके स्नान या भोजनका समय हो गया।'

श्रीरघुनाथ या श्रीकृष्णचन्द्र तो साक्षात् परम पुरुष थे। सृष्टिकर्ता भी उनसे केवल निवेदन कर सकते थे और सृष्टिके विधान उन्हींके हैं, अतः अपने विधानको बनाये रखनेकी चिन्ता-दायित्व भी उन्हींपर है; किन्तु बलिके साथ तो ऐसी बात थी नहीं। बलि न सर्वज्ञ थे और न सृष्टि-सञ्चालनका उनपर कोई दायित्व था। वे सत्पुरुष थे, धर्मात्मा थे और अपने सहज स्वभावके अनुसार व्यवहार कर रहे थे।

बलिकी जितनी भी प्रशंसा की जाय, कम है। उन्होंने स्वभावनिष्ठुर, हिंसाप्रिय दैत्योंको अनुशासित और धर्मका संरक्षक बना दिया था। दैत्य जिनसे सदा चिढ़ते आये थे, उन ब्राह्मणों तथा गायोंका आदर करने लगे थे। उनके प्रति विनम्र बन गये थे। दैत्योंका स्वाभाविक औद्धत्य जैसे संकुचित हो गया था।

दैत्योंको अधिकार प्राप्त हुआ था। अतः उनमें उत्तरदायित्वका बोध जागा था। सुरोंकी अपेक्षा असुर अधिक कर्मशील तथा सशक्त थे ही। फलतः सुर अपनी विलासितामें जो प्रमाद करते थे, वह अब मिट चुका था। दैत्य अपने-अपने क्षेत्रोंमें अत्यन्त सावधान तथा कर्तव्य-तत्पर रहने लगे थे।

बलि वही कर रहे थे जो कोई भी श्रेष्ठतम सत्पुरुष करता या कर सकता है।

इस सब करनेमें जो मुख्य भूल हुई, उसपर बलिकी अथवा आचार्य शुक्रकी दृष्टि ही नहीं गयी। वह भूल है सृष्टिके सञ्चालकका अनुशासन-भंग।

उदाहरणके द्वारा स्पष्ट समझा जा सकता है। आप मान लें कि अपने देशके उच्चतम न्यायालयके मुख्य न्यायाधीश अपने पदसे निवृत्त होकर अथवा किसी अवकाशपर ही किसी छोटे नगरमें बिना सूचना दिये दो-चार पहलवान साथ लेकर पहुँच जायँ। वहाँका स्थानीय न्यायाधीश उन्हें ठीक न लगे और उसे अपने साथके पहलवानोंसे बलपूर्वक न्यायालयसे बाहर करवाकर स्वयं उसके आसनपर बैठ जायँ और उपस्थित विवादोंका निर्णय करने लगें।

इसमें दो मत नहीं हो सकते कि निकाले गये न्यायाधीशकी अपेक्षा ये मुख्य न्यायाधीश महोदय बहुत निष्पक्ष, बहुत विधानसम्मत, बहुत विचारपूर्ण निर्णय देंगे—दे रहे होंगे; किन्तु क्या प्रशासन इन्हें यह सब करते रहने देगा ? प्रशासनको हस्तक्षेप करना चाहिये अथवा नहीं ? यदि प्रशासन हस्तक्षेप न करे तो आप उसे असमर्थ मानेंगे या नहीं ?

एक व्यक्ति परीक्षा उत्तीर्ण करता है और दूसरी आवश्यक अर्हताएँ पूर्ण करके उसकी किसी पदपर नियुक्ति होती है। उसके समान योग्य अथवा उससे अधिक योग्य लोग भी देशमें होते ही हैं। अब क्या उन्हें यह अधिकार दिया जा सकता है कि उन्हें उस व्यक्तिका पद एवं कार्य पसन्द न आवे तो उसे बलपूर्वक हटाकर वे वहाँ बैठ जायँ और उससे अच्छा काम कर दिखावें तो उन्हें हटाया नहीं जायगा ?

ऐसी स्वतन्त्रता कोई शासक नहीं देगा। अनुशासन भंग होता रहे तो शासन चल नहीं सकता। अतः अनुशासन जहाँ भंग हो, वहाँ शासनको हस्तक्षेप करना ही पड़ता है।

सृष्टि-सञ्चालकका विधान है कि सौ अश्वमेध यज्ञ करनेवाला चक्रवर्ती नरेश मानवदेह त्यागनेपर समयानुसार इन्द्रपद प्राप्त करेगा और एक मन्वन्तरतक उस पदपर रहेगा। बलिने जिस इन्द्रको उसके पदसे हटाकर स्वयं इन्द्रपद बलपूर्वक ग्रहण कर लिया, उस इन्द्रके इन्द्रत्वका न काल पूरा हुआ था और न उस इन्द्रका कोई अपराध था। अतः सृष्टिके संचालकके लिए बलिको हटाकर उस इन्द्रको उसका पद देना आवश्यक ही हो गया था।

बलिने प्रकृति-विपर्यय भी किया था। सूर्य सदा दैत्यपथ (दक्षिणायन)

नहीं रह सकते थे। सूर्य सदा उत्तरायण या दक्षिणायन ही रहें तो पृथ्वीपर अनेक उलट-पलट हो जायगी। स्वयं पृथ्वीकी स्थिति एवं गतिमें अन्तर आये बिना ऐसा होना सम्भव नहीं। पृथ्वीकी स्थिति तथा गतिमें अन्तर आवे तो पृथ्वीपर कमसे-कम खण्डप्रलय अवश्य हो जायगी।

यह तो अच्छा हुआ कि बलिको ऐसे अटपटे आदेशोंका पालन कराते रहनेको अवकाश ही नहीं मिला। वे शीघ्र अश्वमेध यज्ञ करने पृथ्वीपर आ गये और उनके प्रमुख दैत्य भी उनकी सहायता करने, यज्ञीय कार्य सम्पादन करने उनके साथ आये।

बलिकी शासन-व्यवस्थाकी सबसे बड़ी त्रुटि थी कि उन्होंने पृथ्वीके मनुष्योंको कर्म-स्वतन्त्र रहने ही नहीं दिया था। दैत्योंको शासन-व्यवस्थाका अनुभव नहीं था। वे जानते ही नहीं थे कि मनुष्योंको कितना स्वतन्त्र रखना चाहिये और कितनी प्रेरणा देते रहना चाहिये।

मनुष्योंके अंगों, इन्द्रियोंके तो अधिदेवता हैं। अब यदि वाणीके अधिदेवता अग्नि केवल बोलनेकी शक्ति देकर तटस्थ न रहें, क्या बोलना और क्या न बोलना-का भी नियन्त्रण करें तो मनुष्य बोलनेमें स्वतन्त्र रहा या केवल यन्त्र रह गया ?

जिस दैत्यने अग्निका स्थान लिया, उसने निर्णय कर लिया कि किसीकी वाणीसे कोई अधर्म नहीं होगा। फलतः सबकी वाणी असत्य, कठोर, अशुद्ध बोलनेमें असमर्थ हो गयी; किन्तु अब वाणी किसीकी भी हो, जो सत्य, शुद्ध, विनम्र बोलेगी—उसका धर्मफल उस व्यक्तिका रहा या वाणीके प्रेरकका ?

केवल वाणी ही नहीं, दूसरी इन्द्रियोंकी, मन तथा बुद्धिकी भी यही दशा हो गयी। सृष्टिके सञ्चालनका जो मूल था, वह मनुष्य ही यन्त्रमात्र रह गया। ऐसी परतन्त्रता आपको प्रिय हो तो आप जानें; किन्तु सृष्टिके सञ्चालकको यह मनुष्यकी परतन्त्रता सह्य नहीं है। वह नारायण नरका सखा है। वह नहीं सह सकता कि उसका सखा नर इस प्रकार सम्मोहित कर दिया जाय।

आप जानते हैं कि यदि कोई व्यक्ति सम्मोहित अवस्थामें कुछ करे तो वह चाहे जितना बड़ा काण्ड करे, उस काण्डका दायित्व उसका नहीं होता। उसका दायित्व उस सम्मोहकका होता है, जिसने उसे सम्मोहित कर रखा हो।

दैत्य तो उत्साहमें थे। उनके द्वारा सम्मोहित, संचालित सब मनुष्य धर्म ही कर रहे हैं, अतः सृष्टि धर्माचरणके कारण सम्पन्न, स्वस्थ है और मनुष्योंके धर्माचरणके नियन्त्रक, प्रेरक होनेसे उसके फल-भागी दैत्य हो रहे हैं। उनका स्वर्गीय वैभव बढ़ रहा है। स्वर्गमें उनके स्थायी निवासके लिए पुण्योंकी पूँजी बढ़ती जा रही है।

लेकिन इससे सृष्टिका सन्तुलन ही नष्ट हो रहा है, इस ओर दैत्योंने कोई ध्यान नहीं दिया। उन्हें इस विषयके चिन्तनका न आभास था और न उनके आचार्यको ही यह कुछ सूझा।

किसीको न सूझे, कोई ध्यान न दे तो भी सृष्टिका संचालक तो सर्वज्ञ है। उससे प्रमाद हुआ नहीं करता। वह सर्वसमर्थ अपनी सृष्टिके विधानको अक्षुण्ण बनाये रखेगा ही। अतः बलिका शासन चाहे देखनेमें कितना भी उत्तम लगे, सृष्टिकर्ताको उसमें हस्तक्षेपकी आवश्यकता प्रतीत हुई। उन्होंने समयपर उसमें हस्तक्षेप किया।

देवताओंका दैन्य-

अनेक बार लोग किसी सत्पुरुषकी प्रशंसा करते कहते हैं—'वे तो देवता हैं।' मुझे यह प्रशंसा नहीं लगती, गाली लगती है। यों कहनेवालेका भाव प्रशंशा करनेका होता है, यह समझकर शान्त रह जाना उचित है।

'आप बहुत विलासी हैं?' आपको यह प्रशंसा लगती है?

'आप बहुत चाटुकारी-पसन्द हैं?' इसे आप अपनी प्रशंसा मानेंगे?

'आप अच्छे होटलमें ठहरे हैं। पासकी पूँजी रहने तक मौज करिये। पीछे तो आपको कान पकड़कर निकाला ही जाना है।' कोई यह कहे आपसे तो आप उससे प्रसन्न होंगे?

'आप बहुत बुद्धिमान हैं। चाहते तो केन्द्रमें भी जा सकते थे; किन्तु आपने ग्राम पञ्चायतकी सदस्यतापर ही सन्तोष कर लिया।' इसे आप अपनी प्रशंसा मानेंगे?

आपको देवता कहा जाय तो इनमें-से सब बातें आपके लिए कह दी गयीं या नहीं?

देवता विलासी हैं या संयमी?

'स्तोत्रेण देवा वर्धन्ते।' स्तुति करनेसे देवताओंकी शक्ति बढ़ती है, अर्थात् वे स्तुति करनेवालेपर प्रसन्न होकर उसका वांछित करनेको तत्पर होते हैं। इससे भिन्न किसी वस्तुका नाम चाटुकारिता है?

भगवानकी बात छोड़ दीजिये। उनमें इतने अनन्त गुणगण हैं कि उनके सम्बन्धमें हम जो कुछ कहते हैं वह ऐसा ही है जैसे राष्ट्रपतिको कहा जाय—'आप तो बड़े कस्बेके सरपंच हैं।' यह तो उस परमोदारकी बात है कि शिशुओंकी ऐसी अटपटी प्रशंसासे भी प्रसन्न होता है।

स्वर्ग वह जाता है, जिसके पास पुण्यकी पूँजी हो। पुण्योंका फल

भोगने वहाँ जाता है और 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' पुण्य समाप्त हुए तो मृत्युलोकमें पटक दिया गया। यह अवस्था जहाँ की है, वह किसी श्रेष्ठ होटल जैसा नहीं है ?

जीवके जन्म-जन्मके पुण्य प्रारब्धोंका उदय होता है तो उसे मनुष्य योनि प्राप्त होती है।

नर समान नहिं कउनिउ देही। जीव चराचर जाचत जेही॥

इस मनुष्य योनिमें आकर भगवत्प्राप्ति सम्भव है। मोक्ष सम्भव है।

जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ।
सो कृतनिन्दक मंदमति आतमहन गति जाइ॥

अतः देवता होनेमें मनुष्यकी न प्रशंसा है, न बुद्धिमानी।

बेचारे देवताओंको देवता रहते, पुण्य बचे रहनेपर भी सदा स्वर्गसुख मिलता ही रहे, यह आवश्यक नहीं है। जैसे कोई डाकूदल आक्रमण करके किसी बहुत सम्पन्न व्यक्तिका सब कुछ छीनकर उसे उसकी कोठीसे निकाल दे, ऐसी अवस्था देवताओंकी अनेक बार होती है।

ऐसा कोई मन्वन्तर नहीं, जब उस समयके इन्द्र और देवताओंको दो-चार बार असुर पराजित करके स्वर्गसे भागनेपर विवश न करते हों।

यह भी भगवदीय विधान ही है। इसे समझनेके लिए व्यष्टि-जीवनपर ध्यान दिया जाना चाहिये। व्यक्ति गत जीवनमें जिसके पास सम्पत्ति है, सुखके साधन हैं, उसपर आपत्तियाँ भी आती ही हैं। विलासी व्यक्तिको बार-बार रोगी न होना पड़े, ऐसा नहीं हो सकता।

देवताओंकी ऐसी पराजय बार-बार उन्हें झटके देने, सावधान करनेके लिए आवश्यक है। जैसे रोग सावधान करते रहते हैं असंयमकी ओरसे। देवताओंको रोग तो होते नहीं। स्वर्ग सुरक्षित है रोग, जरा आदिसे। अतः वहाँ असुरोंका आतंक बार-बार सुरोंको सावधान, सचेष्ट करनेका ईश्वरीय विधान ही मानना चाहिये।

बलिने स्वर्गपर अधिकार कर लिया था। उस समय देवता भारी

विपत्तिमें पड़ गये थे। इस विपत्तिसे छुटकारा पानेका भी उन्हें कोई उपाय नहीं सूझता था। स्वर्गसे पतन होता है पुण्य क्षय होनेपर या कोई बड़ा प्रमाद किये जानेपर। जैसे राजा नहुष जब स्वर्गमें अल्पकालके लिए इन्द्र हुए तो प्रमादवश ऋषियोंसे अपनी पालकी उठवानेमें प्रवृत्त हो गये।

बलि और उनके अनुचर अप्रमत्त थे। उनसे कोई प्रमाद होगा, इसकी सम्भावना नहीं लगती थी। उनके पुण्य क्षीण होनेके स्थानपर बढ़ते जा रहे थे; क्योंकि मनुष्योंको पुण्यमें लगे रहनेको दैत्योंने लगभग विवश बना रखा था। अतः मनुष्योंके पुण्योंकी प्राप्तिमें वे बहुत बड़ा भाग पाते जा रहे थे।

देवता स्थूल देह तो होते नहीं। उनका ज्योतिर्देह यज्ञीय भागसे पुष्ट होता है। इसीलिए देवता घ्राणग्राही माने गये हैं। अर्थात् हम-आप जैसे भोजनसे पुष्ट होते हैं और भोजन कुछ दिन न मिले तो जीवित न रहें, ऐसे ही देवता सुगन्धिसे पुष्ट होते हैं। दुर्गन्धि उनके लिए वैसी ही है, जैसे हमारे-आपके लिए सड़ी, हानिकारक वस्तुएँ।

हम-आप चाहे जहाँ, चाहे जिस खेत या दूकानसे कोई वस्तु उठाकर खा नहीं सकते। वस्तुएँ तो ससारमें बहुत हैं। बाजार और होटल खाद्य पदार्थोंसे खाली नहीं हो गये; किन्तु लाखों लोग भूखे या आधे पेट रहनेको विवश हैं या नहीं? वे चाहे जहाँसे कुछ उठावें तो चोर माने जायँगे, दण्ड पावेंगे।

देवता गन्धग्राही तो हैं; किन्तु उनकी कठिनाई मनुष्यसे अधिक है। वे मनुष्योंके समान नवीन उपार्जन नहीं कर सकते। अतः मूल्य देकर कोई वस्तु क्रय नहीं कर सकते। उनके पूर्वकृत पुण्यकी पूंजी स्वर्गमें जमा है। उसके भोग उन्हें स्वर्गमें ही मिल सकते हैं। उससे चाहे जहाँ वे भोग नहीं पा सकते।

मनुष्य जो यज्ञ करता है, धूप जलाता है, पुष्पादि अर्पण करता है, भोग (नैवेद्य) लगाता है, उसकी सुगन्ध देवताओंको पुष्ट करती है; क्योंकि वह उन्हें अर्पित की गयी होती है। बिना अर्पणकी गयी वस्तुकी सुगन्ध देवता स्वयं नहीं ले सकते। ऐसा करना उनके लिए चोरी होगी। मनुष्य उन्हें कुछ अर्पण क्यों करे, जब वे किसी पदपर नहीं रहे। मनुष्यका कोई भला-बुरा वे करनेकी स्थितिमें ही नहीं हैं।

सुमेरु स्वर्ण पर्वत है, यह आपको बहुत भव्य लगता होगा; किन्तु जिस किसीको गर्मियोंमें अथवा शीतकालमें ही संगमरमरके खुले फर्शपर कुछ देर चलना पड़ा होगा, वही जानता होगा कि फर्श कितना कष्ट देता है। स्वर्ण तो संगमरमरसे अधिक उष्ण तथा शीतल होनेवाली धातु है।

वृक्ष, लताएँ और तृण भी बिना मिट्टीके न उगते और न जीवित रहते। उत्तर भारतके पर्वतोंपर वृक्ष इसलिए हैं कि उन पर्वतोंमें पत्थरोंके साथ मिट्टी भी है। दक्षिण भारतमें अनेक ठोस पत्थरके पर्वत हैं। उनपर तिनका भी नहीं उगता। ठोस स्वर्णका पर्वत होगा तो उसपर वृक्ष या तृण उगेगा ?

सुमेरुपर चारों दिशाओंमें लोकपालोंकी पुरियाँ हैं और उनमें उद्यान हैं; किन्तु उनपर तो दैत्योंने अधिकार कर लिया था। देवताओंको तो उसी पर्वतकी छिपी गुफाओंमें रहना था। चूहेकी भाँति बिलोंमें छिपे रहनेकी यह स्थिति किसीके लिए भी बहुत कष्टप्रद है और देवताओंके लिए तो अधिक; क्योंकि उन्हें बहुत विलासिताका जीवन व्यतीत करनेका अभ्यास पड़ा होता है।

देवताओंको मनुष्योंके समान अन्न-जलकी आवश्यकता भले न होती हो; किन्तु क्षुधा-पिपासा उन्हें लगती है। इसीलिए देवपूजनमें उन्हें नैवेद्यके साथ जल भी अर्पित किया जाता है। अब सुमेरुकी गुफाओंमें छिपे देवताओं-को न आहार-गन्ध मिल सकती थी और न जलकी गन्ध। उन्हें भूख-प्यासका कष्ट लगातार भोगते रहना था।

देवताओंने अमृत पिया था। वे अमर थे। यह उनका अमरत्व उनके लिए विडम्बना बन गया था। वे न मर सकते थे और न मूर्छित हो सकते थे। कष्टसे छुटकारेके लिए प्रकृतिका वरदान हैं मूर्छा और मृत्यु; किन्तु देवता इससे भी वञ्चित हैं। उन्हें लगातार कष्ट सहना था।

अन्तःकरण देवताओंके भी हमारे-आपके ही समान होता है; क्योंकि पुण्यात्मा मनुष्य ही तो देह त्यागकर देवता बनता है। स्थूल शरीर बदलनेसे मन, बुद्धि, चित्त या अहङ्कार बदला नहीं करता। इसलिए मनुष्योंके समान ही देवताओंमें भी मानापमानकी प्रतिक्रिया होती है। उनमें भी काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा ईर्ष्या-द्वेष होते हैं। उनमें भी अहंता-ममता होती है।

सुमेरुकी गुफाएँ कोई महानगर नहीं थीं। देवता सब एक ही गुफामें आ भी नहीं सकते थे और वे गुफाएँ परस्पर बहुत समीप भी नहीं थीं। अवश्य ही देवताओंने अपनी पत्नियोंको साथ रखा था। लेकिन परस्पर वे सब लोग बहुत कम मिल पाते थे और एक साथ तो सब मिल सकते ही नहीं थे।

स्वजनोंसे, समाजसे न मिल पानेकी यह विवशता बहुत कष्ट देती है। आप अपनी इच्छासे वर्षों किसीसे न मिलें, किसी भवन या कमरेमें अपनेको बन्द करलें तो आपको कष्ट कम होगा। मैं कुछ साधकोंको जानता हूँ, जिन्होंने कई-कई वर्ष अपनेको किसी कमरेमें बन्द रखा और किसीसे नहीं मिले; किन्तु सुरोंकी स्थिति तो बन्दीगृहमें बन्द होने जैसी हो गयी थी। इस स्थितिके कष्टका अनुभव वही कर सकता है जो कारागारमें एकान्तवासको (सेलमें) विवश बना दिया गया हो और कुछ सप्ताह इस अवस्थामें रहा हो।

कारागारके बन्दीके बन्दी रहनेकी सीमा होती है। वह सीमा स्वयंमें एक आश्वासन होती है। यह भी सुरोंको प्राप्त नहीं थी। कितने समयतक उन्हें यह गुफाओंमें निर्वासनका जीवन व्यतीत करना होगा, कोई अनुमान नहीं था।

सुर परस्पर मिल भी पाते तो भी कोई सुखद सम्वाद उन्हें पानेकी आशा नहीं थी। देवगुरु वृहस्पति भी उनसे मिल नहीं रहे थे। वे महर्लोकमें चले गये थे। उनके पास जब कोई उपाय नहीं, प्रतीक्षा ही करनी है तो अपने यजमानोंसे पृथक रहना ही उन्होंने उपयुक्त माना था।

ऐसा नहीं था कि असुरोंने पहिली बार ही अमरावतीपर अधिकार किया हो और अमरोंको भागकर छिपना पड़ा हो। ऐसी परिस्थिति तो अनेक बार बनी थी; किन्तु इस बारकी परिस्थिति सर्वथा भिन्न थी।

जब जब होइ धरमकी हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी॥
तब तब प्रभु धरि मनुज सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥

श्रीरामचरितमानसने भगवानके अवतारका यहाँ जो कारण बतलाया

है, वह कोई कारण ही उपस्थित नहीं था। धर्म तो चारों पैरोंसे पूर्ण था। असुर बढ़े अवश्य थे; किन्तु वे न अधम रहे और न अभिमानी ही। वे तो धर्मात्मा और विनम्र बन गये थे। ब्राह्मण, गायें, पृथ्वी सब सुखी थे। केवल सुर अवश्य कष्ट पा रहे थे; किन्तु वे कृपानिधि सुरसहायक अथवा देवपक्षपाती तो हैं नहीं।

सुरोंको संकटके समय सदा श्रीहरि सहायक रूपमें मिले थे; किन्तु मिले इसलिए थे कि असुर अत्याचारी बन गये थे। वे भगवद्भक्तों, तपस्वी ऋषि-मुनिजनोंको उत्पीड़ित करते थे। श्रीहरि भक्तवत्सल, ब्रह्मण्यदेव, श्रुति-सेतु-संरक्षक हैं।

इस बार असुरोंने अपने शील-स्वभावको ही परिवर्तित कर लिया था। वे ऐसा कुछ नहीं कर रहे थे जो श्रीनारायणको अप्रिय हो। इसलिए श्रीहरि केवल इस कारण तो असुरोंके विरुद्ध कुछ करनेवाले नहीं कि असुर उनकी पूजा-अर्चा नहीं करते। असुरोंने उनकी पूजा-अर्चाका विरोध नहीं किया।

सुरोंकी संकटमें एकमात्र आशा श्रीनारायण और इस बार वे भी तटस्थ। उनसे भी सहायता प्राप्त होनेकी कोई सम्भावना नहीं। इस सर्वथा असहाय स्थितिने सुरोंकी वेदना सीमाहीन बना दी थी।

सुर स्वयं सीधे कभी भी श्रीनारायणतक पहुँच नहीं पाते हैं। ब्रह्मलोकतक ही उनकी गति है। उससे आगे तो उन्हें ब्रह्माजी ले जायँ तो जा पाते हैं। उन्होंने बार-बार देखा है कि बैकुण्ठ हो या क्षीरसागर, श्वेतद्वीप हो या गर्भोदधि, ब्रह्माजी भी श्रीनारायणतक पहुँच नहीं पाते हैं। इन स्थानोंतक जाकर भी स्तवन करना पड़ता है और तब श्रीनारायण कृपा करके प्रकट होते हैं। उन पुरुषोत्तमको अपने प्रयत्नसे नहीं पाया जाता। वे तो कृपैकलभ्य हैं।

सुर स्वयं उनतक पहुँच नहीं सकते और उनको कोई आशा नहीं है कि वे गरुड़ध्वज उनकी सहायता करेंगे। देवताओंमें भक्ति होती नहीं। भक्ताचार्य यदि सुरोंमें कोई हैं भी तो यमराज हैं और बलिने उनको छेड़ा ही नहीं। वे महिषवाहन अपनी यमपुरीमें पूर्ववत् विराजमान अपना कार्य

कर रहे हैं। वैसे भी यमराज तटस्थ वृत्तिके हैं। इन्द्रके शासनमें वे कभी रहे नहीं और न इन्द्रके साथ उनकी कोई विशेष सहानुभूति है।

सुर श्रीनारायणसे सहायता पानेकी आशा इस कारण भी नहीं कर सकते; क्योंकि श्रीनारायण तो सदासे भक्त-पक्षपाती हैं। भक्तवत्सल प्रसिद्ध हैं वे और उन्हें प्रह्लाद अत्यन्त प्रिय हैं। यदि किसी प्रकार श्रीहरितक सुर अपनी पुकार पहुँचावें भी तो उन्हें आशंका है कि बलि अपने पितामह प्रह्लादतक सहज ही पहुँच सकते हैं और न भी पहुँचें तो भी श्रीनारायण अकारण प्रह्लादके पौत्रके विरुद्ध कुछ करेंगे नहीं।

देवासुर संग्राममें श्रीहरिने सुरोंकी सहायता की थी; किन्तु तब तो श्रीहरिने ही अमृत-मन्थन कराया था और उन्होंने स्वयं सुरोंको अमृत पिलाया था। असुर आक्रमण कर बैठे, तब श्रीनारायण सुरोंके साथ ही थे। उस समय भी प्रह्लाद आ जाते तो विष्णु भगवान क्या करते, यह कहना कठिन था; किन्तु प्रह्लादने कभी पौत्रका अन्याय पक्ष समर्थित नहीं किया। इस समय तो बलि कोई अन्याय-अधर्म भी नहीं कर रहे हैं। अतः बलिके विरुद्ध श्रीरमानाथसे कोई आशा करनेको स्थान ही नहीं है।

असहाय संकटमें पड़ा व्यक्ति सब ओर हाथ-पैर मारता है। जिससे आशा न हो, उसे भी पुकारता है। अतः आशा हो या न हो, सुरोंको श्रीनारायणसे ही पुकार करनी चाहिये, यह वे समझते हैं। दूसरा कोई इस संकटसे उन्हें बचा नहीं सकता, इसमें उन्हें सन्देह नहीं है।

भगवान विष्णुतक पहुँच कैसे हो? इसी प्रश्नका समाधान सुरोंको मिल नहीं रहा है।

हरि और हर नित्य अभिन्न हैं; किन्तु शिव तो अधिक दुर्धर्ष हैं। वे तो सुर-असुरका कोई भेद कभी करते नहीं। लेकिन असुर उनके आराधक हैं। असुरोंपर भगवान गणपति और जगदम्बा सिंहवाहिनी सानुकूल हैं। सुरोंने तो उनकी कभी सेवा नहीं की। समुद्र-तन्थन हुआ तो उन्हें हलाहल-पानको भले प्रेरित किया, अमृत पीनेकी बारी आयी तो उनका स्मरण नहीं किया।

वैसे भी वे चन्द्रशेखर प्रलयङ्कर हैं। उनके गण हैं भूत, प्रेत, पिशाच, डाकिनी-शाकिनी। इन सबकी मैत्री है असुरोंसे। यक्षपति कुबेरपर महेश्वरकी प्रीति है।

शिव प्रायः अन्तर्मुख रहते हैं। उनकी अन्तर्मुखता भग्न हो सके, ऐसा उग्र तप देवताओंके वशका नहीं है और इन दिनों तो कैलास असुरोंका आराधना-गृह होगया है। पहिले वहाँ दानवेन्द्र मयके ही मिलनेकी सम्भावना रहती थी, अब तो कोई असुर नायक कभी मिल सकता है।

महेश्वर सहायक होंगे, इसकी कोई आशा सुरोंको नहीं लगी। असुरोंके सब कार्य निर्विघ्न पूर्ण हो रहे हैं, इसका अर्थ ही है कि गणाधिप उनपर सुप्रसन्न हैं और महाशक्ति सानुकूल न होतीं तो असुरोंको यह अमित तेज, पौरुष प्राप्त होता ?

असुरोंके आचार्य शुक्र परम माहेश्वर तो हैं ही, वे जगदम्बाके सभी स्वरूपोंको सन्तुष्ट करनेमें निपुण हैं। तान्त्रिक आराधनाओं और अभिचारोंका ज्ञाता शुक्रसे अधिक दूसरा कौन होगा। अतः उन असुराचार्यके प्रसन्न रहते असुरोंके विपक्षमें भगवान धूर्जटि या महाशक्ति अथवा गणेशसे कोई सहायता सुरोंको मिल नहीं सकती।

संकटमें सुर प्रायः ब्रह्मलोक दौड़ते रहे हैं; किन्तु इस बार उन्होंने यह प्रयास भी नहीं किया; क्योंकि उन्हें इस बार ब्रह्माजीसे भी कोई आशा नहीं लगी।

असुरोंमें अनेक ब्रह्माजीके आराधक हैं। उनमें अनेकोंने ब्रह्माजीसे वरदान पाया है। ब्रह्माजीके लिए जैसे सुर, वैसे असुर। दोनों ब्रह्माके पौत्र कश्यपकी सन्तान। ब्रह्मा क्यों इनमें किसी एकका पक्षपात करें ?

ब्रह्माजी सृष्टिकर्ता हैं और वेदमूर्ति हैं। उनकी मुख्य चिन्ता है सृष्टिका संरक्षण तथा श्रुति-परम्परा। असुरोंके विरुद्ध वे सुरोंका तब साथ देते हैं, जब असुर काल-मर्यादाको भंग करके पृथ्वीपर धर्म नष्ट करने लगते हैं और श्रुति-परम्परा चौपट करनेपर तुल जाते हैं। इस बार तो असुर वह सब कर रहे हैं जो करना ब्रह्माजीको प्रिय है। तब स्वर्गमें सुर रहें या असुर, ब्रह्माजी क्यों हस्तक्षेप करें।

असुर ब्रह्मलोक नहीं गये। अपवाद रूप किन्हीं विशिष्ट असुरोंको छोड़कर सामान्यतः जा भी नहीं सकते; किन्तु बलिकी ब्रह्मलोकपर अधिकार करनेकी कोई इच्छा भी नहीं थी। ब्रह्माजीमे कुछ पानेकी बात भी उनके मनमें नहीं उठी। बलि दृढ़ निष्ठावान थे और उनकी निष्ठा अपने गुरुदेव शुक्राचार्यमें सुदृढ़ थी। अतः उनकी दृष्टि ही किसी दूसरी ओर नहीं गयी।

दृढ़ निष्ठा, अविचल गुरुभक्ति परमधर्म है। इस धर्मका प्रसाद बलिको प्राप्त था। इसी धर्मका प्रताप था कि बलि अजेय, अदम्य हो गये थे। सुरोंको उनके विरुद्ध कहीं कोई किञ्चित् भी सहारा देनेवाला नहीं दीख रहा था।

ब्रह्मलोक जानेकी बात ही सुरोंमें नहीं उठी। इस बार भाराक्रान्त धरादेवी उनके मध्य कहाँ थीं, जिनको आगे करके वे ब्रह्माजीके समीप जाया करते थे।

सुरोंने अमृतमें ब्रह्माजीको भी भाग नहीं दिया। उन पितामहको अमृतकी अपेक्षा नहीं थी; किन्तु सुधा-वितरणके समय उन्हें स्मरण तो किया जाना था। जब यह भी सुरोंसे नहीं बन सका, अब वे किस मुखसे उन प्रजापतिके पास जानेका विचार करते ?

अमरपुरीसे पलायनके समय शक्रने और सुरोंने भी आशा की थी कि अधिकार पाकर असुर उन्मद हो उठेंगे। वे स्वभावसे अभिमानी अपने आचार्यका अपमान करेंगे। उनकी उच्छृङ्खलतासे मर्यादाएँ भंग होंगी। इस प्रकार शुक्राचार्य उनका समर्थन छोड़ देंगे। ऋषिगण उनसे क्रुद्ध होंगे। तब सहज ही सृष्टिकर्ता और श्रीहरि असुरोंके उपशमको उद्यत हो जायँगे। सुरोंको शीघ्र अपना त्रिविष्टप बिना परिश्रम प्राप्त होजायगा।

सदा किसीकी आशा सफल नहीं होती। सुरोंकी आशा भी नहीं हुई। उसके सर्वथा विपरीत बलि अधिक विनम्र अनुगत बन गये थे शुक्राचार्यके। असुर अधिकार पाकर अधिक उत्तरदायी बन गये थे। ऋषि-मुनियोंका सत्कार-सम्मान करना असुरोंने आवश्यक कर्तव्य बना लिया था। फलतः श्रीहरि और सृष्टिकर्ता यदि प्रत्यक्ष सन्तुष्ट नहीं थे तो असन्तुष्ट भी नहीं थे। उनके द्वारा असुरोंको अमरावतीसे हटाये जानेकी आशा नहीं रही।

यज्ञ-भागवञ्चित देवता दिनोंदिन क्षीण होते जा रहे थे। पृथ्वीपर मनुष्य उनका स्मरण ही नहीं करते थे। मनुष्य आहुतियाँ देते थे, स्तुति करते थे इन्द्रकी, अग्निकी, वायुकी, वरुणकी, प्रजापतिकी; किन्तु ये तो पद हैं। इन पदोंपर जो थे, उनकी स्तुति, उनको आहुति।

मनुष्यका यह सदाका स्वभाव है कि वह पदोंका सत्कार करता है। उसीसे उसका प्रयोजन रहता है। मन्त्री, न्यायाधीश, प्रशासक जो पदपर है, उसका सत्कार। जो पदसे हट चुका, उसका सत्कार भला कोई क्यों करे ?

पद वञ्चित देवता—बेचारे देवता दिनों-दिन दुर्बल होते जा रहे थे और उन्हें अपनी विपत्तिका कहीं ओर-छोर दीख नहीं रहा था। वे कहींसे कोई सहायता पानेकी क्षीण आशा भी नहीं देख पाते थे।

कश्यप-अदिति—

अखिलात्मा स्वयं ही अनन्त आश्चर्योंका धाम है। अतः सृष्टिके मूलकी ओर हम जितना बढ़ते हैं, हमें आश्चर्योंका अद्भुत क्रम मिलता है। इन्हीं आश्चर्योंमें हैं प्रजापति कश्यप। उनकी सन्तानोंमें देव, दैत्य, दानव, पशु-पक्षी आदि सब हैं। यह मत पूछिये कि यह सम्भव कैसे हुआ। कश्यपकी विभिन्न पत्नियोंसे भिन्न-भिन्न प्रकारकी सन्तानें हुईं। यहीं दूसरा बड़ा आश्चर्य कि ये सब पत्नियाँ सगी बहिनें—एक ही माता-पिताकी सन्तानें थीं।

मूल बीजका अभी जीववैज्ञानिक ठीक नाम नहीं रख सके हैं। अभी वैज्ञानिक सन्देहमें हैं कि बीज स्त्रीमें है या पुरुषमें; किन्तु पुराण तो स्पष्ट हैं कि बीज पुरुषमें है और अनुकूल परिस्थितिमें वह स्त्री-निरपेक्ष अर्थात् बिना माताके उदरमें पहुँचे भी शरीर प्राप्त कर सकता है।

आजका विज्ञान क्रोमोसोम, जीन्स आदिकी खोज तो अवश्य कर चुका है; किन्तु अभी इस विषयमें अन्धकारमें है कि एक ही बीज माताके भेदसे विभिन्न आकृति पा सकता है या नहीं। वैसे एक सीमातकके ऐसे परिवर्तनसे हम-आप बहुत दिनोंसे परिचित हैं कि खर और अश्वके संयोगसे अश्वतरी (खच्चर) पैदा होती है। लेकिन महर्षि कश्यपकी सन्तान देव-दानव, चतुष्पाद और जलचर भी हैं। साथ ही उनमें यह असमर्थता खच्चरोंके समान नहीं है कि वे सन्तान न उत्पन्न कर सकें। उनकी सन्तान-परम्परा सहस्रों वर्षोंसे चल रही है।

मनुष्य शरीरमें अनेक प्रकारके कीड़ोंके बीज पहुँचते हैं और वे कीड़े मनुष्यके शरीरमें पलते-बढ़ते हैं, यह आप अवश्य जानते होंगे। सम्भव है, आपने सुना हो कि मनुष्य नारीसे सर्प या सर्पके अण्डे कई बार उत्पन्न हुए हैं।

महर्षि कश्यपके समान आगे यह परम्परा नहीं चली कि एक पिताकी सन्तान मनुष्य, पशु, पक्षी, जलचरादि हों। अतः महर्षि कश्यपको आदि-बीजकी आश्चर्यजनक शक्तियोंसे युक्त माननेको हम बाध्य हैं।

प्राणिविज्ञान इसे मानता है कि मूल बीज एक बार कोई विशेषता ग्रहण कर लेता है तो उस विशेषताकी परम्पराको बनाये रखता है। जैसे अब संसारमें मनुष्यकी चार जातियाँ मानी जाती हैं—1 आर्य, २. मंगोलियन, ३ श्वेत, ४. हब्शी। लेकिन यह भी स्वीकार किया जाता है कि मनुष्यके मूल पूर्वज एक ही थे। उनका नाम पुराण मनु बतलाते हैं। अन्यत्र उन्हें आदम कहा गया।

इस बातपर बहुत कम ध्यान दिया गया कि भारतीय मूलमें ये चारों जातियाँ हैं और अब भी एक ही भारतीय माता-पिताकी सन्तानोंमें इनमें-से दो या तीनके लक्षण मिल जाते हैं। इसका अर्थ है कि भारतीय मूलमें ही आदि कालसे सभी मानव जातियोंके विकासका बीज है।

पुराणोंके अन्वेषणसे बतलाया जा सकता है कि कब किस पूर्व पुरुषसे आजकी कौन-सी जाति उत्पन्न हुई। जैसे बेन राजाके शरीर-मन्थनसे निषाद और पृथु उत्पन्न हुए। इनमें-से पृथु तो पिता-पितामहके समान आर्य परम्परामें थे; किन्तु निषाद हब्शी परम्पराका मूलपुरुष हुआ।

पृथुतक आते-आते परिवर्तन इस अल्प सीमतक पहुँच गया था; किन्तु महर्षि कश्यप तो आदिपुरुषोंमें थे। सृष्टिकर्ता ब्रह्माजीके मानस पुत्रोंमें हैं महर्षि मरीचि और उनके पुत्र कश्यपजी।

ब्रह्माजीने नारियोंमें केवल शतरूपाको उत्पन्न किया था। अतः ब्रह्माजीके मानस पुत्रोंका विवाह बहुत पीछे मनुकी सन्तान-परम्परामें उत्पन्न कन्याओंसे हुआ। इस परम्पराकी चर्चामें माता अदिति (दिति) की भी परम्परा जान लेनी चाहिये।

स्वायम्भुव मनुके दो पुत्र थे—उत्तानपाद और प्रियव्रत। इनमें-से उत्तानपादके पुत्र हुए ध्रुव। ध्रुवकी वंश-परम्पराके क्रममें वत्सर, पुष्पार्ण, व्युष्ट, सर्वतेजस, चक्षु, मनु, उल्मुक, अङ्ग, बेन और पृथु। इस प्रकार ध्रुवसे बारहवीं पीढ़ीमें पृथु। पृथुकी वंश-परम्पराका क्रम है विजिताश्व, वर्हिषद (इन्हींका दूसरा नाम प्राचीन वर्हि) प्रचेता और दक्ष। इस प्रकार पृथुसे पाँचवीं पीढ़ीमें दक्ष हुए। इन प्रजापति दक्षके साठ कन्याएँ थीं। उनमें-से दिति, अदिति, दनु आदि सोलह कन्याओंका विवाह कश्यपजीसे हुआ।

ब्रह्माजीके मानस-पुत्र हैं महर्षि मरीचि और स्वायम्भुव मनु भी। कश्यपजी ब्रह्माके पौत्र हैं; किन्तु दिति, अदिति आदि ब्रह्माजीके पौत्र (मनुके पुत्र राजा उत्तानपादसे सत्रहवीं पीढ़ीमें उत्पन्न दक्षकी कन्याएँ हैं।*

देवता, दैत्य, उपदेवता, नाग आदि जिनकी सन्तानें हैं, वे महर्षि कश्यप स्थूल शरीरधारी सामान्य पुरुष होंगे, यह माननेकी भूल तो नहीं ही करेंगे। महर्षि कश्यपका आश्रम कहीं पृथ्वीपर नहीं था। ब्रह्मलोक (सत्यलोक) तपोलोक, जनलोक और महर्लोकमें जो ऋषि-मुनि तथा तपस्वी रहते हैं, उनके शरीर देवताओंसे भी अधिक ज्योतिर्मय तथा सत्त्वगुण प्रधान होते हैं। यद्यपि महर्लोक ब्राह्मी प्रलयके समय जनहीन हो जाता है; किन्तु उसके निवासियोंकी मृत्यु नहीं होती और न महर्लोक नष्ट होता। महर्लोक अत्यन्त सन्तप्त हो जाता है प्रलयके समय। फलतः उसके निवासी जनलोक चले जाते हैं। ब्राह्मी प्रलय स्वर्गतककी ही हुआ करती है। यद्यपि महर्षि कश्यपका आश्रम स्वर्गकी सीमामें ही है; किन्तु वे हैं ब्रह्मलोकके। अतः ब्राह्मी प्रलयमें वे भी जनलोक चले जाते हैं। ब्रह्मलोक भी वे इच्छा करते ही जा सकते हैं।

अदिति-दिति आदि यद्यपि मनुवंशमें मनुकी अठारहवीं पीढ़ीमें उत्पन्न हुई थीं; किन्तु इनके शरीर भी मानवोंके समान पार्थिव नहीं थे। ये सब दक्ष-पुत्रियाँ देवियाँ थीं। इसीलिए इनके विवाह देवताओंमें ही हुए।

सतयुगमें पृथ्वीका वातावरण इतना सत्त्वगुण प्रधान होता है कि पृथ्वीपर भी देवसृष्टि होती है, रहती है। महर्षि अत्रि और वशिष्ठ ब्रह्माजीके मानसपुत्र हैं; किन्तु दोनोंने पृथ्वीपर भारतवर्षमें बस जाना स्वीकार किया। महर्षि अत्रिके पुत्रोंमें चन्द्रमा देवता हैं और दुर्वासाजी तथा दत्त दिव्यदेह हैं।

महर्षि वशिष्ठकी पत्नी अरुन्धतीजी और महर्षि अत्रिकी पत्नी अनुसूयाजी सगी बहिनें थीं। दोनोंका जन्म महर्षि कर्दमकी पत्नी देवहूतिजी

---

* ब्रह्माजीके मानसपुत्र दक्षकी कन्या सती थीं। वीरभद्रने दक्षको मार दिया था। फिर बकरेका सिर लगाकर उन्हें शङ्करजीने जीवित किया। पीछे उन्होंने वह देह त्याग दिया। वही दक्ष पुनः प्रचेतासे उत्पन्न हुए, अतः उन्हें प्राचेतस दक्ष कहते हैं।

(कपिलकी माता) से हुआ था। महर्षि कर्दम ब्रह्माजीके मानसपुत्र थे; किन्तु उन्होंने गुजरातके सिद्धपुरमें आश्रम बनाया था। देवहूतिजी ब्रह्माजीके मानसपुत्र स्वायम्भुव मनुकी कन्या थीं। मनुकी राजधानी वर्हिष्मतीपुरी वर्तमान कासगंज है।*

प्रजापतियोंका भी अध्यक्ष नियुक्त किया था ब्रह्माजीने दक्षको। वे भगवान शङ्करके द्वेषके कारण मारे भले गये; किन्तु शिवने ही उन्हें जीवित किया था। वे समर्थ थे। अजमुख शरीर उन्हें अपमानजनक लगा, अतः उस शरीरको उन्होंने छोड़ दिया और स्वेच्छासे ही प्रचेताओंके यहाँ पुत्र रूपसे शरीर धारण किया।

इस प्राचेतस रूपमें भी दक्ष इतने समर्थ थे कि देवर्षि नारदको कहीं स्थिर न रहनेका शाप उन्होंने दिया है। वे पार्थिव शरीरधारी मानव नहीं हैं और न उनके पिता प्रचेता सामान्य मानव थे। प्रचेताओंने समुद्रमें डूबे रहकर दस सहस्र वर्षतक तप किया था। पार्थिव शरीरधारी मनुष्यके लिए यह सम्भव ही नहीं है।

तात्पर्य यह है कि मनुकी वंश-परम्परामें उत्पन्न होकर भी प्रचेतागण ही दिव्यशरीरी थे। उनके पुत्र दक्ष तो देवता होकर पुनः प्रजापति हो गये। भगवान ब्रह्माने ही दक्षको सन्तान उत्पन्न करके प्रजावर्धनकी प्रेरणा दी। अतः दक्षकी सब कन्याएँ देवियाँ—देवशरीरी ही हैं।

देवमाता अदितिकी सन्तान देवता हैं। उन अदिति-पुत्रोंमें ही जो संख्यामें बारह हैं, सबसे छोटे वामन हैं। वामनावतार देववर्गमें है।

पुराणोंकी वर्णन शैलीको यहीं समझ लेना चाहिये। पुराण आधिदैवत एवं अध्यात्म जगतका भी ऐसा ही वर्णन करते हैं, जैसे वह मनुष्योंका वर्णन हो। श्रीमद्भागवतमें आप धर्मका और अधर्मका वंश-वर्णन देखें+ तो यह तथ्य बहुत स्पष्ट हो जायगा।

देवता किस प्रकार स्थित हैं और किस प्रकार व्यवहार करते हैं, यह

---

* वर्हि शब्दका अर्थ भी कुश-कास ही है।

+ 'भागवत-परिचय' में वे दोनों वंश पृथक दिये गये हैं।

ठीक-ठीक समझानेके लिए ही पुराणोंने उनका वर्णन मनुष्योंके समान किया है। जैसे बालकोंको कुछ समझानेके लिए पेड़-पौधों, पशु-पक्षियोंकी कहानियाँ पुस्तकोंमें हैं। इस शैलीमें महर्षि कश्यप तथा देवमाता अदितिका भी वर्णन है।

महर्षि कश्यप तो स्वभावसे तपस्वी हैं। उनकी विभिन्न पत्नियोंके पृथक-पृथक आश्रम हैं। सतयुगमें प्रायः यही होता था कि आश्रम नारियोंके होते थे। वे भले पर्णकुटी हों या गुफा हों। उनमें फल, कन्द एकत्र रखना, अग्नि निरन्तर जलाये रखना, अग्निको समयपर आहुति देना, अतिथि-सत्कार करना नारीका कर्तव्य था। वही वास्तवमें गृहस्वामिनी थी। इसीसे उसे गृहिणी कहा गया है।

एक पुरुषके कई पत्नियाँ हों (जैसा कि सतयुगमें प्रायः होता था ; क्योंकि जनसंख्या अत्यल्प होनेसे उसकी वृद्धि अभीष्ट थी) तो उन पत्नियोंके पृथक-पृथक आश्रम होते थे। वे परस्पर निकट भी हो सकते थे और बहुत दूर भी। पुरुष तो तपस्वी थे। वे अधिकांश दिनों कहीं सरिता तटपर या पर्वतपर तपोनिरत रहते थे। महीनों अनाहार ध्यानस्थ रहते थे। तपस्यासे उठनेपर वे किसी भी पत्नीके यहाँ चले जाते थे और वहाँ वे कबतक रहेंगे अथवा वहाँसे पुनः तपस्या करने जायँगे या किसी अन्य पत्नीके आश्रम—यह उनकी इच्छापर निर्भर था।

महर्षि कश्यपकी पत्नियोंके आश्रम बहुत दूर-दूर थे; क्योंकि उन सबके शील-स्वभावमें बहुत अन्तर था। उनकी सन्तानोंमें तो और भी अधिक अन्तर था। उनमें-से केवल दितिका आश्रम दनुसे कुछ समीप था।

सभीके आश्रमोंमें यज्ञशाला थी; क्योंकि महर्षि कश्यप किसीके भी आश्रममें आनेपर प्रायः यज्ञशालामें ही अधिक समय रहते थे। महर्षिको यज्ञ, तर्पण, अतिथि और गौका सत्कार प्रिय था। अतः उनकी सभी पत्नियोंके आश्रमोंमें यह सब चलता रहता था।

आज कलियुगमें भले भिन्न स्थिति हो गयी हो; किन्तु प्राचीन कालमें वैदिक परम्पराको माननेवाला मानव गृहस्थ भी विलासी नहीं था। वैश्य और क्षत्रिय भी संयमी, तितीक्षु, तपस्वीप्राय थे तो ब्राह्मण तो त्यागी, तपस्वी होता ही था।

स्मरण रखना चाहिये कि अधिकांश ऋषि-मुनि गृहस्थ थे, वनवासी थे और तपस्या ही उनका जीवन था। महर्षि कश्यप तो मानव ऋषि नहीं थे। वे दिव्य देह थे और धरापर रहते भी नहीं थे; किन्तु स्वर्गके विलासमें उन्हें कोई रुचि नहीं थी।

स्वर्गपर देवताओंका अधिकार रहे या दैत्योंका, दोनों ही कश्यपजीके पुत्र थे। अतः कश्यपजी स्वर्ग रहना चाहते तो सदा रह सकते थे; किन्तु उन्हें स्वर्ग रहना नहीं था। वैसे स्वर्गमें शक्रके भवनके समीप देवमाता अदितिका एक आश्रम था। जब स्वर्गपर देवताओंका अधिकार रहता था तो देवी अदिति उसमें रहती थीं। जब स्वर्गपर असुरों (दैत्यों) का अधिकार हो जाता था तो वे उसे त्यागकर मेरु पर्वतपर बने अपने दूसरे आश्रममें चली जाती थीं; किन्तु दैत्य अपनी विमाता अदितिका न अपमान करते थे, न उनके आश्रमपर अधिकार करते थे। अदिति स्वर्गके अपने आश्रममें रहना चाहतीं तो उन्हें न कोई रोकता और न कष्ट देता।

स्वर्गमें दैत्य माता दितिका भी आश्रम था। वे तो प्रायः उस समय भी उसमें रहती थीं, जब स्वर्गपर देवताओंका अधिकार रहता था। जब वे वर्षव्यापी सङ्कल्पात्मक अनुष्ठान कर रही थीं, देवताओंके विरोधी, इन्द्रको मारनेवाले पुत्रकी प्राप्तिके लिए तो इन्द्र उसी आश्रममें दितिकी सेवामें रहे थे। वहीं इन्द्रने दितिके सन्ध्या-कालमें सो जानेसे उनके गर्भमें प्रवेश करके उस गर्भके उनचास खण्ड कर दिये। वे ही उनचास मरुत हुए, जिन्हें इन्द्रने अपना अनुगत देवता बना लिया।

अवश्य ही स्वर्गके विस्तारमें होकर भी दैत्यमाता दितिका आश्रम देवमाता अदितिके आश्रमसे पर्याप्त दूर और भिन्न दिशामें होगा।

दैत्योंने जब अमरपुरीपर अधिकार कर लिया, तब देवी अदिति अपना स्वर्गका आश्रम छोड़कर मेरु पर्वतपर स्थित अपने दूसरे आश्रमपर चली गयी थीं। यद्यपि देवता मेरुकी गुफाओंमें ही छिपे थे; किन्तु वे माताके आश्रममें नहीं आये। विपत्तिके दिनोंमें जब माताकी सेवा नहीं की जा सकती, वे माताको कष्ट भी देना नहीं चाहते थे।

महर्षि कश्यपको कभी मेरुके शिखरपर तप करना था और कभी

स्वर्गीय गङ्गाके तटपर। स्वर्गपर किसका—उनकी किस पत्नीके पुत्रोंका अधिकार है, इसमें उनकी कोई रुचि नहीं थी। वे तपोनिरत हों तो उनके समीप जानेका साहस न उनकी कोई पत्नी करती थी और न पुत्र। तपस्याके समय वे सर्वथा एकाकी रहते थे। उनके तपमें विघ्न पड़े तो वे शाप दे सकते थे। इसलिए भी असुरोंसे पराजित देवता उनके पास नहीं जा सकते थे।

महर्षि कश्यपका तेज अपार था। वे दूसरे सूर्यके ही समान लगते थे। वे वल्कल धारण करते थे और शरीरके ऊपरी भागपर कृष्ण मृगचर्म ओढ़ते थे। कटिमें मूँजकी मोटी रस्सीकी मेखला पहिनते थे। उनका यज्ञोपवीत श्वेत ऊनसे कातकर बना होता था।

कश्यपजी यद्यपि शाप-वरदान देनेमें समर्थ थे; किन्तु उन्होंने दीर्घ-कालसे अहिंसा-व्रत ले रखा था। वे किसीको संकेतसे भी डराते नहीं थे। प्रायः तपस्वी गृहस्थ ऋषि भी अपने साथ पलाश-दण्ड रखते थे; किन्तु कश्यपजीने उसका भी विसर्जन कर दिया था।

अचानक उन्हीं दिनों जब असुरोंसे पराजित सुर सुमेरुकी गुफाओंमें छिपे रहनेको वाध्य थे, महर्षि कश्यपने अपनी तपस्या विरमित की और मेरुपर ही स्थित देवी अदितिके आश्रममें पधारे।

महर्षिने देखा कि अदितिका आश्रम स्वच्छ तो है; किन्तु उसे पल्लवों या पुष्पोंसे सजाया नहीं गया है। उसमें मंगल कलश नहीं हैं। धातु चूर्णोंसे स्वस्तिकादि मंगल चिह्न (रांगूली मंडन) भी नहीं बना है। उनकी पत्नियोंके आश्रम प्राय: उनको ऐसे नहीं मिलते थे। वे जब किसी आश्रममें पहुँचते थे, ऐसा ही लगता था कि आश्रम मङ्गलपूर्ण, उत्साहपूर्ण है। उनकी पत्नियाँ प्रतिदिन ही आश्रमको उनके स्वागतमें सजाये रखती थीं। आज अदितिका आश्रम उन्हें निरानन्द शिथिलप्राय मिला था।

अदितिने अपने लोकवन्दित पतिका स्वागत किया। उन्हें अर्घ्य दिया। आसनपर बैठाकर चरण धोये। चन्दन, पुष्प, माल्य, धूप, दीप, नीराजन आदि विधिवत पूजा की। पूजा पूर्ण करके जब देवी अदिति हाथ जोड़कर समीप बैठ गयीं, तब महर्षिने उनसे पूछना प्रारम्भ किया।

'देवि ! तुम्हारे आश्रममें नित्य समयपर अग्निदेवको आहुति प्राप्त होती रही ? कभी तुम्हारे प्रमादवश अग्निदेव अग्नि कुण्डसे तिरोहित तो नहीं हुए ?' समयपर अग्निहोत्र न हुआ हो या अग्निको बुझनेपर फिर प्रज्वलित करना पड़ा हो, यह उस समय ऐसे चिन्ताका विषय था कि इसका अपराध-बोध बहुत दिनों बना रहता था।

'आपके अनुग्रहसे ऐसा कोई प्रमाद मुझसे नहीं हुआ।' अदितिने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया।

'कोई अतिथि तुम्हारे आश्रमसे असत्कृत चला गया ?' महर्षि कश्यपने पूछा। क्योंकि आश्रम निरानन्द है और पत्नीका मुख उनके आनेपर भी उदास है, प्रफुल्लित नहीं है तो कहीं कोई कारण तो होना चाहिये। ऐसा क्या हो गया उससे कि वह खिन्न है ? अत: आगे पूछा—'कोई भिक्षुक* तुम्हारे यहाँसे निराश चला गया ? अन्तत: क्या याचना करने आया था वह ?'

'आपकी यह सेविका ऐसा प्रमाद कैसे कर सकती है।' इस बार अदितिने तनिक विस्तृत उत्तर दिया—'आपके तेज और तपका प्रसाद जिसे प्राप्त है, उसके यहाँसे कोई असत्कृत अथवा निराश कैसे लौट सकता है ? देव ! अग्नि, अतिथि, याचक और गायोंकी सेवाके प्रति यह आपकी किंकरी कभी प्रमत्त नहीं हुई। धर्मके पालनमें कोई त्रुटि आपके इस आश्रममें नहीं आयी है।'

'तब ?' अब महर्षि कश्यपने अधिक गम्भीर होकर पत्नीकी ओर देखा—'मैं तुम्हारा मुख खिन्न देख रहा हूँ। तुम्हारे मुखपर सहज प्रफुल्लता नहीं है। तुम्हारे चित्तमें कोई चिन्ता होनी चाहिये।'

---

* भिक्षुक अतिथि नहीं माना जाता। यद्यपि भिक्षुक भी अचानक बिना सूचना पहुँचता है; किन्तु भिक्षुकका पूजन एवं सत्कार नहीं किया जाता। वह तो आते ही याचना करता है। अतिथि अर्चन स्वीकार करके आहार-ग्रहणके लिए कोई शर्त रख सकता है; किन्तु उसे भिक्षाजीवी नहीं होना चाहिये।

सत्पुरुषकी चिन्ता शरीरको लेकर कम ही होती है। उसे बहुत ही अधिक ग्लानि होती है यदि धर्म-पालनमें उससे कहीं त्रुटि हो जाय। देवी अदिति दिव्यशरीर हैं। महर्षि कश्यप जैसे समर्थकी अर्धांगिनी हैं। उन्हें रोग हो नहीं सकते। भौतिक वस्तु उनकी कामनाका विषय नहीं बन सकती। वे तपस्विनी और स्वभावसे सन्तुष्ट रहनेवाली हैं। अतः उन्हें चिन्ता कोई भी सामान्य स्थिति तो दे नहीं सकती।

'तुम्हारे सब पुत्र तो सकुशल-सानन्द हैं ?' महर्षि कश्यपने अन्तिम प्रश्न किया। माताएँ अपने पुत्रोंके कष्टसे बहुधा व्याकुल होती हैं। अपना बड़ा कष्ट भी उन्हें भले व्यथित न करे; किन्तु पुत्रोंमें किसीके कष्ट, विपत्तिकी आशङ्का भी उन्हें चिन्तामें डाल देती है।

माता अदितिने मस्तक झुका लिया। उनके नेत्रोंसे बिन्दु टपकने लगे। उन्होंने धीरे-से अपने लोकपूजित पतिके श्रीचरणोंपर मस्तक रख दिया।

अदितिका पयोव्रत–

अन्ततः अमरोंको जब अपनी अतिशय दारुण विपत्तिसे परित्राणका कोई उपाय नहीं सूझा तो उन्होंने माताकी शरण लेनेका निश्चय किया।

सुरोंमें भी सबसे अधिक संकटमें इन्द्र ही थे; क्योंकि सूर्य, वरुण प्रभृति कुछकी सेवा तो असुरोंको भी चाहिये थी। वरुणको असुर अपना मानते थे। उन जलाधिपको स्वर्गमें रहना नहीं और उनके अधिकांश सेवक असुर ही हैं।

यक्षपति कुबेरपर भगवान शङ्करकी कृपाके कारण असुर उन्हें छेड़ते नहीं थे। मरुतोंको भले इन्द्रने देवत्व दिया हो; किन्तु दिति-पुत्र थे वे। अतः बलि उनका सम्मान करते थे। अग्निदेवकी आराधना आचार्य शुक्र ही करते थे। अग्निके बिना बलिके यज्ञ ही अटक जाते। इसलिए उनको भी असुर तिरस्कृत नहीं करते।

वरुण, अग्नि, वायुके अपने लोक हैं। असुरोंने उनके लोकोंपर कभी आक्रमण नहीं किया। यमराजके लोकपर आक्रमण भी अकारण था। दैत्योंमें कोई नरकमें नहीं था कि उसको निकालना आवश्यक हो और नरकमें निवास किसीका भी स्पृहणीय नहीं हो सकता था।

असुरोंने तो अर्यमाको भी नहीं छेड़ा था। प्रह्लादके पौत्रका कोई पितर पितृलोकमें हो कैसे सकता था। क्योंकि दैत्यवंशका प्रारम्भ ही हुआ हिरण्याक्ष-हिरण्यकशिपुसे, उन दोनोंका ही वध श्रीहरिने वाराह एवं नृसिंह रूप लेकर किया। बलिके पिता विरोचन इतने महान धर्मात्मा कि सुरोंने उनसे आयु-दान माँगा तो उस महामनस्वीने यह अकल्पनीय याचना भी पूरी कर दी। असुरोंमें विरोचन ही जीवित रहते ब्रह्मलोक तक जा सके थे। उनको पाकर कोई नित्यधाम भूषित ही होता। दैत्यकुलमें अब तो विरोचनके पुत्र बलि दैत्यराज थे। उन्हें पितृलोक और उसके अधिपति अर्यमासे प्रयोजन भी क्या। अर्यमा उनके लिए ऐसे ही थे जैसे सम्राट्के लिए कोई छोटा सामन्त।

सबसे अधिक सन्त्रस्त इन्द्र थे। बलिसे उन्हींकी मुख्य स्पर्धा थी। स्वर्गसे शक्र ही भागकर अत्यन्त पीड़ित थे। अतः माता अदितिके समीप वे आये। मातासे बहुत आर्त होकर उन्होंने अपनी दारुण विपत्ति सुनायी।

पुत्रको मातासे प्रार्थना नहीं करनी पड़ती। माता मूर्तिमती कृपा ही होती हैं। पुत्रका तनिक उदास मुख ही वात्सल्यमयी माताको व्याकुल बना देता है। यज्ञाहुतिके भागसे वञ्चित अनेक कालसे उपोषित इन्द्रका क्षीण शरीर देखकर माता अदिति व्यथित हो गयी थीं। इन्द्र कुछ न भी कहते तो भी माताकी कृपा तो उनका स्वत्व ही थी। अपराधी पुत्रपर भी जननीको स्नेह ही होता है। इस समय तो इन्द्र बहुत दुःखी थे, विपत्तिमें थे।

माता अदितिके पास कोई उपाय नहीं था। उन्होंने शक्रसे कहा भी—'तुम यहीं रहो। यहाँ दितिके वंशधर तुम्हें सन्त्रस्त नहीं करेंगे।' किन्तु इन्द्रको यह उचित नहीं लगा।

'पिताजी पधारें तो आप प्रार्थना करना!' इन्द्रने मातासे यह अनुरोध किया—'वे ही कोई उपाय निकाल सकते हैं।'

इन्द्र तो चले गये थे; किन्तु पुत्रकी व्यथा-कथाने माताको चिन्तित कर दिया था। स्वयं देवी अदिति कुछ कर नहीं सकती थीं। उन्हें अपने तपोनिरत पतिदेवके आगमनकी प्रतीक्षा ही करनी थी। महर्षि कश्यप सौभाग्यवश इस बार तपोविरत होनेपर अदितिके आश्रममें ही पधारे थे।

'मैंने कभी अपनी सपत्नियोंसे स्पर्धा नहीं की।' महर्षि कश्यपने जब अदितिसे उनके पुत्रोंकी कुशल पूछी तो वे बोलीं—'मेरे पुत्र निर्वासित कर दिये गये हैं। वे उपोषित हैं। मैं केवल इतना आपसे निवेदन करती हूँ कि उन्हें उनका स्थान दिला दें।'

'दितिके पुत्र भी आपकी ही सन्तान हैं। आपके लिए देव और दैत्य एक-से हैं; किन्तु अदितिने रुदन करते कहा—'मेरे पुत्र स्वर्गमें रहते हैं, तब भी दिति पुत्रोंको बहुत अधिक यज्ञ, अर्चाका भाग तो मिलता ही रहता है। इस समय मेरे पुत्रोंको तो सर्वथा उपोषित रहना पड़ रहा है। आप मुझपर कृपा कीजिये!'

'मोह-ममताकी दूसरी मूर्तिका ही नाम है माता !' कश्यपजीने पत्नीकी बात सुनकर कहा—'दिति-पुत्रोंको असावधान अज्ञ मानवोंके अविधिपूर्वक या भ्रष्ट विधि यज्ञार्चनका भाग मिलता है। यह तो उन्हें मिलना ही चाहिये। अवश्य उन्होंने विधिपूर्वक होनेवाले अर्चनादिका भी भाग बलात् ले लेना प्रारम्भ किया है, यह उचित नहीं है।'

कश्यपजीने स्वर्गका नाम नहीं लिया; किन्तु स्वर्ग मिले बिना सुर मानवोंकी श्रद्धा पा नहीं सकते, यह देवी अदितिसे अविदित नहीं था। अतः उन्होंने केवल इतना कहा—'अब मेरे पुत्र आपकी ही शरण हैं।'

'अनेक बार दैत्योंने स्वर्गपर अधिकारकी आकांक्षा की है।' महर्षि कश्यप गम्भीर हो गये—'वे स्वभावसे ही असन्तोषी हैं। मेरे मना करनेपर भी अन्ततः उन्होंने अमरावतीको बलपूर्वक अधिकृत कर लिया है तो अब पितामह ही उपाय बतला सकते हैं।'

जो व्यक्ति व्यवहारसे तटस्थ रहता है, उसे व्यवहारकी बड़ी कठिनाइयाँ भी बहुत साधारण लगती हैं। कश्यपजीने सोचा था कि भगवान ब्रह्मा सरलतासे कोई उपाय कर देंगे। तपस्या ही में लगे रहनेके कारण वे देवासुर संग्रामको भी बालकोंके दो दलोंका साधारण झगड़ा ही मानते थे। ब्रह्मलोक जाना उनके लिए कोई यात्रा नहीं थी; किन्तु समस्याकी गम्भीरताका अनुमान उन्हें तब हुआ, जब उनकी बात सुनकर ब्रह्माजी गम्भीर हो गये।

'असुर मर्यादाका अतिक्रमण करते ही रहते हैं; किन्तु इस बार उन्होंने जो मार्ग अपनाया है, उससे मेरे लिए भी समस्या उत्पन्न हो गयी है।' ब्रह्माजीने कहा—'शक्रके स्वर्ग-शासनका काल पूर्ण होनेसे पहिले ही बलिने बलपूर्वक उन्हें निर्वासित कर दिया और अब शुक्र उससे शत अश्वमेध यज्ञ कराके शतक्रतु बना देना चाहते हैं। शुक्रके नियन्त्रणमें रहकर बलि और उनके अनुगत विधिका सम्यक् पालन कर रहे हैं। अतः मेरे नियन्त्रणसे वे परे हैं। जब कोई विधि-भंग करता है, तभी विधाता उसे स्थानच्युत करनेमें समर्थ होता है।'

कश्यपजी तो पितामहके मुखकी ओर देखते रह गये। ब्रह्माजीने ही कहा—'यद्यपि यह अनुशासन-भंग ही है; किन्तु दैत्य जबतक धर्म और

ब्राह्मणोंके अनुकूल चल रहे हैं, उनको अधिकारच्युत करना मेरी शक्तिमें नहीं है। लेकिन शक्रको उचित स्थान दिलाना भी आवश्यक है। विधिके नियन्त्रकका दायित्व होता है कि उचित अधिकारीके अधिकारका संरक्षण करे। उसे कोई अधिकार-वञ्चित न कर दे। लेकिन इस समय यह संरक्षण केवल श्रीहरि कर सकते हैं। तुम उन सर्वेश्वरको सन्तुष्ट करो। तुम्हारे इस प्रयत्नसे मेरे भी कर्तव्यका निर्वाह हो जायगा।'

'मैं आज्ञापालन करूँगा।' कश्यपजीने तो सदा पितामहकी इच्छाका ही अनुवर्तन किया है। सृष्टिकर्ताका आदेश मानकर ही सर्वथा विरक्त होते भी उन्होंने इतने विवाह किये और इतने विभिन्न वर्गोंकी सन्तति उत्पन्न की। इस समय भी वे आदेशपालनको प्रस्तुत हो गये।

'क्षीरोदधिके उत्तर-तटके समीप उस उदधिके भीतर ही एक दिव्य स्थल है श्वेत द्वीप।' ब्रह्माजीने स्थान निर्देश किया—'यह अमृत स्थान है। वहाँ श्रीहरि अपने विशुद्ध सात्त्विक रूपसे शशि वर्ण, चतुर्भुज रूपमें विद्यमान रहते हैं। वहाँ भगवदुपासनैकप्राण भगवद्भक्त निरन्तर उन परम पुरुषकी उपासना करते हैं।'

'वह अमृत-स्थल है।' ब्रह्माजी ने बतलाया—'इस चाक्षुष मन्वन्तरमें श्रीहरि अजित रूपसे प्रकट हुए और उन्होंने ही अमृत-मन्थन कराया। कूर्म रूप धारण करके उन्होंने ही मन्दराचल धारण किया। उन अजितका वह परमधाम है। तुम वहाँ जाकर तप करो। वहाँके प्रभु और उनकी सेवामें रहनेवाले जन मेरे लिए भी अदृश्य हैं। तप करनेपर सन्तुष्ट होकर वे भक्त-वाञ्छा-कल्पतरु तुम्हें दर्शन देकर धन्य करेंगे।'

कश्यपजीमें उत्साह आ गया। अबतक वे केवल कर्तव्य मानकर अदितिके कहनेसे ब्रह्मलोक आये थे और पितामहका आदेश माननेको उद्यत हो गये थे; किन्तु उनमें उत्साह नहीं था। स्वर्गपर सुरोंका अधिकार रहे या असुरोंका, इसमें उनको रुचि नहीं थी। वे स्वयं बहुत दीर्घकालतक उपवास करते हुए तप करते रहते थे, अतः इन्द्र और उसके विलासी साथी कुछ काल उपवास करते रहें, इस बातसे भी उन्हें खेद नहीं होता था। लेकिन अब भगवद्दर्शनकी बात आयी तो महर्षि उल्लसित हो उठे।

महर्षि कश्यपने श्वेतद्वीपका वर्णन पढ़ा-सुना था। लेकिन यह भी सुना था कि वह दिव्यधाम ब्रह्मलोकके निवासियोंके लिए भी अदृश्य है। वहाँके भगवज्जनोंका क्षणार्ध जीवन भी आराध्यसे वियुक्त नहीं टिकता। अत्यन्त दुर्लभ, अकल्पनीय था महर्षि कश्यपके लिए भी श्वेतद्वीपका दर्शन। देवर्षि नारद अवश्य वहाँ कभी-कभी हो आते थे और उनके ही श्रीमुखसे ब्रह्मलोकमें श्वेतद्वीपकी चर्चा हो जाती थी। अब पितामहने श्वेतद्वीप जाकर तप करनेको कहा तो महर्षिको अपनी अबतककी समस्त साधनाका वही परमफल प्रतीत हुआ। वे श्वेतद्वीप पहुँचनेके अधिकारी तो माने गये।

सचमुच किसी सांसारिक कामना, चिन्ताका लेश लेकर कोई ऋषि या सुर भी श्वेतद्वीप नहीं जा सकता। महर्षि कश्यपको भूल गये सुर, असुर और देवी अदिति भी। वे तो अजित प्रभुके दर्शनोंकी उत्कण्ठासे उल्लसित हो गये थे। श्वेतद्वीप इतनेपर भी वे पहुँच पाते या नहीं, कहना कठिन है; किन्तु ब्रह्माजीके सङ्कल्प-बलने उन्हें वहाँ पहुँचा दिया।

क्षीरोदधिकी उत्तुङ्ग लहरें उस द्वीपका चारों ओरसे स्पर्श करती थीं। नित्यधाम श्वेतद्वीप जैसे ज्योतिके घनीभावसे ही बना हो। महर्षि कश्यप परम तापस, सहज अन्तर्मुख; किन्तु उन्हें भी लगा कि उस स्थानकी दिव्यता कल्पनातीत है। अपने-आप चित्त चिन्तनरहित होकर एकाग्र हुआ जा रहा है।

प्रजापति कश्यपने वहाँ तप प्रारम्भ किया। कहनेको तो उन्होंने देवताओंके सहस्र वर्षतक तप किया; किन्तु उन्हें लगा कि उनको दो क्षण कठिनाईसे लगे होंगे। वस्तुतः तो वहाँ कालका प्रवेश ही नहीं है। वहाँके सम्बन्धमें समयकी बात ही भिन्न स्थल, मायामण्डलकी दृष्टिसे की जाती है।

महर्षि कश्यपने तप किया, यह बात भी इस ब्रह्माण्डकी दृष्टिसे ही कही जाती है। जहाँ क्षुधा-पिपासाका प्रवेश ही नहीं है और जहाँ श्रान्ति होती नहीं, वहाँके तपका भी क्या अर्थ? महर्षि उस मायासे परे दिव्यधाममें पहुँचे और शरीर तथा मनकी गति भी समाप्त हो गयी। जैसे अचिन्त्य आनन्दके अनन्त सागरसे निमग्न हो गये। तप कहते हैं जान-बूझकर कष्ट

सहनेको; किन्तु कष्टका तो वहाँ प्रवेश ही नहीं है। वहाँकी एकाग्रता ही तप है।

जैसे ब्रह्माजीका एक दिन सृष्टिका एक कल्प होता है, वैसे ही श्वेतद्वीपका वह क्षण—कश्यपजी को क्षण ही प्रतीत हुआ, देवताओंके सहस्र वर्ष हो गये, यही कहना पड़ेगा।

कश्यपजीको कुछ कहना नहीं पड़ा। कोई स्तुति नहीं करनी पड़ी। यह सब करनेकी स्थितिमें वे थे भी नहीं। समाधिको भी जहाँ प्रवृत्तिकी श्रेणीमें गिना जाय, वहाँ किसीका भी मन कुछ सोच कैसे सकता है। वहाँका जीवन है अखण्ड भगवत्सान्निध्यका अनुभव और भगवत कैङ्कर्य। यह कश्यपजीको नहीं प्राप्त हुआ। प्राप्त हुआ केवल उस जीवनका ऐसा अस्पष्ट अनुभव जैसे दूरसे किया गया हो।

श्वेतद्वीपाधिपति श्रीनारायण ही वहाँ सक्रिय रहते हैं। उन्हींकी इच्छा और इंगित वहाँके उनके जनोंमें प्रतिफलित होती रहती है। वहाँ रजोगुणकी क्रिया अथवा तमोगुणकी सत्ताका ठोसपना तो क्या प्रवेश पावेगा, प्रकृतिका सत्त्वगुण भी नहीं है। वहाँ विशुद्ध आनन्द ही घनीभूत हो गया है, शब्द केवल यह इंगित कर सकता है।

महर्षि कश्यपने वहाँ कुछ देखा नहीं। कुछ अनुभव नहीं किया। उनकी तो वहाँ उपस्थितिने ही उन्हें धन्य-धन्य कर दिया। वे उसी शब्दातीत कृतकृत्यतामें निमग्न हुए और जब कुछ सोचनेकी स्थिति प्राप्त हुई, अपने आश्रममें पहुँच गये थे। यह मेरुपर स्थित देवी अदितिका आश्रम था।

सर्वान्तर्यामी सर्वज्ञ हृषीकेशसे कुछ कहना आवश्यक तो नहीं है। महर्षि कश्यप श्वेतद्वीप क्यों पहुँचे थे, यह वाणी-व्यवहारके बिना भी उन अजितको विदित था। उनकी इच्छासे ही महर्षि वहाँसे मेरुपर वैसे ही पहुँच गये थे, जैसे ब्रह्माजीके संकल्प-बलसे ब्रह्मलोकसे श्वेतद्वीप पहुँचे थे।

अदितिके आश्रममें कश्यपजीका चित्त जागृत हुआ; किन्तु अब भी वह आनन्दमें निमग्न था। कठिनाईसे महर्षि कश्यपने पलकें खोलीं। सम्मुख करबद्ध विनम्र पत्नीको वे कुछ क्षण इस प्रकार देखते रहे, जैसे पहिचाननेका

प्रयत्न कर रहे हों। तनिक और सावधान होनेपर बोल सके—'धन्य हुआ देवि ! तुम्हारी प्रेरणाने मुझे धन्य किया।'

अदिति हाथ जोड़े बैठी रहीं। वे समझ गयीं कि उनके इन आराध्यने अवश्य कोई दिव्य अनुभव किया है। कुछ ऐसा अनुभव जो उन्हें परमाभीष्ट है। अदितिने कोई जिज्ञासा नहीं की। देवमातामें स्वभावसे कुतूहल नहीं है। वे सत्वगुणकी मानो मूर्ति हैं। स्वामीके सामीप्यमें आराधना ही बन जाती है।

'देवि ! अखिलेश्वर प्रसन्न हुए।' महर्षि कश्यप आनन्द गद्गद बोल रहे थे। अब वे इतने उत्थित-जागृत हो गये थे कि उनकी वाणीसे परावाणीके स्वर व्यक्त हो सकें। कहना ही हो तो निर्विकल्प महासमाधिसे उत्थित होनेवाले किसी लोकातीत योगीके जागरणके प्रारम्भिक क्षणों जैसी स्थिति कही जा सकती है।

परावाणी तो जीवकी वाणी नहीं है। वह जीव देहमें स्थित अन्तर्यामी परम पुरुषकी वाणी है। यही अवस्था है जब अन्तःकरण अपने परम प्रेरकके सान्निध्यकी अनुभूति भी उपलब्ध करनेकी स्थितिमें होता है। महर्षि कश्यप अब श्वेतद्वीपकी उस दिव्यातिदिव्य दशाको अनुभव करनेके स्तरतक जागृत हुए थे और जैसे वहीं—उसी स्तरसे बोल रहे थे—'देवि ! वे परमप्रभु प्रकट होना चाहते हैं; किन्तु उनके प्राकटचके उपयुक्त परिमार्जन, परिशुद्धि, प्राञ्जल देह आवश्यक है। तुम्हें व्रतस्थ होना है। सम्यक् एकाग्र आराधना करनी है।'

'आज्ञा करें प्रभु !' देवी अदितिको व्रत, उपासनाके लिए न कुछ सोचना था, न प्रस्तुति करनी थी। यह तो उनका जीवन ही है।

'यह स्थल उपयुक्त नहीं है।' कश्यपने कहा—'मर्त्यलोककी भी सन्निधि प्राप्त हो, ऐसे पुण्यस्थलका आश्रय लिया जाना चाहिये।'

महर्षि कश्यप उसी आवेगमें उठ खड़े हुए। देवी अदितिने पतिका अनुगमन किया। महर्षि अपने स्वर्गके उस आश्रमपर पहुँचे जो महर्लोक और मर्त्यधरा दोनोंसे सम्पर्क रखता है। महर्षिका यह आश्रम अद्भुत है। प्रलयमें यह नष्ट नहीं होता; किन्तु वहाँ कालगणना मर्त्यधराके अनुसार

आरम्भ हो जाती है। अतः दिव्य लोक होकर भी उसे कर्मलोक ही गिना जाता है।

'तुम पयोव्रत करो !' अपने इस आश्रमपर आकर महर्षि कश्यप सम्पूर्ण रूपसे सावधान हो गये थे। उन्होंने अदितिको आदेश दिया—'केवल द्वादश दिनका व्रत करना है तुम्हें; किन्तु इन द्वादश दिनोंतक एकाग्र चित्तसे नारायणका चिन्तन करना है।'

यहाँ पयोव्रतकी विधि देना अनावश्यक विस्तार होगा। श्रीमद्भागवतके अष्टम स्कन्धका सोलहवाँ अध्याय (श्लोक २५ से ५८ तक) देखना चाहिये।

'भगवन् आप........?' अदितिको लगा कि महर्षि उसे यहाँ पयोव्रतकी दीक्षा देकर कहीं तप करने तो नहीं जाना चाहते हैं।

'देवि, इस समय मैं तुम्हारे समीप ही रहूँगा।' महर्षिने पत्नीकी चिन्ता दूर करते कहा—'इस व्रतमें तुम्हें मेरा सामीप्य चाहिये और मैं स्वयं तुम्हारे सान्निध्यका ऐसा धन्य अवसर छोड़ नहीं सकता।'

फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदासे पयोव्रत प्रारम्भ होता है। अमावस्यासे ही व्रतकी प्रस्तुति होती है। देवी अदितिको तो व्रतमें कुछ विशेष प्रयत्न लगा ही नहीं।

विशेष सकाम अनुष्ठानोंमें देवता ही विघ्न करते हैं और कहीं प्रमाद हो तो असुर और भगवान गणपतिके गण भी बाधा उपस्थित करते हैं; किन्तु महर्षि कश्यप जैसा तेजस्वी तपोनिधि जहाँ सतर्क सावधान संरक्षक हो, वहाँ प्रमादका प्रवेश कैसा ?

देवताओंका पद इस समय दैत्योंने सम्हाल रखा था; किन्तु वे भी अपने पिता और परमशान्त विमाताकी अप्रसन्नता लेनेका साहस नहीं कर सकते थे। महर्षि कश्यप संकल्पसे भी संकेत करते तो स्वयं बलि भी सेवामें उपस्थित हो जाते। यह अवसर उन्हें महर्षिने ही नहीं दिया। देना उचित भी नहीं था।

भगवान गणाधिपको अग्रपूजा प्राप्त हो गयी थी। उन मंगलमूर्तिका सुरोंके साथ कोई पक्षपात तो नहीं है; किन्तु महर्षि कश्यपका वे भी प्रिय

करके प्रसन्न ही होते हैं। अतः देवी अदितिके लिए बाह्य एवं आन्तर वातावरण सर्वथा अनुकूल बना रहा।

पयोव्रत पूर्ण हुआ। त्रयोदशीको देवी अदितिने सोल्लास सविधि व्रतोद्यापन किया। महर्षि वृन्दने सत्कृत होकर उन्हें आशीर्वाद दिया। पूरा दिन हवन, पूजन तथा ऋषियोंके सत्कारमें वीता।

फाल्गुन शुक्ल त्रयोदशीका सायकाल बीत गया। सायंकालीन सन्ध्यादि कृत्य सम्पन्न करके महर्षि कश्यप अर्चनके आसनपर ही भगवच्चिन्तन कर रहे थे। देवी अदितिने यज्ञान्तका प्रसाद ग्रहण कर लिया था। वे पतिदेवके आसनसे उठनेकी प्रतीक्षामें थीं। उन्हें अभी महर्षिको सायंकालीन चरण-वन्दन करना था।

सहसा जैसे गगन दिव्यालोकसे ज्योतित हो गया। सहस्र-सहस्र चन्दनोज्ज्वल धवल ज्योत्स्ना राशि-राशि झर रही हो। महर्षिको एक क्षणको लगा कि उनका पूर्वानुभूत श्वेतद्वीप आविर्भूत हो गया है। महर्षिका मन पुनः उसी अनुभूतिमें डूब गया।

'अम्ब !' एक अचिन्त्य अमृतस्यन्दी स्वर माता अदितिके श्रवणोंमें पड़ा; किन्तु वे उठ नहीं सकीं। उनका समस्त शरीर स्तम्भित, जड़, अवश हो गया। वे किञ्चित भी हिलने या बोलनेमें समर्थ नहीं थीं।

एक आकृति प्रकट हुई। कहाँ हुई ? कहना कठिन है; क्योंकि समस्त दिशाएँ उसीमें अन्तर्लीन लगती थीं और फिर भी वह शिशु थी। अनन्त ज्योत्स्ना ही घनीभूत होकर जैसे वह आकृति बन गयी हो। सौन्दर्य, सौकुमार्य उससे सजीव हो ऐसी चतुर्भुज, कुण्डलादि आभरणोंसे भूषित आकृति। सब आयुध, आभरण जैसे ज्योत्स्नासे ही बने हों उसके।

देवमाता अदितिका निर्विकार देह भी थर-थर काँपने लगा। रोम-रोम स्वेदका निर्झर बन गया। अनन्त वात्सल्य उमड़ पड़ा; किन्तु वे चाहकर भी न अगुलि हिला पाती थीं, न ओष्ठ खुलते थे।

'अम्ब ! यह आपका शिशु आपके अंकमें आनेको उत्सुक आपको प्रणति निवेदन करता है।' वह आकृति ही अमृतस्यन्दी स्वर श्रवणोंमें घोलती रही और फिर सहसा अन्तर्हित हो गयी। देवी अदितिको तो सावधान होकर कुछ सोचने योग्य होनेमें भी समय लगा।

आविर्भावके पूर्व—

अदिति देवमाता—सहज ही तेजोमयी, धर्ममयी, तपस्विनी और प्रजापति कश्यप इन दिनों विशेष सानुकूल, अतः पुत्रोंकी विपन्नतासे आयी खिन्नता भी तिरोहित हो गयी। उन्हें तो लगने लगा कि वह ज्योतिर्घन, आनन्दघन शिशु उनके अङ्कमें ही आ बैठा है। वह सुषमा, सुकुमारताकी मूर्ति नेत्रोंके सम्मुखसे तिरोहित होकर भी तिरोहित नहीं हुई। वह तो जैसे अहर्निशि सम्मुख रहने लगी।

देवमाताका श्रीविग्रह कभी स्थूल नहीं था; किन्तु अब तो उन्हें अपना शरीर सर्वथा भार हीन लगता था। उनके मनकी स्थिति अद्भुत हो गयी थी। उन्हें लगता था कि वे इच्छा करते ही किसी भी लोकमें—दिव्यलोकोंमें भी पहुँच सकती हैं। वे इच्छा करते ही ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि या प्रलय कर सकती हैं। वे लोकमहेश्वरी हो गयी हैं।

'भगवती आद्या महाशक्ति अपनी इस बालिकाको क्षमा करें।' बार-बार वे अपने मनकी स्थितिपर झुँझलाती थीं। भगवती त्रिपुरासे तादात्म्य क्यों हो जाता है उनका, इसपर आश्चर्य करती थीं। वे तो शक्तिकी उपासिका कभो रही नहीं। उनके आराध्य तो उनके पतिदेव ही हैं और उन्हींके आदेशसे पयोव्रत करके उन्होंने द्वादश दिवस श्रीहरिका चिन्तन किया। उन्हें जिस ज्योतिर्घन मूर्तिका दर्शन हुआ, वह तो चतुर्भुज शिशुमूर्ति थी और श्रीहरिकी मूर्ति थी। लेकिन अब उनके चित्तका इन षोडश-भुजा भुवन-सुन्दरी सिंहवाहिनीसे क्यों बार-बार तादात्म्य हो जाता है ? श्रद्धा सहित उन जगदम्बाका स्मरण हो तो भी कोई बात नहीं, पर अचानक लगने लगता है कि वह स्वयं त्रिपुरा हैं। वे सर्वेश्वरी हैं। अपनेपर झुँझलाती हैं, खेद होता है। ऐसा पुनः न हो, सोचती हैं; किन्तु बार-बार ऐसा हो जाता है। प्रायः ऐसा भाव बना रहता है। सावधान ही होती हैं तब, जब महर्षि समीप या सम्मुख होते हैं।

इसके साथ माता अदितिके मनमें असीम वात्सल्य आ गया है। दिति

पुत्रोंका स्मरण भी कभी आता है तो स्नेह उमड़ता है। वे अपने ही उदर-जात लगते हैं। उनका—सृष्टिके सब प्राणियोंका मङ्गल हो। सब सुखी, सुप्रसन्न रहें। माता अदितिके मनमें इससे भिन्न भाव उठता ही नहीं।

'ऐसा क्यों होता है ?' बड़े सङ्कोचपूर्वक देवी अदितिने महर्षि कश्यपसे कहा। इधर महर्षि कश्यपका व्यवहार भी उसे कम समझमें आता था। वे भी पत्नीका बहुत अधिक आदर करने लगे थे। अदितिको अपनी सेवाका अवसर ही नहीं देते थे। पद-वन्दनातक ही सेवा सीमित हो गयी लगती थी। महर्षि वैसे भी अपने दैनन्दिन आराधनाकी सेवा किसीको कम ही देते थे और देवमाताके आश्रमकी सेवा तो देवता, गन्धर्व इस आपत्तिमें भी कर ही जाते थे।

'मैं तो आपकी दासी हूँ और आपके श्रीचरण ही मेरे परमकाम्य हैं। दूसरा कुछ मुझे कभी अभीष्ट न हो, यह आशीर्वाद दें !' पतिके चरणोंपर उन्होंने मस्तक रख दिया।

'देवि ! तुमको जिन्होंने इस बार माता होनेका सौभाग्य दिया है, उनके मातृत्वका लोभ यदि आद्या भगवतीको तुमसे तादात्म्यापन्न होनेको उत्सुक बनाता है तो कोई आश्चर्यकी बात तो है नहीं।' महर्षिने नहीं कहा कि इन दिनों पत्नीकी चरण-वन्दना उन्हें संकुचित करती है।

अच्छा यह हुआ था कि शची इन दिनों देवी अदितिके आश्रममें उनकी सेवामें आ गयी थीं और उन्होंने सब सेवा उत्साहपूर्वक सम्हाल ली थी।

'वत्से ! तू तो पौलोमी है। दितिकी सन्तानोंको तुझसे तो कोई द्वेष नहीं। वे तेरा भी सम्मान नहीं करते ?' जब शचीने पहिले-पहिले आकर देवी अदितिके पदोंमें मस्तक रखा था तो उनका सिर, मस्तक सहलाकर अङ्कमें ही उन्हें बैठाती देवमाताने पूछा था—'तुझे भी अमरावतीका अपना सदन त्यागना पड़ा ? वे तुझे भी........।'

'मैं स्वेच्छासे आपके श्रीचरणोंकी सन्निधिके लोभके कारण आयी हूँ।' शचीने पूजनीया सासके स्वरकी आकुलता लक्ष्य करके उन्हें आश्वस्त

किया—'वहाँ किसीको मेरे सदनकी ओर ध्यान देनेका अवकाश ही नहीं। बलि धर्मात्मा हैं। उन्होंने अपने सेवकोंको प्रथम दिन ही आदेश दे दिया था कि मुझे कोई अभाव या असुविधा न हो; किन्तु आपका यह वरदहस्त तो मुझे अपने मस्तकपर प्रतिदिन वहाँ उपलब्ध नहीं था। मैं इसी स्नेहको पाने आ गयी हूँ। अब इन चरणोंसे दूर नहीं जाऊँगी।'

देवी अदितिके लिए सृष्टिकर्ता अपरिचित नहीं थे। वे महर्षि कश्यपके पितामह ही थे; किन्तु वे हंसवाहन गगनमें दृष्टि पड़े और ऊपरसे ही अदितिकी प्रदक्षिणा करके स्तवन करने लगे, तब देवमाता चौंकीं। शीघ्र ही उन्होंने समझ लिया कि वे शतधृति उनके गर्भस्थ शिशुकी स्तुति कर रहे हैं।

देवमाता जब धरापर चरण रखती थीं तो धरा जैसे उस ओर कुछ झुक जाती थी। यह अनुभव उन्हें हुआ कि उनके पादक्षेपसे पृथ्वीमें कम्पन जैसा कुछ होता है; किन्तु उनका शरीर उन्हें भारहीन, पूर्ण स्वस्थ लगता था। उन्हें कोई कष्ट या असुविधा नहीं थी।

अचानक असुविधाका अनुभव अमरावतीमें दैत्यराज बलिको हुआ। उनको लगा कि उनके अनुगत दैत्य तेजोहीन हो गये हैं। बलिको स्वयं जब दैत्योंके तेजक्षयका कारण नहीं जान पड़ा तो उन्होंने आचार्य शुक्रकी शरण ली। उनसे निवेदन किया—'गुरुदेव ! मैं प्रयत्न करके भी जान नहीं पाता हूँ कि आपके आज्ञानुवर्ती हम सबसे ऐसा क्या अपराध हुआ है कि हम लोगोंका तेजक्षय हो गया है।'

'दैत्येन्द्र ! शक्तिके बलपर सृष्टिकी मर्यादाका अतिक्रमण स्थायी नहीं रह सकता।' शुक्राचार्य कुछ कालसे अपने यजमानसे जो कहना चाहते थे, उसके उपयुक्त अवसर यह उन्हें लगा। 'तुमने अपनी शक्तिसे अमरावतीको अधिकृत अवश्य कर लिया है; किन्तु........।'

'भगवन् ! बलिको ऐसा भ्रम कभी नहीं हुआ।' बलिने बीचमें ही अञ्जलि बाँधकर बहुत विनम्रतापूर्वक प्रार्थना की—'यह इन्द्रत्व आपका प्रसाद है, आपके ही अनुग्रहसे प्राप्त है। बलि तो आपका किंकर है।'

'इसीलिए मैं चाहता हूँ कि तुम्हारा इन्द्रत्व स्थायी बने।' आचार्य

शुक्रने कहा—'तुम सृष्टिकर्ताके विधानसे अपरिचित नहीं हो। शतक्रतु ही इन्द्रत्वका अधिकारी होता है। तुम शीघ्र अपने अनुचरोंके साथ सपत्नीक पृथ्वीपर चलो और अश्वमेध यज्ञकी दीक्षा लो। भूमिपर तुम्हारे यज्ञीय अश्वको अवरुद्ध करनेवाला कोई है नहीं। तुम्हारे शत्रु सुर पराजित तथा भयभीत होकर छिपे हैं। तुम्हारा त्रिविष्टपपर अधिकार विधिसम्मत हो जायगा यदि तुम सौ अश्वमेध यज्ञ पूर्ण कर लेते हो।'

बलिको बतलाना नहीं था कि स्वर्ग भोग लोक है। कर्मभूमि भारतवर्षमें किया गया यज्ञादि कर्म ही फल प्रदाता होता है, यह वे जानते थे। अत: उन्होंने तत्काल भारतवर्षमें आनेका निश्चय किया।

असुर शिल्पी मायावियोंके परमाचार्य दानवेन्द्र मयका सहयोग बलिको प्राप्त था। अतएव पृथ्वीपर भारतवर्षके भृगुकक्ष (भँडोच) में नर्मदाके उत्तर तटपर स्वर्णकी रत्नमण्डित विशाल यज्ञशाला तथा दूसरे आवश्यक मण्डप, अध्वर्यु, आचार्य, सदसस्पति आदिके निवास, पत्नीशाला, गोशाला, सामग्री-भण्डार आदिके भव्य निर्माणमें समय नहीं लगा। दानव विश्वकर्माको कुछ निर्देश आवश्यक नहीं था। उन्होंने जल, प्रकाश, स्वच्छता, मार्गादिकी अत्यन्त भव्य व्यवस्था करदी और आवश्यक सभी पदार्थ अन्न, वस्त्र, भाण्ड,औषधियाँ, रत्न, धन (स्वर्ण) आदि प्रचुर मात्रामें वहाँ एकत्र कर दिये। गज, अश्व, धेनु आदिका उत्कृष्टतम समुदाय जुटा दिया।

बलि सपरिवार, सपरिकर वहाँ आ गये। भार्गव शुक्राचार्य अपने कुलकी मुख्य भूमि भृगुकच्छमें आकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उत्तम मुहूर्तमें बलिको अश्वमेध यज्ञकी दीक्षा दी।

'दैत्येन्द्र ! शिल्पीके नाते मुझे आपको सूचना दे देनी चाहिये।' महाशिल्पी मयने यज्ञारम्भके पूर्व कहा—'आचार्यके आदेशानुसार मुझे यह स्थान स्वीकार करना पड़ा है। आप जानते हैं कि निपुण वास्तुकारको स्थल शोधक होना पड़ता है। स्थल विशेष अपना फल अवश्य देते हैं।'

'यह स्थल निर्दोष है।' आचार्य शुक्रने बलपूर्वक कहा—'नर्मदा परम पावन सरिता है और उसका यह तट समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाला है।'

'आचार्यके अतीन्द्रिय ज्ञान एवं सम्यक् गणितमें त्रुटि सूचित करनेका साहस मय नहीं कर सकता।' सहज शीलवान मयने नहीं कहा कि स्थलके प्रति ममत्वके कारण आचार्य उसकी अल्प त्रुटि नहीं देख सके हैं। उन्होंने केवल इतना कहा....'स्थल समस्त कामप्रद है; किन्तु काम्य कर्मकी अन्तिम पूर्णताको असमञ्जसपूर्ण सूचित करके भी सम्यक् पूर्णता व्यक्त करता है।'

'शिल्पाचार्य असुर विश्वकर्माको स्थलकी कामपूरक शक्ति स्वीकार है।' शुक्राचार्यने प्रसन्न मन मयकी बातका यह अर्थ लिया।

पुराने समयमें वास्तुशिल्पी (भवनादिके इञ्जीनियर) अपने विषयसे सम्बन्धित ज्योतिषके भी प्रकाण्ड विद्वान होते थे। स्थलका प्रभाव, उपयोगमें आनेवाले पदार्थोंका प्रभाव तथा विभिन्न आकृतियोंका प्रभाव—अव्यक्त प्रभाव भी वे पहिलेसे जान लेते थे। मय तो दानव विश्वकर्मा ही थे। उनसे ये प्रभाव अज्ञात नहीं रह सकते थे। लेकिन भवितव्यने उनकी पूरी बात किसीको समझने नहीं दी।

बलिके अश्वमेध यज्ञका अश्व उत्तम मुहूर्तमें छूटा। शकुनि, भूतसंतापन, कालनाभ, शम्बर, रक्तबीज प्रभृति सुरासुरजयी दैत्योंके संरक्षणमें छूटे अश्वमेधीय यज्ञको रोकनेका साहस कौन करता। जब कहीं कोई अश्व रोकनेवाला ही नहीं था तो अश्वको लौटनेमें विलम्ब होना नहीं था। अश्वमेधीय अश्व तो मन्त्राभिमन्त्रित देवात्मा हो जाता है। वह स्वयं जाता ही वहीं है, जहाँ उसे कोई अवरोध करनेवाला हो। वहाँ जानेके मार्गमें स्वागत करनेवाले मिलते रहें, यह भिन्न बात है। बलिके यज्ञीय अश्व शीघ्र लौट आया करते थे। उन्हें कोई किसी ओर ले तो जा नहीं सकता था। यज्ञीय अश्व प्रेरित या परिचालित किया नहीं जाता।

अश्व लौटकर आ जाता और यज्ञ पूर्ण कर दिया जाता। इस प्रकार बलिके अश्वमेध यज्ञोंका क्रम चल पड़ा। शुक्राचार्यने बलिसे सौ अश्वमेध यज्ञ करनेका सकल्प प्रारम्भमें ही करा दिया था। दुर्बल यजमान अथवा सशंक आचार्य दीर्घकालीन कर्मको थोड़े-थोड़े समयका संकल्प कराके कुछ खण्डोंमें पूरा करते हैं। शुक्राचार्य जैसे समर्थ आचार्य और त्रिभुवनके अधिपति दैत्येन्द्र बलि ऐसी दुर्बल विधिका आश्रय क्यों लेते। उन्हें तो सब कर्म, सब सामग्री प्रथमकल्प (श्रेष्ठतम) रखनी थी।

अश्व भले निर्विरोध लौट आया करे और उसके भ्रमणमें समय न लगता हो; किन्तु अश्वमेध यज्ञ कालसाध्य तथा श्रमसाध्य कार्य है। चक्रवर्ती नरेशका कोष भी अश्वमेधमें वितरित हो जाता है। यदि अश्वको कोई कहीं न रोके तो अश्वमेध यज्ञमें लगभग सहस्र दिन लगते हैं। बलि और उनके अनुगत दैत्योंको पृथ्वीके दिन-रात कुछ घटिकाओंके लगते थे। वे स्वर्गीय अहोरात्रके अभ्यस्त हो गये थे, जो एक मानव वर्षका (६ महीनेका दिन और ६ महीनेकी रात्रि) क्रम था। वैसे अधोलोकोंमें तो दिन-रात होता ही नहीं। वहाँ तो सर्वदा एक-सा अन्धकार और उसमें मणियोंका कृत्रिम प्रकाश बना ही रहता है।

असुरोंमें उत्साह था। श्रम करनेमें उन्हें आलस्य आता नहीं था। पृथ्वीका काल उन्हें अत्यल्प लगता था और उनका कोष अपार था। उन्हें भूमिमें अन्तर्हित कोष सहज प्राप्त हो जाता था। कुबेर और वरुणके भूमि-पर्वत तथा उदधिमें होनेवाले सब रत्न उन्हें उपलब्ध थे। ये लोकपाल उनका आदेश पालन करनेवाले बन गये थे।

भूमिके दिन-रात दैत्योंको इतने अल्प लगते थे कि उन्होंने विश्रामका विचार ही अश्वमेध यज्ञोंके चलते त्याग दिया था। जहाँ शयनका विचार बनाते-बनाते दिवस आ जाय, वहाँ क्षणजीवी जनोंके समान विश्राम कौन करे।

भूमिके लोग याचक-अतिथि होकर आते तो थे; किन्तु उनकी आकांक्षाएँ अत्यल्प थीं। जैसे मनुष्योंको चींटियोंको चीनी या आटा डालना लगता है, मानव आगतोंकी कामनाएँ तुष्ट करना दैत्योंको ऐसा ही लगता था।

सब कुछ तो था; किन्तु दैत्योंका तेज क्षीण ही होता जा रहा था। अश्वमेध इसलिए पूर्ण हो रहे थे कि अल्पप्राण मानव नरेशोंमें असुरोंका विरोध करनेका साहस नहीं था और सुर अभी संघर्ष-समर्थ हुए नहीं थे। अश्व निर्विरोध आ जाते थे।

बलिने देखा कि उनमें कोई त्रुटि नहीं है और उनके अनुचर भी कोई असंयम नहीं कर रहे हैं; किन्तु उनमें तेज नहीं रह गया है। वे यज्ञीय दायित्वमें प्रमाद तो नहीं करते; किन्तु जैसे उनमें आन्तरिक उल्लास नहीं रहा। उनके जीवनमें जैसे कोई लक्ष्य, कोई कर्तव्यके प्रति लगाव ही नहीं रहा हो। बेमनसे, करना है इसलिए सब कार्य वे कर रहे हैं।

शम्बर, शकुनि, नमुचि जैसे दैत्यनायक भी नन्हीं समस्याओंका समाधान स्वयं नहीं कर पाते। सब छोटी-बड़ी बातें बलिसे पूछी जाने लगी हैं। अपना निर्णय—असंदिग्ध निर्णय और उसे क्रियान्वित करनेका उत्साह ही तेज है। अपने निर्णयपर सहयोगियोंको सहज चलवानेकी योग्यता जैसे दैत्योंमें समाप्त होती जा रही थी। वे सामान्य विरोधोंके समय भी असमंजसमें पड़ जाते थे और बलिको ही निर्णय करना पड़ता था।

'माता दितिकी सन्तान तो ऐसी तेजोहीन कभी नहीं रही।' बलि चिन्तामें पड़ गये—'सुरोंके प्रबलतम विरोधमें युद्धोंमें सामान्य असुर सैनिक भी पूरे गुल्म या दलका सञ्चालन सहज कर लिया करता था। अब यह अचानक हमारे लोगोंको हो क्या गया है ?'

'तात ! प्रायः सब दैत्य ब्रह्मदण्डहतके समान निस्तेज क्यों हो रहे हैं ?' बलिने प्रह्लादजीके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम करनेके पश्चात् उनसे पूछा—'क्या हम सबके लिए कोई अनिष्ट आसन्न है ?'

प्रह्लादजी यज्ञारम्भमें ही आ गये थे। बलिने आग्रहपूर्वक उन्हें बुलाया था; किन्तु वे अपने आवासमें ही प्राय. रहते थे। यज्ञीय सेवामें उनकी आवश्यकता नहीं थी और आचार्य शुक्रके कर्मकाण्डोंमें उनकी कोई अभिरुचि भी नहीं थी। वे अपनी आराधना और चिन्तनमें ही लगे रहते थे।

'क्या कारण सम्भव है ?' प्रह्लादने भी अबतक इस ओर ध्यान ही नहीं दिया था। अब बलिके कहनेपर उन्हें भी लगा कि इन दिनों उनको अभिवादन करनेवाले दैत्योंके मुखोंपर उन्हें एक तटस्थ मलिनता बराबर दीख रही है।

स्वयंसे कोई अवांछित कर्म न हुआ हो और कोई दूसरा पराभव न करे तो व्यक्ति तेजोहीन प्रायः नहीं होता। ये दोनों निमित्त न हों तो आसन्न अमङ्गलकी अशुभ छाया ही तेजोलोप करती है। लेकिन दैत्योंका अमङ्गल कौन कर सकता है ? सुर या उनके कोई समर्थक कहीं बड़ी तपस्या, कोई बड़ा अनुष्ठान करते हों, ऐसा तो कोई समाचार नहीं मिला है। बलि बिना पूछे ही प्रायः प्रतिदिन प्रह्लादजीको स्व-पर पक्षोंकी पूरी स्थिति और यज्ञोंकी स्थिति निवेदन करते हैं। प्रह्लाद कुछ आदेश दें या न दें; किन्तु बलि अपना कर्तव्य मानते हैं पितामहको अपनी स्थितिका पूरा विवरण देते रहना।

भक्त-शिरोमणि प्रह्लादजीका स्वभाव सांसारिक समस्याओंको सुलझानेमें बुद्धि लगाना नहीं है। वे तो जब दैत्येश्वर थे तब भी मानते थे कि त्रिभुवनकी व्यवस्थाका सञ्चालन श्रीहरिकी इच्छानुसार ही होता है। प्राणी तो अज्ञानवश अपनेको कर्ता मानता है। उसके कर्तृत्वकी सार्थकता ही है सर्वेश्वरकी इच्छाका अनुगमन करते रहना। अतः वे कोई समस्या सम्मुख होनेपर समस्याके सम्बन्धमें सोचनेके स्थानपर अपने आराध्यका चिन्तन करने लगते थे। इस समय भी उन्होंने यही किया।

प्रह्लादजी भगवान नृसिंहके श्रीचरणोंका ध्यान करने लगे। सहसा उनके अन्तरसे नृसिंहके चरण तो तिरोहित हो गये और वहाँ एक तेजोमयी नारी मूर्ति प्रकट हुई। प्रह्लादको देवमाता अदितिको पहिचाननेमें कोई कठिनाई नहीं हुई। श्रद्धापूर्वक उन्होंने हाथ जोड़कर मस्तक झुकाया। वे अपनी पितामही दितिके समान ही अदितिका आदर करते थे।

ध्यानमें ही प्रह्लादका चित्त देवी अदितिके उदरपर गया और उन्हें उदरस्थ शिशुका साक्षात्कार होने लगा। वह अद्भुत शिशु उनके ध्यानमें वामन हुआ और फिर विराट् हो गया। सम्पूर्ण लोक उसके श्रीअङ्गोंमें ही स्थित दीखने लगे।

'श्रीहरिकी जय हो !' प्रह्लादके मुखसे निकला। उन्होंने हाथ जोड़कर मस्तक झुकाया। सहसा ध्यानस्थ शिशु तिरोहित हो गया। तिरोहित हो गयी देवी अदितिकी मूर्ति; किन्तु प्रह्लादका शरीर रोमाञ्चित हो गया था। उन्हें कुछ क्षण लगे नेत्र-पलक खोलनेमें। उसके पश्चात् भी उन्हें बोलनेमें कुछ क्षण और लगे।

'धन्य हैं भगवती अदिति !' प्रह्लादजीके स्वरमें कोई खेद नहीं था। वे जैसे किसी आनन्दका समाचार सुना रहे हों, इस प्रकार कह रहे थे— 'उनके उदरमें साक्षात् हरि पधारे हैं। अब वे जब इन्द्रानुज होकर आ रहे हैं तो अवश्य अपने अग्रजोंकी सहायता करेंगे। उनके कारण ही तुम्हारे अनुगतोंका तेज क्षीण पड़ता जा रहा है।'

'यह हरि कौन है ? उसमें कितना बल है ?' बलिने उपेक्षाके भावसे कहा—'वासुदेवसे अधिक बलवान तो मेरे अनुचर दैत्योंमें सैकड़ों हैं।

विप्रचित्ति, हयशिरा, प्रघस, दुर्जय आदिसे आधा बल भी विष्णुमें नहीं है। अतः हमें उससे भय क्या।'

'तू दुर्बुद्धि है। विवेकहीन असुरोंके सङ्गसे तेरी बुद्धि नष्ट हो गयी है। इन दैत्योंके साथ ही तू भी विनष्ट होगा।' प्रह्लादजीके लिए भगवन्निन्दा असह्य हो गयी। वे क्रुद्ध होकर बलिको धिक्कारते हुए कहने लगे—'मैं ही अधम हूँ कि तेरे जैसा हरि-विमुख मेरे वंशमें उत्पन्न हुआ। मैं तेरा पितामह हूँ और तू जानता है कि श्रीहरिसे अधिक प्रिय मुझे अपना यह देह भी नहीं है, फिर भी उन हरिकी निन्दा करके तूने मेरा अपमान किया है। श्रीहरिके अपमानके तेरे वचन मेरे लिए शिरश्छेदसे अधिक उत्पीड़क हैं। अतः मैं शाप देता हूँ कि तू राज्यभ्रष्ट हो जायगा।'

बलि सहसा चौंक गये। पितामहका तिरस्कार करनेका उनके मनमें तनिक भी विचार नहीं था। उनके वचनोंसे उनके पितामहके आराध्यका तिरस्कार हुआ, यह बात अब उनके ध्यानमें आयी। उन्होंने प्रह्लादके चरण पकड़ लिये।

'तात ! सचमुच मैं मोहग्रस्त अहङ्कारी हूँ; किन्तु मुझ अज्ञपर आप प्रसन्न हों। मुझपर क्रोध न करें।' अत्यन्त कातर स्वरमें बलि प्रार्थना करने लगे—'मुझ पापीको आपने शाप दिया, सो उचित किया; किन्तु मेरा त्याग न करें। त्रैलोक्यका राज्य तो दुर्लभ नहीं है, परन्तु आप जैसे गुरुजनोंकी हस्तछाया अत्यन्त दुर्लभ है। आप इस अधम अपराधीपर प्रसन्न हों।'

प्रह्लादजी भी पौत्रको शाप देकर चौंक गये थे। यह उनसे क्या हो गया ? वे तो किसीको भी कष्ट देना नहीं चाहते। उनके किसी आचरणसे किसीको तनिक भी क्लेश न हो, ऐसी सावधानी उन्होंने सदा रखी और आज यह शाप उन्हींके मुखसे निकल गया ?

'बलि ! तुम दुःखी मत हो। मैं तुम्हारा त्याग नहीं कर रहा हूँ।' प्रह्लादको पौत्रके पश्चाताप और विनम्रताने प्रसन्न कर दिया। वे आश्वासन देते बोले—'अब सावधान हो जाओ। तुम्हारा राज्य जानेवाला है। मेरा शाप मिथ्या नहीं हो सकता। यह शाप भी उन्हीं प्रभुकी इच्छासे मेरे द्वारा तुम्हें मिला। तुम दुःखी मत हो। आजसे उन देवदेवेश्वर अच्युतके भक्त बनो। मनसे उनकी शरण लो। वही तुम्हारे त्राता बनेंगे।'

बलि प्रह्लादके क्रोधसे डर गये थे। सबसे बड़ा डर उन्हें यही लगा कि उनके पितामह रुष्ट होकर उनका त्याग करके चले जायँगे अपने हरिवर्षके आवासमें। कुलमें जो सबसे बड़े, सबसे वृद्ध हैं, वे ही इस प्रकार चले जायँ तो यज्ञमें बड़ा विघ्न पड़ेगा। राज्य चले जानेकी चिन्ता बलिको नहीं थी; किन्तु कुलके श्रेष्ठ, पूज्यका रुष्ट होना उन्हें बहुत कष्टकर लगा। प्रह्लादजी प्रसन्न हो गये, यज्ञीय स्थल त्यागकर जा नहीं रहे हैं, यह जानकर बलि आश्वस्त हो गये।

'श्रीहरिकी शरण लो। उनका भजन करो। वे ही तुम्हारे त्राता बनेंगे।' प्रह्लादकी यह बात बलिके हृदयने स्वीकार नहीं की थी। बलिमें धर्मनिष्ठा दृढ़ थी; किन्तु आसुर भाव भी दुर्बल नहीं था। उन्हें अब भी नहीं लगा कि श्रीहरि सचमुच सर्वेश्वर हैं या सर्व समर्थ हैं। इसे तो वह प्रह्लादकी भावुकता ही मानते थे; किन्तु अपने पितामहको पुनः रुष्ट करना उन्हें अभीष्ट नहीं था। अतः प्रह्लादकी बात सुनकर वे मौन रह गये। प्रह्लादको प्रणाम करके, अनुमति लेकर उनके समीपसे चले आये।

बलि उसके पश्चात् प्रह्लादजीके समीप केवल प्रणाम करने जाते थे। पितामहकी समीपतासे बचते थे। प्रह्लादजी भी पौत्रपर दबाव डालना उचित नहीं मानते थे। भक्ति आदेश देकर बलपूर्वक किसीसे नहीं करायी जा सकती। भक्ति या प्रीति हृदयमें स्वतः न उत्पन्न हो तो उत्पन्न करानेका उपाय नहीं है।

'श्रीहरिकी इच्छा!' प्रह्लाद तो अपने आराध्यकी इच्छामें ही सदा सन्तुष्ट रहते आये हैं। पौत्रके प्रति उन्हें मोह नहीं था। पौत्र धर्मात्मा था, विनम्र था। अतः उसकी समीपता प्रह्लादको उद्विग्न नहीं करती थी।

इस घटनाका प्रभाव यह पड़ा कि बलि अधिक तत्परतासे यज्ञीय प्रबन्ध देखने लगे। दैत्योंके क्षय होते तेजकी ओरसे उन्होंने अपना ध्यान हटा लिया। आगामी आपत्तिकी चिन्ता करना और वर्तमान कर्तव्यके प्रति शिथिल होना अविवेकी जनोंकी वृत्ति है। बलिमें जागृत विवेक था। अतः भविष्यकी आशङ्काको उन्होंने चित्तसे हटा दिया।

बलिकी निष्ठा धर्माचरणमें। बलिकी श्रद्धा अपने गुरु शुक्राचार्यमें। इसमें कहीं शिथिलता नहीं आयी। बलि इसमें अधिक ही सुस्थिर हुए।

प्रादुर्भाव–

अदितिके सन्तानोत्पत्तिका समय आया। शब्द नहीं हैं यह समझानेके लिए कि दिव्य अग्नितत्त्व प्रधान शरीरमें सन्तान होनेकी पद्धति और अनुभव कैसा है। बिना कुछ क्षय हुए, बिना किसी कष्ट जैसे एक मोमबत्तीसे दूसरी मोमबत्ती जलायी जा रही हो अथवा अग्निमें-से चिनगारी या सूर्यमें-से रश्मि प्रकट हो, ऐसा ही कुछ होना था। देव-शरीर निर्विकार होते हैं। उनमें स्वेद नहीं आता और न बुढ़ापा होता। उनमें जन्मके स्थानपर प्राकट्य कहना ही अधिक उपयुक्त होता है।

देवता, असुर (दैत्य, दानव, राक्षस), गन्धर्व, अप्सरा, किन्नर, उपदेवता (वानर, नाग, ऋक्ष) सबकी नारियाँ गर्भवती होनेके पश्चात् तत्काल अथवा चाहे जितनी अवधिके बीतनेपर, जब इच्छा हो, तब सन्तान देनेमें समर्थ होती हैं। इनकी संतति उत्पन्न होते ही शरीरके आकार, बल आदिकी दृष्टिसे माता-पिताके समान हो जाती है। यद्यपि विद्याध्ययन उसे करना पड़ता है; किन्तु बोलना, सोचना तथा सामान्य ज्ञान उसे जन्मसे प्राप्त होता है। अनेक सिद्धियाँ जन्मसे प्राप्त रहती हैं, जैसे आकाशगमन और इच्छानुसार रूप धारण कर लेना।

अदिति देवमाता हैं, अत: उनके गर्भ एवं सन्तान होनेका वर्णन मानव नारीके समान तो पुराण समझानेके लिए करते हैं। उनमें न दौर्बल्य आया था और न मुखकान्तिमें कोई मलिनता ही। उलटे उनमें उत्साह, प्रसन्नता तथा अंग तेज बढ़ता गया था।

अवश्य इस बार देवी अदितिने विवशता अनुभव की इस विषयमें कि वे इच्छा करते ही इस सन्तानको प्रकट नहीं कर सकती थीं। उनके उदरमें जो आया था, वह परम स्वतन्त्र है। उसकी इच्छासे निखिल चराचर नियन्त्रित होता है। वह दूसरेकी इच्छा या प्रकृतिके नियमोंके परतन्त्र नहीं हुआ करता।

देवमाता अदिति स्वतन्त्र होतीं तो सन्तानको उदरमें आते ही प्रकट

कर देतीं; क्योंकि उनके पुत्र संकटमें थे और उनका परित्राता आनेवाला था; किन्तु इस बार उनकी इच्छा सफल नहीं हुई। आनेवालेको अपनी इच्छानुसार आना था। अत: अन्य सन्तानोंके समान महर्षि कश्यपके द्वारा निर्दिष्ट तिथि, मुहूर्तमें उसे प्रकट करनेका प्रश्न ही नहीं था। महर्षिने भी कह दिया— 'देवि ! जो कालातीत सर्वसञ्चालक है, उसके प्राकट्यकी हमको प्रतीक्षा करनी चाहिये।'

उसके प्राकट्यकी प्रतीक्षा—जीवनमें, जगतमें, मनमें उसके प्राकट्यकी प्रतीक्षा ही प्राणी कर सकता है। यह प्रतीक्षा भी प्राणोंमें उसके अनुग्रहसे ही जागती है। धन्य हो जाता है, कृतकृत्य हो जाता है जीवन उसका जिसके प्राणोंमें यह प्रतीक्षा जाग जाय।

देवी अदिति और महर्षि कश्यपके प्राणोंमें यह प्रतीक्षा जाग गयी थी। एक बार जाग जानेपर यह प्रतीक्षा शान्त नहीं हुआ करती। उस नित्यपूर्णकी प्रतीक्षा तो पूर्ण होती है।

इन्द्र अत्यन्त व्याकुल के। बलिने अश्वमेध यज्ञ प्रारम्भ कर दिया, इस समाचारने ही उन्हें तुरन्त चिन्तामें डाल दिया था। बलि यदि शतक्रतु हो जाते हैं—इन्द्रके लिए पुन: त्रिविष्टप पानेकी कोई आशा नहीं रह जायगी। निर्वासन ही उनका भाग्य बन जायगा और बलिके यज्ञमें बाधा डालनेका कोई उपाय उनके पास नहीं था। बलि और उनके अनुचर अप्रमत्त थे। आचार्य शुक्र इन्द्रको तो यमराजके समान दुर्धर्ष लगते थे। देवता या दैत्य तभी धर्म कार्यमें विघ्न डाल पाते हैं-जब कहीं त्रुटि हो। कहीं यजमान, उसके सहायक या आचार्यसे प्रमाद हो।

'अम्ब ! बलिने दस अश्वमेध यज्ञ कर लिये !' इन्द्रको और कहीं कोई आशा नहीं थी। वे बार-बार माताके चरणोंमें ही उपस्थित होते थे। उनकी समझमें ही नहीं आता था कि उनके प्रति माता इस बार इतनी निष्करुण क्यों हो रही हैं। उनकी विपत्तिका निवारण उनका आनेवाला छोटा भाई करनेवाला है और माता उसे प्रकट नहीं कर रही हैं।

'वत्स ! प्रतीक्षा करो।' माता दूसरा क्या उत्तर देतीं।

बलिके यज्ञ मर्त्य धरापर चल रहे थे और इन्द्र थे मेरुपर। इसका

परिणाम यह था कि इस समय बलिके लिए जो एक वर्ष था, इन्द्रके लिए एक दिन था। प्रत्येक तीन दिनके अन्तरसे बलि एक अश्वमेध यज्ञ पूरा कर रहे थे इन्द्रकी गणनानुसार। इस क्रमसे सौ अश्वमेध यज्ञ उनके वर्ष व्यतीत होनेसे पूर्व ही पूर्ण हो जाने थे।

'ग्यारह पूरे हुए। बारह पूरे हुए।' देवेन्द्रको तो एक-एक संख्या ऐसी लगती थी जैसे उनके हृदयमें एक-एक वाण लग रहा है। हृदयमें लगनेवाले वाणकी वेदना—क्या आप ऐसे पच्चीस-पचास वाण लगनेकी प्रतीक्षा कर सकेंगे ? लेकिन ऐसी वेदना क्या कोई वश रहते सहना चाहता है ?

बलिके अश्वमेध यज्ञ तो निर्बाध चल ही रहे थे। जैसे-जैसे यज्ञोंकी संख्या बढ़ती जा रही थी, बलिकी दैत्योंके तेजोक्षयसे होनेवाली चिन्ता अकारण जान पड़ने लगी थी। प्रह्लादके शापको वे भूलते जा रहे थे। यज्ञोंमें तत्परता बढ़ती जाती थी।

'अम्ब ! अब तो बलिने अन्तिम यज्ञका भी समारम्भ कर दिया है !' इन्द्रसे बोला नहीं जा रहा था। उनका मुख सूख गया था। उन्हें भय भी लगता था कि माता उन्हें झिड़क ही न दें। उनकी बार-बारकी प्रार्थनाओंसे ऊबकर वे झिड़क दें तो इन्द्र कहींके नहीं रहेंगे; किन्तु अम्बाके चरणोंमें प्रार्थनाके अतिरिक्त उपाय भी कुछ नहीं था।

'वत्स ! मैं भी विवश हूँ।' देवमाताके हृदयमें भी खेद था। 'मेरी इच्छा भी इस बार असफल हो रही है। हम सब उस परमपुरुषकी शरण हैं, जो सदासे असहाय शरणागतोंका त्राता है।'

सहसा इन्द्रकी दक्षिण भुजा फड़की। माता अदितिने उन्हें वहाँसे चले जानेका संकेत किया। शक्रका मन सुप्रसन्न हो गया। दिशाएँ निर्मल हो गयीं और सभी देवताओंके निर्वासनकृश शरीरोंमें स्फूर्ति आ गयी। सबको लगा कि उनके भीतर और बाहर भी सत्त्वगुणका स्रोत उमड़ पड़ा है।

धरापर भृगुकच्छमें आज पहिली बार दैत्योंको आलस्यका अनुभव हुआ। उन्होंने अपने कर्तव्यमें शिथिलता तो नहीं आने दी; किन्तु उनको लगा कि उन्हें विश्राम चाहिये। बलिको भी लगा कि उनके चित्तमें क्रियाके प्रति उत्साह नहीं है।

आज पहिली बार यज्ञीय कुण्डसे धूम्र उठा था। आचार्य शुक्रने बलिसे कहा—'दैत्येन्द्र ! इस यज्ञमें यदि तुम पौलोमी शचीको अपने वामभागमें बैठनेको विवश कर सको तो सहज ही इन्द्रत्त्व तुम्हारा स्थायी स्वत्व हो जायगा। शची सहज इन्द्राणी है।'

'गुरुदेव, आप मुझे ऐसी आज्ञा मत दें।' महामनस्वी बलिने नम्रतापूर्वक; किन्तु दृढ़तासे प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया—'मेरी जिस पत्नीने अबतक निन्यानबे यज्ञोंमें दिन यज्ञीय कर्ममें और रात्रि अश्व-सेवामें व्यतीत किया है, उस सती विन्ध्यावलीको उसके स्वत्वसे वंचित करके मैं इन्द्रत्वकी कामना नहीं करता।'

'यह अन्तिम यज्ञ है। इसमें कुछ भी अकल्पित सम्भव है। इसीलिए मैंने तुम्हें सुगम सुझाव दिया था।' शुक्राचार्यने आग्रह नहीं किया; किन्तु यजमानने पहिली बार उनकी बात अस्वीकार की थी, यह उन्हें अच्छा नहीं लगा। वे तटस्थ भावसे बोले—'तुम इसे नहीं मानना चाहते तो मैं आग्रह नहीं करूँगा।'

'इससे दानवेन्द्र पुलोमा अप्रसन्न न भी होते हों, तो भी आचार्य इस अधर्मकी ओर मुझे प्रेरित नहीं करें।' बलिने यह संकेत भी कर दिया कि शचीको यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं हो सकता और उनके साथ कोई बल प्रयोग करनेसे दैत्यों और दानवोंमें संघर्ष हो सकता है।

भृगुकच्छकी यह चर्चा वहीं समाप्त हो गयी। अवश्य ही आज यज्ञकुण्डसे बार-बार धूम्रका उठना आचार्य शुक्रको सचिन्त कर रहा था। दैत्योंके तेजोक्षयको उन्होंने महत्त्व नहीं दिया था; किन्तु उन्हें बलिमें भी वह तेज नहीं लग रहा था जो पहिले था। लेकिन बलिने उनकी आज्ञा स्वीकार नहीं की थी, इससे वे कुछ खिन्न हो उठे थे। अतः बलिसे उन्होंने कोई अन्य चर्चा नहीं की।

उधर देवमाता अदितिके आश्रममें सबका चित्त सुप्रसन्न था। महर्षि कश्यपके यज्ञीय-कुण्डमें-से बिना आहुतिके ही हव्यवाहकी निर्मल लपटें उठ रही थीं।

भाद्र शुक्ल द्वादशी तिथि थी। श्रवण नक्षत्र और मकरके चन्द्रमें मकर

ही लग्न था। उस समय मध्याह्नमें जब अभिजित मुहूर्तमें देवी अदितिके सम्मुख सशङ्ख, चक्र, गदापाणि, शशाङ्कवर्ण, श्वेत द्वीपाधिपति परमप्रभु अजित प्रकट हुए।

'नमो नमः! जय जय!' आह्लादकी अधिकताके कारण देवी अदितिके मुखसे इतना ही निकला।

'सर्वेश्वरेश्वर, निखिल ब्रह्माण्डनायक परमप्रभुको नमस्कार! कुछ स्थिर होनेपर देवी अदिति स्तुति करने लगीं।

'अम्ब! आपका अभिप्राय मुझसे अविदित नहीं है।' उन मुकुट, कुण्डलादि आभूषणोंसे भूषित, श्वेतवसन, श्वेतपद्ममाली प्रभुने स्वयं कहा—'आप चाहती हैं कि आपके पुत्र स्वर्गमें क्रीड़ा करें और उनके शत्रुओंको संकट प्राप्त हो। वे पराजित करके नीचेके लोकोंमें भेज दिये जायँ।'

'किन्तु देवि!' भगवान स्वयं दो क्षण रुककर बोले—'इस समय दिति पुत्र दुर्धर्ष हैं। जिनके अनुकूल ब्राह्मण हों, काल हो और जो धर्माचरणपर स्थिर हों, उनके विरुद्ध पराक्रम प्रकट करके कोई सुख और सफलता नहीं प्राप्त कर सकता।'

'मैं आज नवीन सुन रही हूँ कि सर्वसमर्थ सर्वेश्वरके लिए भी कुछ असाध्य है और कोई दुर्धर्ष हैं।' देवी अदितिने शिथिल स्वरमें ही कहा—'दितिपुत्रोंपर मुझे कोई रोष नहीं है। मैं नहीं चाहती कि उनकी पत्नियाँ दुःखी हों। वे भी मेरी वधुएँ ही हैं। मेरे पुत्रोंको उनका स्थान मिल जाय, इतना पर्याप्त है, यदि तुमको भी यह प्रिय हो।'

'अम्ब! कोई कितना भी समर्थ हो, मार्गपर चलनेवालेको धक्का मारकर पथच्युत करनेका उसे अधिकार नहीं है।' अजित प्रभुने कहा—'उसे उससे आगे जाना हो तो एक ही उपाय है कि वह उसीसे पथ-प्रदान करनेकी याचना करे। धर्म ही त्रिभुवनको धारण करता है। धर्मका जिसने आश्रय ले रखा हो, उसका अतिक्रमण मैं भी नहीं कर सकता।'

'अर्थात्?' देवमाताके मुखसे निःश्वास निकल गया।

'अम्ब! आप निराश मत हों।' अब उन लीलामयने आश्वासन

दिया—'मेरी आराधना निष्फल नहीं होती। श्रद्धा और संकल्पके अनुसार उसका फल होता ही है। यह मर्यादा भी अक्षुण्ण रहनी चाहिये और मैं आपका पुत्र हूँ। अपने अग्रजोंकी सहायता करना मेरा कर्तव्य है।'

देवमाता अदिति इन वाक्योंका अर्थ समझ सकीं या नहीं, कहना कठिन है; किन्तु आश्वस्त हो गयीं कि उनके पुत्रोंका संकट अब अवश्य दूर हो जायगा।

इतने ही में हंसवाहन भगवान ब्रह्मा तथा वृषभध्वज भगवान शङ्कर देवी पार्वतीके साथ वहाँ आ गये। महर्षि कश्यपका आश्रम महर्लोक, जनलोक, तपोलोक और सत्यलोकके ऋषियों, तपस्वियोंसे भर उठा।

सभी पुष्पवर्षा करके भगवान अजितकी स्तुति कर रहे थे। श्वेतद्वीप जाकर भी जिनका दर्शन नहीं हो पाता, उन परमप्रभुके दर्शन, स्तवन, पूजनका यह अनुपम अवसर सबको आकृष्ट कर लाया था। सब श्रद्धाविभोर अपने-अपने भावानुसार स्तवन तथा अर्चनमें लगे थे।

स्तवन समाप्त ही हुआ था कि भगवान अजितका वह चतुर्भुज स्वरूप सबके सामने ही वामन रूपमें परिवर्तित हो गया। ऐसे परिवर्तित हो गया जैसे वह कभी चतुर्भुज था ही नहीं। श्रीहरिके आभूषण, वस्त्र, आयुधादि कभी स्थूल तो होते नहीं। वे उनके स्वरूपभूत चिन्मय ही होते हैं। अतः उन्हें उनके श्रीविग्रहमें ही लीन हो जाना था और वह चतुर्भुज श्रीविग्रह द्विभुज वामन रूपमें सम्मुख विद्यमान हो गया था।

सुकुमारत्व यदि सौन्दर्य एवं तेजके साथ धनीभूत हो तो उस वामन मूर्तिके सम्मुख श्रीहीन लगेगा। वहाँ स्वयं सृष्टिकर्ता उपस्थित थे, भगवान चन्द्रमौलि थे और महर्लोकसे सत्यलोक तकके महर्षिगण थे। वहाँ कोई पार्थिव शरीरधारी नहीं था। सब ज्योतिर्देह; किन्तु सब ऐसे हो गये थे जैसे पूर्ण चन्द्र मध्याकाशमें हो तो तारे हो जाते हैं।

किंचित अरुणिमा मिश्रित वह शुभ्र श्रीविग्रह और उसपर भी वामनाकार। कुल तीन-चार वर्षके शिशु जितना बड़ा आकार; किन्तु लगता था कि वे शिशु नहीं हैं। उन परमपुरुषको वृद्ध, युवा, बालक कुछ

भी कहना कठिन था। अवस्थाएँ उनमें अधिष्ठित होती हैं। अवस्थाओंकी सीमामें तो वे आते नहीं।

'तात ! प्रणमामि !' उस दिगम्बर वामन बालकने जब भूमिमें घुटने टेककर प्रणति निवेदन किया महर्षि कश्यपको तो महर्षिको भूल ही गया कि अभी-अभी वे इन्हीं लीलामयका स्तवन कर रहे थे। उन्होंने 'आयुष्मान् भव वत्स !' कहकर आशीर्वाद दिया स्नेह गद्गद स्वरसे और उठाकर अङ्कसे लगा लिया।

भूल तो गये भगवान ब्रह्मा और समस्त महर्षिगण कि वे भगवान अजितके ही सम्मुख हैं। सबको ही वे दिगम्बर कश्यप-नन्दन ही प्रतीत हुए। उन मायापतिकी मायासे ही मोहित तो सम्पूर्ण सुरासुर एवं जगत अनादि कालसे स्वप्नके व्यवहारको सत्य मानता उन सर्वरूपको विस्मृत किये है।

'वत्स ! तुम्हारा यह बालक वामन तो है; किन्तु' सृष्टिकर्ताने कश्यपजीसे कहा—'अब उपनयनके योग्य हो गया है।'

आकारकी अल्पताके कारण वामन पाँच वर्षके कठिनाईसे जान पड़ते थे। उनके कर, पद प्रभृति समस्त अवयव अत्यन्त सुकुमार थे और आकारके अनुरूप पतले, नन्हे थे। बहुत ध्यानसे देखनेपर ही लक्षित हो सकता था कि उनके करोंकी अँगुलियाँ अंगुष्ठके अतिरिक्त समानाकार हैं। यही उनके वामनाकारका प्रमाण था। अँगुलियाँ समान हों तो बालक युवा होनेपर भी बढ़ता नहीं, वह वामन ही रह जाता है; किन्तु यह अद्भुत वामन। इसे तो वामनसे विराट् बनते भी क्षणार्ध नहीं लगता था।

बामन भगवानमें एक विशिष्ठता थी। कटिसे नीचेका भाग कटिसे ऊपरके भागके समान ही था। दोनों भागोंमें वैसा वैषम्य नहीं था, जैसा वामन पुरुषोंमें अङ्ग-विकासजन्य विकृतिसे आता है।

मनुष्य वामन रह जाता है तो उसके कण्ठसे ऊपरका मुख एवं मस्तकका भाग बड़ा हो जाता है। उसका सामान्य विकास होता है; किन्तु धड़ एवं पदका विकास ठीक नहीं होता। वह कुछ कुब्ज जैसा हो जाता है और कटिके नीचेका भाग तो बहुत छोटा रह जाता है। ऐसा कोई विकृत

वैषम्य भगवान वामनके श्रीविग्रहमें नहीं था। वे ऐसे लगते थे जैसे उत्तर ध्रुव प्रदेशीय लोगों (एस्कीमो) में भी कोई थोड़ा अधिक छोटा उत्पन्न हुआ हो और अत्यन्त सुन्दर हो। अवस्था अवश्य अभी पाँच वर्षकी ही हुई लगती थी।

भगवती अदितिको पितामहका सुझाव प्रिय नहीं लगा। अभी-अभी तो उनका यह शिशु उत्पन्न हुआ और अभी ही इसे वैदिक कर्मकाण्डमें लगा दिया जाय ! देवमाता हैं वे। उनके सभी पुत्र उत्पन्न होते ही सम्पूर्णकाय वयस्क होकर तत्काल अपने कर्तव्योंको सम्हालनेमें लगते रहे हैं; किन्तु यह शिशु—यह तो कितना सुकुमार, कितना छोटा है। इसे अङ्कमें लेकर स्तन-पान करानेकी उत्कण्ठा किस माताके हृदयमें नहीं होगी। यह तो माताका अपना उदरजात है। इसे हृदयसे लगानेका भी अवकाश नहीं मिला और उपनयनका प्रस्ताव ?

'अम्ब ! आप अनुमति दें।' ब्रह्माजी पितामह हैं। उनके संकोचसे देवमाता बोल नहीं सकीं। इतनेमें तो माताके चरणोंमें वामनने मस्तक रख दिया।

'वत्स !' माताने ललककर उठाया वामनको और अंकसे लगा लिया। उनके वक्षसे अमृत झरने लगा था। उन्होंने वामनका मुख उठाया अपनी ओर।

'अवश्य भगवन् !' महर्षि कश्यपका स्वर अदितिके श्रवणोंमें पड़ा। सृष्टिकर्ताका आदेश उनके पतिदेव करबद्ध स्वीकार कर रहे थे। माता अदितिका हृदय मथित हो उठा।

'देवि ! वटुको कौपीन प्रदान करो !' महर्षि कश्यपने कहा तो अदितिको अपने अंकसे पृथक करना पड़ा। महर्षिने वामनकी कोमल कटिमें मोटी मौञ्जी मेखला बाँधी तो माताका हृदय हाहाकार कर उठा। वह मेखला उनको देखना असह्य हो गया। कम्पित करोंसे उन्होंने उस मेखलामें कौपीन लगाया और झटपट कौपीनाच्छादन इस प्रकार लगाया कि मेखला उस आच्छादनके कारण वामनके सुकुमार शरीरसे तो कुछ पृथक हो।

भगवती धराने प्रत्यक्ष होकर अत्यन्त कोमल कृष्णमृग चर्म दोनों

करोंमें लेकर सम्मुख उपस्थित किया तो वामनजीने धीरेसे उठा लिया वह मृगचर्म; किन्तु धरादेवीकी ओर दृष्टिपात नहीं किया। वे अभी ब्रह्मचारी बन रहे हैं। धरादेवीको पत्नीत्वकी स्वीकृति पानेकी आशा इस समय नहीं है।

अन्तरिक्षसे ब्रह्मचारीके उपयुक्त तालपत्रका मनोरम छत्र अवतरित हुआ। ऐसा छत्र जिसका दण्ड वामन न भी पकड़े रहें तो वह स्वयं उनके मस्तकपर छाया किये रहेगा।

वनस्पतियोंके राजा सोमने सीधा सुन्दर पलाशदण्ड प्रस्तुत किया। भगवान ब्रह्माने कमण्डलु थमा दिया। भगवती सरस्वतीने रुद्राक्षकी माला अर्पित की। यक्षराज कुबेरने भिक्षापात्र दिया। उस नन्हे पात्रको पात्रिका कहना ही उपयुक्त है। यह तो कुबेर ही जानते थे कि उस पात्रिकाका उदर अक्षय है। उसमें पड़ा पदार्थ अक्षय बना रहता है।

सप्तर्षिमें-से प्रत्येकने कुश प्रदान किया। महर्षि मरीचि पितामह होते हैं वामनजीके। उन्होंने पलाशदण्डको संस्कार करके पुनीत किया। वशिष्ठजीने कमण्डलुमें पकड़नेका अंश और उसे स्थिर रखनेवाला आधार लगाया। अंगिराने वस्त्र दिया। पुलहने आसन और पुलस्त्यने पीतवस्त्र प्रदान किया।

वामनका संस्कार होने लगा तो उन्हें देवगुरु महर्षि बृहस्पतिने यज्ञोपवीत पहिनाया। गायत्री मन्त्रका उपदेश उसके अधिष्ठाता सविता देवताने स्वयं किया।

वामनका यज्ञोपवीत संस्कार सम्पन्न हुआ। आश्चर्यकी बात है कि किसीका ध्यान नहीं गया कि उपनयनके पूर्व ब्रह्मचारीका मुण्डन भी होना चाहिये। इसका कारण था, वामन स्वरूपमें जब भगवान अजित प्रकट हुए, उनकी घुंघराली काली सघन केशराशि भी लुप्त हो गयी थी। उनका मस्तक मुण्डित ही लगता था और उसपर बड़ी-सी चुटिया शोभित थी।

उपनयन विधिपूर्वक सम्पन्न हुआ। वामनने अग्निका परिसमूहन किया और समिधाओंसे हवन किया।

नवीन उपनीत ब्रह्मचारी प्रथम भिक्षा स्वजनोंसे लेता है और वह भिक्षा आचार्यको निवेदित कर देता है; किन्तु जैसे वामन अद्भुत थे, उनका

उपनयन भी अद्‌भुत ही हुआ था। देवगुरुने यज्ञोपवीत धारण कराया था; किन्तु गायत्रीका उपदेश किया था सविता (सूर्य) ने। सविता देवता अदितिके पुत्र होनेसे वामनके अग्रज ही हैं। इसी प्रकार बृहस्पतिजी भी उनके पिता कश्यपके भाई ही होते हैं; क्योंकि ब्रह्माजीके मानसपुत्रोंमें मरीचिके पुत्र कश्यपजी और अंगिराके पुत्र बृहस्पतिजी हैं। वामनजीके तो सब स्वजन ही थे; किन्तु उन्हें प्रथम भिक्षा दी भगवती सतीने।❀

भिक्षा स्वयं अन्नपूर्णाने दी और भिक्षा-ग्रहण की वामनने। अब वामनने पिताकी ओर देखा। उनका तात्पर्य था कि वे बृहस्पति और सवितामें-से किसे आचार्य स्वीकार करके उसे अपनी यह भिक्षा अर्पित करें।

अच्छा नहीं लगता था कि कश्यपजी अपने ही बड़े पुत्र सविताको आचार्य बना दें और उनके इस अद्‌भुत पुत्रकी उपनयन-भिक्षा घरमें ही रह जाय। महर्षि बृहस्पति भी प्रतीक्षा कर रहे थे। कश्यपजीके अदितिसे उत्पन्न ग्यारह पुत्र उनके शिष्य थे। सविता भी शिष्य ही थे बृहस्पतिके। अतः इन बारहवें आदित्य वामनको उनका ही शिष्य होना चाहिये। इनका आचार्यत्व वे अपना स्वत्व मानते थे। अतः वे इस भिक्षाकी प्रतीक्षामें थे। कश्यपजीने उनकी ओर संकेत कर दिया।

यक्षराजका दिया वह नन्हा पात्र अक्षय और उसमें भगवती अन्नपूर्णा की दी भिक्षा अक्षय। न पात्रमें रिक्त होनेकी योग्यता और न भिक्षामें समाप्त होनेका गुण। यदि वामन वह भिक्षा उड़ेलने लगते तो अनन्त कालतक पात्रको रिक्त नहीं होना था; किन्तु वामनको ऐसी भूल करनी नहीं थी। उन्होंने बृहस्पतिके सम्मुख वह पात्र ही धर दिया।

नियमतः उपनीत ब्रह्मचारी आचार्यको भिक्षा देकर विद्याध्ययनके लिए गुरु-गृह जाता है; किन्तु वामनको अध्ययन करने कहीं जाना नहीं था। उन्होंने आचार्यसे जिज्ञासा की—'भगवन् ! त्रिलोकीमें कौन सबसे सम्पन्न और उदार है ?'

❀ यहाँ भागवत वर्णित सतीका अर्थ पार्वती है, क्योंकि दक्षकन्या सतीने स्वायम्भुव मन्वन्तरमें ही शरीर त्याग दिया था। वामनावतार वर्तमान श्वेत वाराह कल्पके चाक्षुष मन्वन्तरमें हुआ है।

देवगुरु वृहस्पतिको भी दो क्षण सोचना पड़ा। समस्त लोकोंके एकमात्र जो स्वामी हैं, उन साक्षात् श्रीपतिके सम्मुख वे किसका नाम लें; परन्तु अधिक सोचना नहीं पड़ा उन्हें। उनकी भले शुक्राचार्यसे स्पर्धा है; किन्तु उनमें प्रतिस्पर्धीकी शक्ति और ऐश्वर्यको स्वीकार करनेका औदार्य न होता तो वे देवगुरु होते या भगवान वामनका आचार्यत्व उन्हें प्राप्त होता ? उन्होंने स्पष्ट कहा—'इस समय आचार्य शुक्रके यजमान दैत्येन्द्र बलि ही त्रिलोकीके अधिपति हैं और उन प्रह्लादके पौत्रकी उदारता अतुलनीय है।'

'भगवन् ! जैसे निर्धन अथवा अनुदारसे याचना असफल रहती है, वैसे ही सम्पन्न और उदारसे भी असमयमें की गयी याचना सफल नहीं होती।' वामनने पुनः पूछा—'उन उदार दैत्येन्द्रकी परिस्थिति तो दान देनेकी है ?'

'उन्होंने इस समय अश्वमेध यज्ञकी दीक्षा ले रखी है।' वृहस्पतिने बतलाया—'वैसे भी अश्वमेध यज्ञके दीक्षित यजमानको किसी याचकको निराश नहीं करना चाहिये और बलि तो अपनी दानशीलताके लिए अपने शत्रु सुरोंके द्वारा भी प्रशंसित होते हैं।'

'ब्राह्मण ब्रह्मचारीको अपने स्थान और निर्वाहकी व्यवस्था स्वयं करनी चाहिये।' वामनने देवगुरुसे आज्ञा माँगी—'अतः आप मुझे उन दैत्येश्वरके दर्शनकी अनुमति दें।'

अब देवगुरुने, माता अदितिने, महर्षि कश्यपने भी अनुमान कर लिया कि सुरोंका सङ्कट समाप्त होनेवाला है। निखिल-लोक-महेश्वर जब याचक बनेगा तो उसकी भिक्षा-झोली भर देनेकी शक्ति किसीमें होनी सम्भव ही नहीं है।

'वत्स ! पूर्णकामो भव !' वृहस्पतिने आशीर्वाद देकर अनुमति दे दी।

महर्षि कश्यप और माता अदितिको भी वामनने प्रणाम किया और वहाँसे भृगुकच्छकी ओर प्रस्थान किया।

'धन्य बलि !' वृहस्पतिजीके मुखसे निकला। सर्वेश्वर जिससे याचनाकी आकांक्षा करे, उसके समान सौभाग्यशाली दूसरा कोई कैसे हो सकता है।

बलिका सुयश—

अदभुत है सर्वात्माकी सृष्टि भी। यहाँ प्रतिकूल परिस्थिति तो समस्याएँ उत्पन्न ही करती हैं; किन्तु अनुकूल स्थिति भी कम समस्या नहीं उत्पन्न करती।

आज मनुष्य मनसे भी दरिद्र हो गया है; जबकि विज्ञानके प्रचुर साधनोंने उसे बहुत अधिक साधन सुलभ कर दिया है। आज तो यह समझना ही कठिन है कि वैदिक ऋषि क्यों प्रार्थना करता है—'अतिथिर्मे भूयात्।' मुझे अतिथि प्राप्त होते रहें।

मनुष्य सतयुगमें सन्तोषी था और पृथ्वी फल-कंद-मूलसे सम्पन्न थी। बलिके धर्मपूर्वक पालन और दैत्योंकी सतत सतर्कताने अकाल-महामारीकी चर्चा भी उत्पन्न नहीं होने दी थी। इसका एक स्वाभाविक परिणाम हुआ था कि कोई कहीं यात्रा भी करता था तो किसीका अतिथि नहीं होना चाहता था। कहीं भी जलकी सुविधा देखकर वृक्षके नीचे रात्रि-विश्राम कर लेता था।

आहारकी आवश्यकता जब स्वादके लिए न होकर केवल उदरपूर्तितक सीमित हो—किसीका आभार कोई क्यों ले। तबतक कृषि प्रारम्भ नहीं हुई थी। भूमिपर मेड़ोंके घरौंदे बनाकर लोगोंको अपना स्वत्व-सीमांकन अनावश्यक लगता था। आवासके उटजके अतिरिक्त भूमि और वन—सब वृक्षावलियाँ अधिकार उन्मुक्त थीं और प्रकृति सर्वत्र सृष्टिके सर्वोत्कृष्ट प्राणी मानवका आतिथ्य करनेको अपने उपहार सजाये थी।

स्वर्गके शासक-इन्द्रपदको बलिने लिया तो धरापर-से उत्पीड़क तत्त्व लुप्त हो गये। मशक-मत्कुण (मच्छर-खटमल) तो उस युगकी देन हैं, जब जनपद सघन होने लगे और अस्वच्छता सड़ाँध उत्पन्न करने लगी। एकाकी गुहा या उटजवासी, त्रिकाल स्नान करनेवाले वल्कलवसन लोगोंके यहाँ स्वेदज प्राणी उत्पन्न हो सकते थे?

उस समयतक तो व्याघ्र-सिंहादिने भी हिंसा नहीं सीखी थी। मनुष्य इन अरण्यानी प्राणियोंका सहज आपत्ति-सखा था और ये उसका सामीप्य पाकर प्रसन्न होते थे। मनुष्यकी तो सर्पादि भी विनोद-वस्तु थे। वे भी अपनी उपस्थितिसे सुप्रसन्न करते थे।

कहीं भय-आशंका नहीं और आहारके लिए कंद, फल प्रायः सर्वत्र उपलब्ध। ऐसे वातावरणमें संग्रहकी प्रवृत्ति ही पाप मानी जाय तो आश्चर्य क्या।

गोपालन होता था—खूब होता था; किन्तु होता था यज्ञीय आहुतिके लिए आज्य (घी)की प्राप्तिके लिए और गोपालनका अर्थ भी गौओंको दुह लेना तथा उनको समयपर स्नान करा देना था। वे शस्य श्यामल भूमिपर स्वयं चर लेती थीं और स्वयं उस उटजके समीप आ बैठती थी, जो उनको स्नेह देता था, उनमें ममत्व बना लेता था। उनका भी उसमें ममत्व हो जाता था।

बड़ा उत्साह था सबमें कि उसे आतिथ्य करनेका सौभाग्य प्राप्त हो। अतिथि साक्षात् श्रीहरिका स्वरूप; किन्तु जब कोई किसीका अतिथि बननेको उत्सुक ही न हो तो अतिथिकी प्राप्ति सौभाग्यसे ही हो सकती थी।

ऐसे वातावरणमें बलिने अश्वमेध यज्ञ प्रारम्भ कर दिया था। वे जानते थे कि मनुष्योंकी सहज अरुचि है दैत्यकुलकी ओरसे। मानव देवताओंमें श्रद्धा रखते हैं। देवताओंसे स्नेह करते हैं। दैत्योंको स्वर्ग तथा सृष्टिके संचालक पदोंपर अधिकारकी प्राप्तिके कारण मानवकी यज्ञीय आहुति पुष्ट तो कर रही थी; किन्तु सतयुगका मनुष्य लोभ या भयके कारण श्रुतिके मन्त्रोंमें परिवर्तन तो सह नहीं सकता था। वह यज्ञमें आहुति तो 'इन्द्राय स्वाहा, इदं इन्द्राय, इदं न मम' कहकर ही देता था। इन्द्र, वरुण, कुबेर, अग्नि, वायु ही उसके उपास्य थे। भले इन पदोंपर आसीन दैत्य उसकी आहुति पा जायँ; किन्तु दैत्योंको उसने पूज्य माना नहीं था।

अश्वमेध यज्ञका अर्थ ही क्या यदि उसमें अतिथि न आवें। यज्ञ तो होता ही है सर्वमय, सर्वरूप, सर्वात्माकी सेवाके लिए। उसमें सब प्राणियोंके

सत्कारमें यजमान अपना समस्त संग्रह—श्रम एवं धर्मसे अर्जित समस्त पूँजी* समर्पित कर दे, तब यज्ञ सम्पूर्ण हुआ।

बलिका सब अर्जन, सब सम्पत्ति धर्मपूर्वक प्राप्त थी; किन्तु वे दैत्यकुलमें उत्पन्न थे, इसमें कैसे परिवर्तन कर लेते ? इसका यह फल हुआ था कि ऋषिगण उनसे उदासीन थे। धराके ब्राह्मणोंमें उनकी दानशीलता तथा विनयकी प्रशंसा बहुत थी। पृथ्वीके, विशेषतः भारतके लोग किसीके भी सद्गुणोंकी प्रशंसा ओर सम्मान करनेमें अत्यन्त उदार थे; किन्तु जहाँ आतिथ्य या दान-ग्रहणकी बात हो, ये भारतीय ब्राह्मण अत्यन्त निस्पृह, निराकांक्ष थे। वे मानवोंमें भी तपस्वी,धर्मात्माजनोंसे कुश-पुष्पतक दान लेनेमें सौ बार सोचना आवश्यक मानते थे तो बलिसे—असुरसे प्रतिग्रहकी बात सुनना भी उन्हें अप्रिय लगना ही था।

बलिके यज्ञ शुक्राचार्य और उनके शिष्यों-पुत्रोंके सहयोगसे चल रहे थे। इसलिए भी बलिकी श्रद्धा तथा आदर-बुद्धि शुक्रके प्रति अत्यधिक थी। कोई दूसरा ब्राह्मण तो उनका अर्चन स्वीकार ही नहीं करना चाहता था।

'पूरे देशमें कहीं कोई किसी अभावका अनुभव करे तो उसे तत्काल पूरा कर दिया जाय।' बलिने अपने सेवकोंको आदेश दे रखा था—'आवश्यकतासे विवश होकर किसीको यहाँतक आनेका श्रम नहीं पड़ना चाहिये।'

सचमुच इसमें व्यक्तिका कोई गौरव नहीं कि उसके पास आवश्यकतासे विवश लोग आते हैं। आवश्यकता तो शौचालय जैसे अपवित्र स्थानमें भी जानेको विवश बना देती है। गौरव है देवालयका या महात्माका जहाँ लोग श्रद्धासे जाते हैं।

'दैत्य बलिके समीप श्रद्धासे कोई आवे, यह आशा करले, ऐसा मूर्ख बलि नहीं है। क्या हुआ जो यह इन्द्र हो गया।' बलि कहते थे—'यह सौभाग्य

---

*अधर्म, चोरी, जुआ, डकैती, ठगी, धोखाधड़ीसे प्राप्त धनसे जो यज्ञ या अर्चन होता है, उसका भाग असुर पाते हैं। उससे कोई पुण्य प्रारब्ध नहीं प्राप्त होता।

तो बलिके पितामह ही प्राप्त कर सके; किन्तु बलिका इन्द्रत्व व्यर्थ है यदि मानव आवश्यकता-विवश कहीं जानेको बाध्य हो। बलिके पास कोई विवश न आवे। श्रद्धासे भले न आवे, प्रेमसे तो आवे।' और प्रेम या स्नेह केवल सेवासे पाया जाता है—यह बलि जानते थे।

यद्यपि सतयुगका पुरुष कुतूहली नहीं था; किन्तु जहाँ उत्कृष्ट शास्त्रीय विधि, लोकोत्तर आराधना हो, उसके दर्शनकी उत्कण्ठा सत्पुरुषोंमें भी होती है। अतः बलिका यज्ञ दर्शनीय हो गया था। उसे देखने कुछ लोग आते थे। वे ब्राह्मण ही नहीं होते; किन्तु अतिथिमें तो विप्र-शूद्रका भेद किया नहीं जाता। अतिथि मात्र सत्कारका अधिकारी है। बलिके यहाँ उसका भलो प्रकार सत्कार होता था।

अपने उदार अधिपतिका तो संकेत था ही, दैत्योंमें स्वतः भी बहुत उत्साह था। किसी भी आगतको वे अश्व, गज, रथ, रत्नादि न भी लेना हो तो भी देख लेनेका अनुरोध करते थे। सर्व लक्षणसम्पन्न गज, गौ, अश्वादि पशु, सुर-दुर्लभ रत्न, निधिभूत अत्यन्त दुर्लभ औषधियाँ और मृग-व्याघ्रादिके चर्मोंका अपार भण्डार था बलिके समीप। अतिथि उनमें किसीको तनिक ध्यानसे देखने लगे तो बलिके अनुचर भी। आग्रह करके उसको अतिथिकी भेंट कर देते थे।

ब्राह्मण-बालक गुरुके समीप शिक्षा समाप्त करते थे तो गुरुदेवको दक्षिणा देना चाहते थे और प्रत्यावर्तनके पश्चात् विवाह करके उन्हें अपना स्वतन्त्र उटज स्थापित करना था। वे भले तपोनिरत रहें, उनकी पत्नियोंको तो थोड़ी व्यवस्था अपेक्षित ही थी। बलिके सावधान अनुचर ऐसी किसी सेवाका अवसर अन्वेषण ही करते रहते थे।

'स्वर्गाधिप बलि, दैत्येन्द्र बलि, परम धर्मात्मा बलि, अत्यन्त उदार और विनयशील बलि' पृथ्वीपर सर्वत्र बलिकी चर्चा, बलिकी प्रशंसा कुछ युवकोंको बलिका दर्शन करनेको उत्साहित करती थी।

सतयुगमें देवताओंका दर्शन दुर्लभ नहीं था; किन्तु देवता पृथ्वीपर तो बसते नहीं थे। स्वर्ग विशेष ही व्यक्ति जा सकते थे। देवता भी कभी-कभी पृथ्वीपर आते थे; किन्तु बलि और उनके अनुचर तो भृगुकच्छमें दीर्घकालसे

आ बसे थे। इतना लोकोत्तर दिव्य पुरुष जो इन्द्र होकर भी परम विनीत था, धरापर था तो उसके दर्शनकी उत्कण्ठा अधिक लोगोंमें जागेगी ही।

'राजाका दर्शन रिक्त हस्त नहीं करना चाहिये।' यह स्मृतिका आदेश है और बलि तो त्रिभुवनके शासक थे। अत: उनके दर्शनोंको आनेवाले लोग उपहार लेकर—अपनी शक्तिके अनुसार उत्तम उपहार लेकर आते थे।

बलिको इन उपहारोंकी अपेक्षा तनिक भी नहीं थी; किन्तु किसीके दो पुष्पोंकी भी उन्होंने उपेक्षा कभी नहीं की। बड़े सम्मानसे वे प्रत्येकका उपहार प्राय: स्वयं स्वीकार करते थे। यही तो अवसर था जब वे आगतका सत्कार कर सकें और उसे आग्रहपूर्वक अपनी भेंट अर्पित कर सकें।

दैत्येन्द्र बलिके इस औदार्यका, इस व्यवस्थाका एक अनिवार्य परिणाम हुआ था कि दूसरोंके लिए दान और आतिथ्य अलभ्य हो गया था। प्रतिग्रह वैसे भी अप्रिय था और आवश्यकता किसीको हो, यह अवसर बलिके अनुचर नहीं आने देते थे। उस युगमें लोभजन्य असन्तोष लोगोंमें था ही नहीं।

बलिके अनुचर सर्वत्र दृष्टि रखते थे। कोई कहींसे भी प्रवास करे, यदि वह बलिके समीप जानेको निकलता था तो उसको यात्रामें कोई कष्ट, कोई असुविधा न हो, यह व्यवस्था उसे बताये बिना दैत्य करते रहते थे। उसे यह विदित नहीं होता था कि उसकी कोई दूसरा कुछ व्यवस्था कर रहा है; क्योंकि ऐसा होनेपर वह उस व्यवस्थाको अस्वीकृत कर दे सकता था या अपनेको उपकृत अनुभव कर सकता था।

शासकका कर्तव्य है मार्गोंको प्रशस्त रखना, मार्गोंपर आवश्यक स्थानोंपर रात्रि-विश्रामके स्थल बनाना, थोड़ी-थोड़ी दूरीपर पथिकोंके लिए जल उपलब्ध रखना, सरिताओं और नालोंपर आवश्यक स्थानोंपर सुदृढ़ सेतु बनाये रखना। यह सब तो बलिने किया ही था; उनके अनुचर एकाकी यात्रीकी यात्रामें भी उसके पथको प्रशस्त करनेका कार्य चुपचाप कर देते थे।

पथिकको विश्राम-स्थान, जल तथा छाया तो उपलब्ध ही होती थी, उसके पथमें विश्राम स्थानोंके समीप पर्याप्त पुष्प, दल, कन्द-फलके वृक्ष भी

मिलते थे। वह अपने आह्निक पूजनादिके लिए पुष्प, दल तथा आहारके लिए कन्द, फलादिके संग्रह भी स्वतः कर सकता था। विश्राम-स्थानोंमें सदुग्धा गायें थीं। पथिक यदि स्वीकार करे तो उसे दूध, दधि, नवनीत, घृत एवं मधु भी अपने अर्चन एवं आहारके लिए नम्रतापूर्वक आवासोंके प्रबन्धक भेंट करते थे।

बलि इन्द्र थे। वायु, अग्नि आदि जो थोड़े देवता स्थानच्युत नहीं किये गये थे, उन्हें भी बलिका कोपभाजन तो बनना नहीं था। अत: किसीके धर्मानुष्ठानमें, प्रवासमें या किसी आवश्यक कार्यमें वर्षा, अन्धड़, तीव्र ताप अथवा कठोर शीतकी बाधा उपस्थित ही नहीं होती थी।

अग्नि हों या वायु, सूर्य हों या चन्द्र, उन्हें समस्त प्रजाको सुख देना था। बलिके यहाँ जाने अथवा उनके यहाँसे लौटनेवालोंके अनुकूल बने रहना था। उनको सहायता मिले, प्रसन्नता हो, ऐसी ही चेष्टा करनी थी।

बलि अपने यहाँ आगतोंको भरपूर उपहार देते थे। बहुत आग्रह करके देते थे। श्रेष्ठतम बहुमूल्य उपहार देने थे और साथ ही निवेदन करते थे—'आप आज्ञा करें, वहाँ इसे पहुँचा दिया जाय। आपको इसके वहन एवं मार्गमें रक्षणका श्रम नहीं करना होगा।'

इस सबका सुप्रभाव हुआ था। मनुष्य—भारतीय मनुष्य अकृतज्ञ कभी नहीं रहा है। अतः दैत्योंके प्रति दुर्भाव तो रहा ही नहीं था, दैत्य शब्द विनम्र सत्पुरुषोंका परिचायक बन गया था। तपस्वी ऋषियोंके लिए भी बलि प्रातःस्मरणीय बन गये थे।

शत्रु होनेपर भी सुर बलिकी प्रशंसा करने लगे थे। बलिने अवश्य अमरावती अधिकृत करली थी और समर्थ थे, सुरोंने बिना किसी संघर्षके त्रिविष्टप छोड़ दिया था और भागनेको विवश हुए थे; किन्तु मनस्वी बलिने न तो उनका पीछा किया और न उन्हें अन्वेषण करके सतानेकी कोई चेष्टा की। बलिसे सुरोंके आश्रय-स्थल अविदित नहीं हो सकते थे। अब उन दैत्य-पतिमें तमोगुण तो था ही नहीं, रजोगुण भी सत्वसमन्वित था। उनसे अधिक रजोगुण स्वयं सुरोंमें होता है। सुर कभी संयमी नहीं रहे; किन्तु बलि

स्वर्गाधिप होकर भी संयमी थे। एकपत्नी-व्रती थे। वे इच्छा करते तो अपने पिता विरोचनके समान ब्रह्मलोक जानेमें उन्हें कोई बाधा नहीं थी।

'बलि अश्वमेध यज्ञ कर रहे हैं और अत्यन्त श्रद्धापूर्ण आहुतियोंसे हमें पुष्ट कर रहे हैं।' बलि अपने यज्ञमें दी गयी आहुतियोंका आहरण करते तो भी उनके यज्ञमें कोई बाधा नहीं पड़ती थी। इन्द्र, प्रजापति, अग्नि आदिको आहुतियाँ तो बलिको भी यज्ञमें देनी ही थी। यज्ञ तो सविधि ही हो रहा था; किन्तु इन्द्र-पदपर स्वयं बलि थे इस समय। 'इन्द्राय स्वाहा' कहकर दी गयी आहुति वे स्वीकार कर लिया करते तो कोई प्रत्यवाय यज्ञमें नहीं आता; किन्तु बलिने कभी ऐसा नहीं किया। अपने यज्ञकी समस्त अर्चना एवं आहुतियाँ उन्होंने अदितिपुत्रोंको प्राप्त होने दीं। सुर परस्पर कहते थे—'संकटमें शत्रुको सहायता करनेका यह औदार्य धर्मात्मा विरोचनके तनयके ही उपयुक्त है।'

'बलि चाहते तो उनके यज्ञमें प्रत्यक्ष होकर हमें भाग लेना पड़ता। आचार्य शुक्रके सविधि आवाहनकी उपेक्षा हम नहीं कर सकते थे।' सुरोंको बार-बार कहना पड़ता था—'शत्रुको सम्मुख उपस्थित करके उपहार ग्रहणको विवश बनानेकी छुद्रता बलिमें कभी नहीं आयी। उन्होंने स्वयं आचार्यसे अनुरोध किया कि सुरोंको प्रत्यक्ष आगमनका आवाहन करना उचित नहीं है।'

'बलि किसी नियमका, विधिका किंचित भी उल्लंघन नहीं करते हैं, यद्यपि उनकी विधि-च्युति उनके स्वजनोंको ही सम्पुष्ट करनेवाली होगी।' इन्द्रकी समझमें नहीं आता था कि जब बलिको अप्सराओंके नृत्यमें कोई अभिरुचि नहीं, नन्दन काननका विहार प्रिय नहीं और अमृतपानकी आतुरता नहीं तो उन्होंने अमरावतीपर अधिकार ही क्यों किया। 'वे तो अपने अनुचरोंके साथ सत्यलोकमें सृष्टिकर्ताके समीप निवास कर सकते हैं। इन्द्रत्व हमसे छीनकर भी तो हमें ही परिपुष्ट करनेमें लगे हैं।'

'बलि अपने पितासे तनिक भी न्यून नहीं।' इन्द्रके मनमें एक युक्ति—दुर्युक्ति उदित हुई—'हम सबने प्रह्लादके उस दुर्धर्ष पुत्रसे उसकी आयु माँगी दानमें और उसने अस्वीकार नहीं किया। बलिसे भी हम उनकी आयु अथवा अमर पदकी याचना करें तो विरोचनात्मज अस्वीकार कर देंगे ?'

'नहीं करेंगे।' देवगुरु बृहस्पतिने बहुत गम्भीर होकर कहा—'किन्तु

तब बलिके उस अकल्पनीय दानका पुण्य उनके पुत्र बाणको प्राप्त होगा या नहीं ? सुर यदि विरोचनके सम्मुख याचक बनकर आयु-दान माँगने न गये होते, उनका पुत्र इतनी पवित्रता और संयम सहज प्राप्त कर पाता ?'

'विरोचनको उनके शत्रु सुरोंने श्रीहरिका पार्षद बननेका अवसर प्रदान किया।' देवगुरुके स्वरमें व्यंग नहीं था, चेतावनी थी—'बलिकी भी वे यह सेवा कर सकते हैं; किन्तु तब अनधिकारी हो जायँगे बलिके तनयकी छायाके स्पर्शमें भी। वह सहस्रभुज बलिनन्दन पहिलेसे ही भगवान त्रिपुरारिका प्रिय और उनसे संरक्षित है। उसके पिताके साथ छल करके शक्र उसके कोपको आमन्त्रित करनेका साहस करें, यह सम्मति मैं नहीं दे सकता।'

'बाणको क्रुद्ध होनेका कोई अवसर नहीं दिया जाना चाहिये।' सुर सशंक हो उठे—'शक्तिमें वह अपने पितासे किंचित भी न्यून नहीं है और भगवान पिनाकपाणि अपने पुत्रों तथा गणोंके साथ उसके सहायक हैं। हम बाणके विरुद्ध हों तो सबसे पहिले अपने सेनापतिको खो देंगे। सुर-सेनापति स्कन्द तब बाणके पक्षमें हमारे विरुद्ध होंगे।'

प्रलयंकर रुद्रका रोष, महाशक्तिकी प्रतिकूलता, गणाधिप और कार्तिकका समस्त शिवगणोंके साथ सुरोंके विरुद्ध उठ खड़ा होना, इतना सब अनर्थ आमन्त्रित करनेका साहस देवता नहीं कर सकते। उनके लिए यही बहुत बड़ा आश्वासन था कि बलिका सहस्रभुज पुत्र अपने शोणितपुरमें सन्तुष्ट था। उसमें कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं थी। सुरोंको हीनशक्ति मानकर उनकी उपेक्षा करता था।

'बाणको असन्तुष्ट होनेका अवसर नहीं दिया जा सकता।' शक्रने सचिन्त स्वरमें स्वीकार किया।

'इसीलिए उसके श्रद्धेय पिताको अपनी याचनासे गौरवान्वित करके श्रीहरिका स्वजन बनानेकी सेवा भी शक्र नहीं कर सकते।' देवगुरुने अब हँसकर कहा—'बलिके विरुद्ध कुटिल युक्ति-चिन्तन त्यागकर अमरोंको अखिलेशकी ही शरण ग्रहण करनी चाहिये।'

देवगुरु वृहस्पतिको भी तबतक कहाँ पता कि बलि उन सर्वेशको प्रिय

हो चुके हैं। धर्मके वे प्रभु अच्युत बलिके स्वजन बननेका स्वयं सङ्कल्प कर चुके हैं। बलिकी सुदृढ़ निष्ठाने उन्हें प्रिय बना दिया है जनार्दनका।

सुर कभी-कभी ही आपत्तिके इन दिनोंमें कोई मार्ग सोचनेके लिए मेरुकी विशाल गुफामें एकत्र होते थे। आजकी यह देव-मन्त्रणा बलिकी प्रशंसामें समाप्त हुई।

बलिकी प्रशंसा—सुरोंकी इससे विपत्ति बढ़ती ही थी। बलि अपनी उदारता, संयम-निष्ठासे दुर्जेय होते जा रहे थे और उनसे कूटमार्ग भी कोई आश्वासन नहीं दे पाता था। धर्मपर जो स्थिर है, उसे ठगा कैसे जा सकता है।

अमर यदि निराश थे, असुराचार्य भी कम आशंकित नहीं थे। नीति-शास्त्रके उन परम प्रवर्तकमें प्रमाद आनेकी आशा नहीं की जा सकती। पुरोहितको पुरोहित कहा ही इसलिए जाता है; क्योंकि वह अपने यजमानका हित पहिलेसे सोच लिया करता है और समयपर यजमानको सतर्क तथा सचेष्ट करता है। शुक्राचार्य बलिके पुरोहित थे और बलिकी उनमें अपार श्रद्धा थी। आचार्य अपने यजमानकी सेवासे सुप्रसन्न थे। अतः जहाँ बलि निश्चिन्त थे, आचार्यका चित्त समाधान नहीं पा रहा पा। उनकी आशङ्का भी उनकी नीतिका आवश्यक अंग थी।

आचार्यके चिन्तनकी दिशा थी—'बलिने बलपूर्वक अमरावती अधिकृत कर रखी है। अदितिके पुत्र अपने आवासोंसे निर्वासित हैं और वे आलसी अथवा बुद्धिहीन नहीं हैं। इसलिए वे निरुद्योग बैठे रहेंगे, यह आशा नहीं करनी चाहिये। सुरोंके आचार्य वृहस्पति भले शान्त बैठे दीखें, उनका मस्तिष्क निरन्तर अपने यजमानोंके उत्कर्षकी युक्ति सोचनेमें लगा होगा। सुर चाहे जब सृष्टिकर्ताके समीप पहुँच सकते हैं और पहुँच चुके भी होंगे। हम सबने उनके विधानकी उपेक्षा करके शक्रको अकाल अपदस्थ किया है। सृष्टिकर्ताको विश्वनाथ और विश्वात्मा श्रीहरिको सानुकूल करनेमें श्रम नहीं करना पड़ता। अतः यह मानकर चलना चाहिये कि त्रिदेव सुरोंके समर्थक हो चुके हैं।'

आचार्य शुक्रकी क्रान्तिदर्शिनी बुद्धि जहाँ अत्यन्त प्रखर है, वहीं

उनका साहस सृष्टिमें अकल्पनीय है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश सुरोंके समर्थक हो चुके हैं, यह समझकर भी न आचार्य हताश हुए थे और न उनमें कोई शिथिलता आयी थी। वे इन त्रिदेवोंके भी प्रयत्नको विफल करनेके लिए कृतसङ्कल्प थे।

'अबतक सुरोंकी ओरसे कोई प्रतिकार नहीं हुआ, इसका दो ही अर्थ सम्भव है।' आचार्य अपने ढङ्गसे चिन्तन कर रहे थे—'सुरोंको अपने प्रयत्नकी सफलताका इतना सुनिश्चित विश्वास है कि उन्हें कोई शीघ्रता नहीं। वे हम सबको अन्तिम क्षणमें पराजित करके हमारे अत्यन्त अपमानित होनेका आनन्द लेना चाहते हैं अथवा अभी उनकी योजना असम्पूर्ण है और उन्हें कुछ और समय चाहिए अपना उद्योग प्रारम्भ करनेके लिए।'

'पहिली स्थिति सम्भव नहीं है। बलिसे या मुझसे कहीं कोई प्रमाद नहीं हुआ है और धर्म सुदृढ़ हो तो उसे सर्वेश्वर भी पराभव नहीं दे सकते।' आचार्य शुक्र चिन्तन करते रहे—'दूसरे तथ्यका भी क्या अर्थ होगा? सुर योजना भी क्या बना सकते हैं?'

'बलिको सावधान करना पड़ेगा।' सहसा शुक्राचार्य चौंके—'सुरोंको कोई उपाय अपनी स्वार्थ-पूर्तिमें लज्जाजनक कभी नहीं लगता। महर्षि दधीचिसे शक्रने नितान्त निर्लज्जकी भाँति उनके शरीरकी अस्थियोंकी याचना की। मेरे यजमान विरोचनसे उसकी आयु ही मांग ली उन्होंने। अब विरोचनके पुत्रके साथ वे ऐसी कोई चेष्टा नहीं करेंगे, इसका ही क्या आश्वासन है।'

'बलि! अब यह तुम्हारा अन्तिम अश्वमेध यज्ञ है। इसलिए तुम्हें अधिक सावधान रहना चाहिये।' निश्चय कर लेनेके पश्चात उसे कलपर छोड़ना शुक्राचार्य जानते ही नहीं। उन्होंने वलिको बुलवा लिया और समझाया—'सुरोंसे किसी शालीनताकी आशा मत करो। वे असुरोंको मायावी कहकर तुम्हारी निन्दा करते हैं; किन्तु स्वयं किसी भी स्तरतक उतरकर स्वार्थ-साधनामें निपुण हैं।'

'भगवन्! कुछ विशेष आदेश है इस किंकरके लिए?' बलिने हाथ जोड़कर पूछा।

'तुम इस यज्ञकी पूर्णाहुतितक किसीको भी कोई वचन मत दो।' शुक्राचार्यने स्पष्ट कहा—'अपने अनुचरोंको आदेश दो कि यज्ञकार्यमें अत्यन्त व्यस्त होनेसे तुम किसी आगन्तुकसे पूर्णाहुतिके पूर्व नहीं मिल सकोगे। आगतोंका उपहार उसके अनन्तर ही स्वीकार करोगे और तभी किसीका आतिथ्य भी कर सकोगे।'

'उपहार अर्पित करनेवालोंको विरमित किया जा सकता है।' बलिने इस बार आचार्यका आदेश अक्षरशः स्वीकार नहीं किया। वे बहुत विनीत स्वरमें बोले—'वे आगन्तुक शासकीय सत्कार स्वीकार करते प्रतीक्षा कर सकते हैं।'

'किन्तु भगवन् ! आपके श्रीमुखसे ही सुना है कि अतिथि साक्षात् यज्ञेशका स्वरूप होता है। वह जिस गृहस्थके गृहसे अनर्चित लौटता है, उसके समस्त पुण्य ले जाता है।' बलिने आदेशके दूसरे अंशमें आपत्ति प्रकट की—'यज्ञका लक्ष्य ही समस्त प्राणियोंकी सम्यक् अर्चना है। अतिथि प्रतीक्षा करनेको अप्रस्तुत भी हो सकता है और अनुचरोंके सम्मुख अपना अभीष्ट निवेदन अस्वीकार भी कर सकता है। प्रायः सम्मानित अतिथि ऐसा करते हैं। उन्हें अनर्चित लौट जाने दिया जाय तो यज्ञ सम्पूर्ण होगा? यही उसमें सबसे बड़ा विघ्न नहीं बनेगा? सुर सरलतासे बलिके इस अन्तिम यज्ञमें ऐसा प्रत्यवाय उपस्थित कर दे सकते हैं। प्रह्लादका पौत्र आशा लेकर आये किसीको भी प्रतीक्षा करनेको कह दे, कैसे उचित हो सकता है?'

'अच्छा दैत्येन्द्र ! मैं आग्रह नहीं करता।' शुक्राचार्यने कह तो दिया; किन्तु उनका चित्त खिन्न हो गया। बलिने पौलोमीको लेकर यह अश्वमेध करनेका उनका आदेश नहीं माना था और आज दूसरी बार अपने कुलगुरुका आदेश अस्वीकार किया था।

'अब यह मेरे सम्पूर्ण अनुगमनसे स्वतन्त्र होने लगा है।' आचार्यने कहा नहीं; किन्तु अपने चित्तमें स्पष्ट अनुभव किया। अवश्य ही बलिके वचन तर्क और धर्म दोनोंकी दृष्टिसे उचित थे, इसलिए आचार्यने प्रतिवाद नहीं किया; किन्तु बलिके सर्वथा समर्पणसे जो अनुराग उनमें उमड़ा था, वह शिथिल हो गया। अब वे बलिके लिए बहुत अधिक चिन्तासे उपरत होगये।

यज्ञशालाकी ओर-

अवस्थाका अनुमान लगाना ही शक्य नहीं था। आकार इतना बड़ा जितना सामान्य तीन-चार वर्षके बालकका होता है; किन्तु देखकर ही लगता है कि यह अद्भुत बालक वामन है। मुखकी भंगी युवाकी लगती है।

अत्यन्त सुकुमार शरीर। कर, पद आदि छोटे-छोटे अपने शरीरके अनुरूप और सद्यः प्रस्फुटित आम्रकिसलयके समान कोमल एवं अरुण। अधर ऐसे जैसे पाटल दल हों। नन्हा-सा मुख और विशाल भाल त्रिपुण्ड-भूषित। बड़े-बड़े अरुणाभ लोचन। घुटे हुए सुचिक्कन सिरपर बड़ी-सी चोटी ग्रन्थि लगी।

कटिमें मौञ्जी मेखला मोटी-सी और उसमें लगी कौपीन ढँकी है घुटनोंतक आच्छादन-वस्त्रसे। उत्तरीयके स्थानपर कृष्णमृग चर्म है। कन्धेपर पीला पीत यज्ञोपवीत है और कक्षमें पलाशदण्ड दबा है।

दाहिने करकी अनामिकामें कुशकी पवित्रा पहिन रखी है। वाम करमें सजल कमण्डलु है और दक्षिण करमें तालपत्रसे बने छातेका दंड है।

साक्षात् भगवान भुवनभास्कर ब्रह्मचारीके वेशमें पृथ्वीपर उतर आवें तो इतना तेज उनमें कदाचित ही आ सके। वामनका तेज उग्र नहीं है; किन्तु शशि-शीतल भी नहीं है। ऐसा तेज कि नेत्र उठते नहीं वामनके श्रीमुखकी ओर।

वामनको देखकर एक साथ वात्सल्य, श्रद्धा, स्नेह और करुणाके भाव उमड़ते हैं। उनका मृदुल परम सुन्दर आकार ऐसा कि उन्हें गोदमें उठा लेनेको मन मचलता है। इतने सुकुमार चरण, जैसे उनसे रक्त चू पड़ेगा और इतने नन्हे, अत्यन्त सुकुमार शिशुकी कटिमें इतनी मोटी मूँजकी मेखला ! लेकिन तेज ऐसा कि मुखकी ओर दृष्टि नहीं उठती।

वामनने भुजाओंपर भस्मके त्रिपुण्ड अंकित किये हैं। रुद्राक्षकी माला

है कण्ठमें, भुजाओंपर और कलाइयोंमें भी। यदि मस्तक मुण्डित न होता तो भले वामन नीलकण्ठ, त्रिलोचन, शशिशेखर, गंगाधर नहीं थे, उन्हें कोई स्वीकार नहीं करता कि भगवान वृषभध्वज नहीं हैं। पुरारिप्रभु शिशु वेषमें पधारे हैं, वामनको देखकर पहिली प्रतिक्रिया अब भी यही होती है।

अतिशय गम्भीर—अपने नन्हे पदोंसे तनिक ही आगे देखते हैं। इधर-उधर देखना जैसे आता ही न हो; किन्तु सृष्टिकी समस्त गरिमा जैसे उनमें पुञ्जीभूत है।

वामनको देखकर न हँसी आ सकती और न वन्दन किया जा सकता। व्यक्ति थकित-चकित स्तब्ध रह जाता है। उन्हें वात्सल्य उमड़नेपर भी अंकमें उठा लेनेका साहस नहीं होता और 'वत्स !' कहनेका साहस तो स्वयं आचार्य शुक्र भी अपनेमें नहीं पावेंगे।

पल्लवारुण अत्यन्त सुकुमार नन्हें चरण वामनके; किन्तु उन्होंने माता अदितिके आश्रमसे जैसे ही प्रथम पादक्षेप किया, उनमें आश्चर्यजनक गौरव आ गया। उनके प्रथम पादक्षेपके साथ ही पृथ्वी काँपी और प्रत्येक पादक्षेपके साथ काँपती रही। वे नन्हे चरण; किन्तु वे जब धरापर पड़ते थे, भूमिका सन्तुलन उस ओर झुक पड़ता था।

बार-बार भूकम्प और क्षणार्धको। एक ही अन्तरसे, एक ही ओरको झुकता और उतने ही समयको। पृथ्वीके समस्त प्राणी आशंकित, आतंकित, चकित, अस्त-व्यस्त हो उठे। पशु इधर-उधर भागते रहे। पक्षी वृक्षोंपर बैठ नहीं पाते थे; किन्तु कहीं कोई ध्वंस नहीं हुआ। कोई भवन क्षतिग्रस्त नहीं हुआ।

पशु बहुत शीघ्र आश्वत हो गये। उन्होंने उपेक्षा कर दी इस बराबर चलनेवाले पृथ्वीके भूकम्पकी। पक्षियोंने भी इसे प्रकृतिकी सामान्य घटना मान लिया और वृक्षोंपर उतर आये। अवश्य मनुष्योंके मनमें आतंक कम नहीं हुआ। जिनका चित्त जैसा था, वे वैसे कारणकी कल्पना करने लगे।

'देवताओंने दैत्योंसे युद्धारम्भ कर दिया लगता है।' प्रायः लोगोंमें यह विचार उठा—'दैत्येन्द्र बलि क्रुद्ध हो गये हैं !'

वामनको पैदल जाना था भृगुकच्छतक। वे आकाशके मार्गसे भी जाते तो उस युगमें कोई आश्चर्य नहीं करता। ऐसी सिद्धियाँ तब सामान्य थीं। अतः वामनको सरिताओंने, नालोंने, पर्वतोंने पथ दिया, इसमें किसीको आश्चर्य नहीं हुआ। वामन सीधे चलते जा रहे थे। मार्गमें उन्हें विश्राम करना कहीं आवश्यक नहीं लगा। आलस्य, निद्रा, क्षुधा, पिपासा उन्हें स्पर्श नहीं करती और उस युगमें तो कोई ऋषिबालक ऐसे चमत्कार सहज प्रकट कर सकता था।

मार्गके मध्यमें जनपद भी प्राप्त होने ही थे; किन्तु कम प्राप्त हुए। उस समयतक मनुष्य भेड़ोंके समान समूहमें चलना और रहना सीख नहीं सका था। प्रायः लोग पर्वतोंकी गुफाओंमें या वृक्षोंके नीचे रहते थे। गृहस्थोंको हवनीय अग्निकी रक्षाके लिए उटज आवश्यक होते थे। अतः कहीं-कहीं दो-चार उटज मिलते थे।

अतिथि तो दुर्लभ था उस युगमें। आतिथ्यका अवसर अहोभाग्य माना जाता था; किन्तु जो लोकोत्तर तेजस्वी ऋषि-पुत्र यात्रा कर रहा था, उसका तेज, गम्भीरता किसीको आतिथ्य स्वीकार करनेकी प्रार्थना करनेका साहस ही नहीं करने देती थी। अवश्य मार्गमें मिलनेवाले लोग प्रणिपात करते थे, करबद्ध मार्गके पार्श्वमें खड़े रहते थे; किन्तु वामन किसीकी ओर दृष्टि उठाकर देखें, तब तो कोई उनसे कुछ पूछने या प्रार्थना करनेका साहस करे।

'भगवन्! भृगुकच्छका पथ इधरसे है।' बिना पूछे प्रायः लोगोंने वामनको पथ सूचित किया। एक उपनीत ऋषिकुमार यात्रा कर रहा है तो गन्तव्य कहाँ होगा, पूछना आवश्यक नहीं था। परमोदार दैत्येन्द्र बलिके यहाँ जानेके अतिरिक्त दूसरे स्थानपर कोई जायेगा ही क्यों?

लोगोंने अपनी स्वतःकी प्रेरणासे मार्ग स्वच्छ किये, पुष्प प्रकीर्ण किये पथमें, और जल, कन्द-मूल-फल, दुग्ध लेकर भी विनम्र खड़े रहे; किन्तु प्रार्थना करनेका साहस होता नहीं था और वामन थे कि किसीकी ओर दृष्टि उठाते नहीं थे।

शीघ्र प्रकट हो गया कि किस अद्भुत तेजस्वी शिशुके पादक्षेपसे

पृथ्वी-कम्प हो रहा है। ऐसे समाचारोंको पंख लग जाते हैं। वामनको जनाकीर्ण पथसे ही यात्रा करनी थी। उनके दर्शनोंको उत्सुक नर-नारी, वृद्ध, बालकोंका समूह उन्हें सर्वत्र मिलता; किन्तु उनका तेज ऐसा कि सब स्वतः नीरव, स्तब्ध अनुशासित रहते थे। कहीं मार्गावरोध वामनको नहीं मिला।

भले उनके पीछे उनकी जयध्वनि गूँजती रहे, भले उनकी पद-धूलिके लिए पीछे भीड़ टूटी पड़ती हो, भले सर्वत्र उनकी ही चर्चा हो; किन्तु प्रणिपात या पादस्पर्शकी स्पृहासे भी वामनके सम्मुख आनेका साहस किसीने नहीं किया।

वामनके लिए मार्ग छोटा हो गया, ऐसा कहा जा सकता है। उनके छोटे-छोटे चरण और छोटा-सा पादक्षेप; किन्तु प्रकृतिके परमप्रेरकके लिए पथ संकुचित नहीं हो सकता, यह कौन कह सकता है। वैसे वामनने मार्गमें विश्राम नहीं किया तो अपने आह्निक कृत्योंमें प्रमाद भी नहीं किया। वे तीनों समय पथमें प्राप्त होनेवाले स्रोत, सरिता या सरोवरमें स्नान करके सन्ध्या करते थे। सविता देवताको अर्घ्य अर्पित करते थे। अग्निहोत्रमें उन्हें समित् हवन ही करता था और उनके इच्छा करते ही अग्निदेव प्रकट हो जाते थे।

वामनने माता अदितिके यहाँसे प्रस्थान किया, उसी समयसे भृगुकच्छकी यज्ञशालामें भूकम्पके साथ और भी उत्पात होने लगे। भूमि-कंपके उन क्रमबद्ध झटकोंसे कलश—अर्चित कलश स्थानच्युत हो गये। यज्ञीय कुण्डसे धूम्र उठने लगा। पूर्ण शुष्क समिधाओंके रहते भी अग्नि प्रज्वलित रखनेका प्रयास आवश्यक हो गया। अग्निने दैत्योंको उद्देश करके दी जानेवाली आहुतियाँ लेना बन्द कर दिया। ऐसी आहुति जहाँ पड़ती थी, हवनकुण्डमें उस ओर अग्नि बुझ जाती थी। अनेक बार अग्निको प्रज्वलित रखनेके लिए कर्पूराहुति आवश्यक हो गयी।

हवि बार-बार परिवर्तित करनी पड़ी। उसमें पिपीलिका, मशक या अन्य कोई छुद्र उड़नेवाले कीट गिरकर हविको दूषित कर देते थे। बहुत सावधानी रखनेपर भी ये विघ्न दूर नहीं हो रहे थे।

इसी समय बलिके एक अनुचरने उन्हें संवाद दिया। वह बहुत

वेगपूर्वक आया था। बहुत उद्विग्न था। उसने तत्काल दैत्येन्द्रसे मिलनेकी प्रार्थना की। अत: उससे मिलनेकी तत्काल व्यवस्था बलिको करनी पड़ी थी।

'भूमिपर अब इस देशमें आपके स्थानपर एक वामन वटुकी जय-जयकार होने लगी है।' आनेवाले दैत्यने कुछ चिढ़े स्वरमें कहा—'पृथ्वीके इस देशके मानव अकृतज्ञ हैं और अविवेकी हैं। आप इनके स्वामी हो, इनके इन्द्र हो, इनका पालन करते हो और इनके सुख-शान्तिकी व्यवस्थामें व्यस्त रहते हो; किन्तु इन सबने बिना किसी कारणके आपको विस्मृत कर दिया है और ऐसे वटुकी प्रशंसा करने लगे हैं, जिससे इन्हें कुछ मिलना तो दूर, जो इनमें-से किसीकी ओर देखतातक नहीं।'

'इसका अर्थ है कि यहाँके मानव स्वार्थवश किसीकी प्रशंसा नहीं करते।' बलिने अनुचरकी बातोंसे तनिक भी बुरा नहीं माना। उन्होंने कहा—'अवश्य यहाँके लोग सद्गुणशीलके प्रशंसक हैं। यह प्रशंसा वे स्वार्थ-निरपेक्ष करते हैं। उस वटुमें सद्गुण होने चाहिये।'

'उसमें गुण हों तो भी किसीको पता नहीं। वह तो अभी शिशु है और कुल बावन अंगुलका लोग उसे कहते हैं; किन्तु मैंने उसे देखा है। वह मेरे बारह अंगुलका ही होगा।' सम्वाद देनेवालेने कहा—'उसमें सद्गुण एक ही है कि वह सीधे आपके पास ही आ रहा है। बिना विश्राम किये रात-दिन चला आ रहा है। न उसने कहीं कोई आहार लिया, न जल। किसीसे कोई एक शब्द भी नहीं बोला है।'

'इतनेसे ही सब लोग उसके प्रशंसक नहीं हो सकते।' बलिने उस दैत्यकी ओर ऐसे देखा जैसे उलाहना दे रहे हों कि मुख्य संवाद सुनाता क्यों नहीं ?

'वह अत्यन्त तेजस्वी है।' दैत्यको अपनी भूलका भान हो गया। वह मुख्य बातपर आ गया—'मैंने भास्करको भी निकटसे देखा है और अग्निको भी; किन्तु उस नन्हें बालकके तेजके सम्मुख दोनों हतकान्ति हैं। उसीके पादक्षेपसे यह बार-बार पृथ्वी-कंप हो रहा है।'

'अवश्य वे अत्यन्त आदरणीय हैं।' बलिने तत्काल आदेश दिया—'उनका आगमन-पथ स्वच्छ, समतल, सिञ्चित करा दो। जितने सेवक आवश्यक हों, तत्काल इस कार्यमें लगा दो। वे कोई उपहार किसीका स्वीकार नहीं

कर रहे हैं, अतः कोई आग्रह मत करो; किन्तु व्यवस्था करो उनकी गतिके अनुसार अनुमान करके कि उन्हें जहाँ-जहाँ अपना आह्निक कर्म करना हो, उन्हें निर्मल जलाशय अवश्य उपलब्ध हों।'

उस चरके संवादसे बलिको कोई उद्वेग नहीं हुआ; किन्तु उन्हें यह सम्वाद आचार्य शुक्रतक पहुँचा देना आवश्यक प्रतीत हुआ। यज्ञमें जो विघ्न आने लगे थे, उनके उपशमकी प्रार्थना भी आचार्यसे करनी थी।

शुक्राचार्य स्वयं भी यज्ञमें पड़नेवाले विघ्नोंसे सचिन्त थे। उनके अथर्ववेदीय विघ्नवारणके प्रयोग भी केवल कुछ कालतक विघ्नोंको रोक पाते थे। भगवान विघ्नेशकी अर्चा, स्तुतिका भी स्थायी प्रभाव नहीं पड़ रहा था।

'दैत्येन्द्र ! स्वयं भगवान विष्णु देवमाता अदितिके गर्भसे प्रकट हुए हैं। अब वे तुम्हारे शत्रु शक्रके अनुज हो गये हैं।' बलिने प्रणिपात करके परिस्थिति निवेदन की, चरसे प्राप्त सूचना सुनायी तो शुक्राचार्य कुछ देरको ध्यानस्थ हो गये। सामान्यसे अधिक ही समय लगा उन्हें जाग्रत होनेमें। बहुत धीरेसे उन्होंने नेत्र खोले। कुछ शिथिल स्वरमें बोले—'वे तुम्हारी यज्ञशालाकी ओर केवल दर्शन देने नहीं आ रहे हैं। उनके पादक्षेपसे होनेवाला पृथ्वी-कम्प संकेत है कि तुम्हारी स्थिति चलित हो गयी है। तुम्हें स्थानच्युत करने आ रहे हैं वे।'

'मुझे स्थानच्युत करने आ रहे हैं और इतने ह्रस्वकाय बनकर ?' बलिको हँसी आ गयी।

'मैं तुम्हें अभीसे सावधान किये दे रहा हूँ। इसे मेरा आदेश मानो।' शुक्राचार्यने गम्भीरतापूर्वक कहा—'वे याचना करने ही आ रहे हैं। स्पष्ट कह देना उन्हें कि आप सर्वेश्वरको कोई भी कुछ कैसे दे सकता है।'

बलि आचार्यकी बात सुनकर गम्भीर हो गये और चिन्तन करने लगे। उन्होंने स्वीकृति नहीं दी, यह देखकर शुक्राचार्यने कहा—'तुम उन्हें धन-रत्न, अश्व-गज आदि पदार्थ चाहे जो और जितने दे सकते हो। मैं तुम्हें अतिथिको निराश लौटानेको नहीं कहता; किन्तु उन्हें भूमि देनेका नाम मत लेना। चाहे जितनी थोड़ी भूमि माँगें, भूमिदानको हाँ मत करना।'

बलिने अब भी स्वीकृतिका संकेत नहीं दिया। उनके चित्तमें

उथल-पुथल मची थी। बलिकी स्थिति कोई सामान्य व्यक्ति समझ नहीं सकता। जो अतिथि सत्कारका व्यसनी था, जिसे भोगकर नहीं, देकर प्रसन्नता प्राप्त होती थी, उसे यह सूचित करके कि सृष्टिका परमसञ्चालक, सबसे महान पूज्य पधार रहे हैं, कह दिया गया कि उनका सत्कार मत करो? महामनस्वी बलिका मानस इस आदेशको कैसे स्वीकार करले!

'भगवन्! प्रह्लादका पौत्र स्थानच्युत होनेके भयसे कृपण बन जाय?' बलि बोले तो उनका कण्ठ भर आया था। नेत्र सजल हो गये थे। उनके स्वरमें वह दृढ़ता थी जो सती नारीके स्वरमें मृत पतिके साथ चितामें चढ़नेको उद्यत होनेपर ही आती है—'आचार्य अपने इस शिष्यको इतना अधम, इतना भोगलोलुप समझते हैं, ऐसी आशा मुझे नहीं थी।'

'भगवन्! इतने कालसे, इतने श्रम, इतनी सावधानी और इस विशाल सम्भारसे आप इन यज्ञोंके द्वारा मुझसे जिन यज्ञपुरुषकी आराधना करा रहे हैं, वही स्वयं जब पधार रहे हैं साक्षात् अर्चन स्वीकार करने तो उनकी याचना अस्वीकार कर दूँ?' बलि अत्यन्त विह्वल बोल रहे थे।

'तू अपनेको बहुत विवेकवान विद्वान मानता है; किन्तु है मूर्ख!' आचार्य शुक्रके दो बारके आदेशोंको बलिने पहिले अस्वीकार किया था। उन अवसरोंपर आचार्य क्षुब्ध तो हुए थे; किन्तु उन्होंने अपनेको सम्हाल लिया था। अब तीसरी बार बलि उनका स्पष्ट स्वरमें दिया गया आदेश स्वीकार नहीं कर रहे थे, इससे उन्हें क्रोध आ गया था।

बलि हाथ जोड़े, मस्तक झुकाये शान्त बने रहे। उन्होंने अब भी आचार्यके आदेशको स्वीकृति देनेकी तत्परता नहीं दिखलायी। इसमें शुक्राचार्यको अपनी उपेक्षा, अपना अपमान प्रतीत हुआ। उन्होंने उसी तीक्ष्ण स्वरमें कहा—'तू उन मायाधीशको जानता नहीं है। वे अणुसे वृहत् बन सकते हैं क्षणार्धमें। तूने यदि उन्हें कुछ भी भूमि देनेकी स्वीकृति दी तो उस कुछके लिए त्रिलोकी भी अपर्याप्त हो जायगी। अपना सर्वस्व उन्हें देकर भी तेरी प्रतिज्ञा वे अपूर्ण सिद्ध कर देंगे और तुझे नरकका अधिकारी बना देंगे।'

'कभी अवसर नहीं आया; किन्तु आ ही जाय तो प्रह्लादके पौत्रके पद नरकके भयसे कम्पित नहीं होंगे।' बलिके स्वरमें वज्रकी दृढ़ता आ गयी थी—'कभी कहीं सुना नहीं कि श्रीहरि किसीको नरक दे सकते हैं, किसीका पतन कर सकते हैं; किन्तु यदि बलिके लिए वे ऐसे भी बनते हों तो भी अतिथि होकर आनेपर मैं उनका सत्कार करूँगा। आप आशीर्वाद दें कि आपका यह शिष्य संग्राममें जिस साहससे उन सर्वेश्वरका सामना करने, उन्हें भी पराभव देनेका उत्साह रखता है, वही साहस, वही उत्साह अतिथि होकर उनके आनेपर भी बनाये रख सके।'

'इसका अर्थ हुआ कि तूने मेरी पूर्णतः उपेक्षा कर दी है।' क्रुद्ध आचार्य शुक्रने कमण्डलुका जल हाथमें लिया और बलिके कुछ कहनेसे पूर्व ही कह दिया—'मैं तुझे शाप देता हूँ कि शीघ्र तेरा ऐश्वर्य नष्ट हो जायगा।'

'आप इस अधम दैत्यपर प्रसन्न हों।' बलिने आचार्यके शाप देकर जल पृथ्वीपर छोड़ते ही उनके चरणोंपर मस्तक रखा—'आपके शापकी सफलतामें मैं अपना गौरव मानता हूँ। शापानुग्रहकी प्रार्थना नहीं करता; किन्तु इस अपने अनुग्रह-भाजनका त्याग न करें। इसे अपने श्रीचरणोंकी सेवाके सौभाग्यसे वञ्चित न करें।'

इतना विनम्र, इतना सेवा-परायण शिष्य ! शुक्राचार्यको शाप देकर तत्काल पश्चाताप होने लगा। वे जानते थे कि बलि उन्हें प्रतिशाप देनेमें समर्थ हैं। उन जैसे परम धर्मात्माके शापको सर्वेश भी अन्यथा नहीं कर सकते। लेकिन बलि इतने विनम्र कि प्रशप्त होनेपर भी आचार्यके चरण पकड़े बैठे हैं।

आचार्य शुक्रको यह भी स्मरण आ गया कि वे तपस्वी नहीं हैं। उनकी प्रकृति सुख-सुविधापूर्वक रहनेकी है और देवगुरु वृहस्पतिसे उनकी प्रतिस्पर्धा है। अतः दैत्योंका पौरोहित्य उनकी नियति है। वे यदि दैत्योंका त्याग कर दें तो दैत्य उनकी संजीवनी विद्यासे वञ्चित होकर विनष्टप्राय हो जायँगे, यह तथ्य है, वहीं यह भी तथ्य है कि दैत्योंको त्यागकर उनकी विद्या व्यर्थ हो जायगी। सुरोंको वे यह लाभ दे नहीं सकते। मनुष्य गन्धर्वादि अनधिकारी हैं और दानवेन्द्र मय अमृतकुण्ड निर्माणमें समर्थ हैं। उन्हें शुक्रकी सहायताकी अपेक्षा नहीं।

'वत्स ! मेरा शाप मिथ्या नहीं हो सकता; किन्तु तुमपर मेरा स्नेह शिथिल नहीं हुआ है।' शुक्राचार्यने बलिके मस्तकपर अपना कर रखा—'मुझे अपने रोषके लिए खेद है; किन्तु सङ्कटमें भी शुक्र तुम्हारे साथ रहेगा। तुम्हारे कल्याणके लिए सचेष्ट रहेगा।'

'मैं आश्वस्त हुआ।' बलिने पुन: प्रणिपात किया—'आपकी अनुकूलता प्राप्त रहे तो आपका यह अनुगत आपत्तियोंकी—बड़ी-से-बड़ी आपत्तियोंकी सहज अवगणना कर सकता है।'

बलि प्रसन्नचित्त आचार्यके समीपसे लौटे। वे अपने यज्ञीय कर्तव्योंमें ऐसे लग गये, जैसे कुछ हुआ ही न हो। लेकिन उन्हें उचित नहीं लगा कि अपनी सहधर्मिणीको आनेवाले सम्भाव्य सङ्कटसे अनभिज्ञ रखा जाय।

पत्नी विन्ध्यावलीको अवकाश मिलते ही बलिने पूरी बात सुनाकर कहा—'पितामहने मुझे पहिले ही प्रशप्त किया है। आचार्यने उनके शापका अनुमोदन ही किया; किन्तु हम इससे महान सङ्कटसे बच गये।'

'कोई और महान सङ्कट सम्भावित था ?' विन्ध्यावलीने चौंककर पतिकी ओर देखा। ऐसे किसी अन्य सङ्कटकी ओर तो दैत्यन्द्रने कभी संकेत नहीं किया था।

'अपने पितामहकी महानतामें अपने शत्रु सुर भी शङ्का नहीं कर सकते।' बलिने पत्नीसे कहा—'हमारा सबसे बड़ा सौभाग्य कि उनका स्नेह हमें प्राप्त है, अन्यथा तुम जानती हो कि उन्हें मोह ममता स्पर्श नहीं करती।'

'उनकी महिमा अद्वितीय है।' विन्ध्यावलीने उल्लासपूर्वक कहा—'उनकी चरण-वन्दनामें भी सुर अपना सौभाग्य मानते हैं। हमारे तो वे पूज्य हैं ही। मुझपर तो उनका विशेष अनुग्रह है।'

'मुझसे प्रमादवश हरिके बलके सम्बन्धमें थोड़े वाक्य कहे गये और पितामह मुझपर क्रुद्ध हो गये। उन्होंने मुझे शाप दे दिया।' बलिने कहा—'अब यदि वे ही हरि हमारे यहाँ आवें और मैं उनकी कोई याचना अस्वीकार कर दूँ तो क्या वे मुझे कभी क्षमा कर सकेंगे ? मैं अपने पूजनीय पितामहके आराध्यकी अवमाननाका साहस नहीं कर सकता।'

'आपका निर्णय उचित है। धर्म सम्मत है।' बलिकी पत्नीने अपने पतिका समर्थन किया—'आपके पितामह जैसे भी सन्तुष्ट रहें, हमारा वही करणीय है। आचार्य तो क्षणार्ध मन्यु है। उनका रोष शीघ्र शान्त हो जायगा; किन्तु आराध्यकी अवमाननासे रुष्ट पितामहको पुनः प्रसन्न नहीं किया जा सकता। वे महत्तम सन्तुष्ट रहें तो कोई भी कष्ट हम सहज सहन कर लेंगे।'

पत्नी समर्थन ही करेगी, यह बलिको विश्वास था। विन्ध्यावलीकी बातोंने उन्हें निश्चिन्त और उत्साहित किया। उनके हृदयमें पहिले भी कोई झिझक नहीं थी। आचार्यमें झिझक बहुत अधिक थी। बलि जैसे विनम्र, एकनिष्ठ सेवा-तत्पर और धर्मात्मा शिष्यपर आचार्यका अतिशय स्नेह स्वाभाविक था। बलिका कोई भी अहित हो, यह आचार्यके लिए असह्य था।

आचार्य शुक्रने मृत बलिको जीवन दिया था। शुक्रने ही बलिको अजेय बनाया था। बलिपर उनका अपने पुत्रोंसे कहीं अधिक वात्सल्य था। बलि उदार, गुरुभक्त और धर्मपर स्थित थे। बलिने आचार्यका आदेश भी टाला तो धर्मपर दृढ़ निष्ठाके कारण। इसलिए अवज्ञासे रुष्ट होकर आचार्य शुक्रने उन्हें शाप भले दे दिया; किन्तु उनका अन्तर अपने कृत्यका समर्थन करनेके स्थानपर बलिका ही समर्थन कर रहा था।

'दैत्य होकर भी बलिमें स्वार्थपरताका लेश नहीं है।' शुक्राचार्यमें अब भी किंचित झुँझलाहट थी—'यदि इसमें कुछ नीतिमत्ता भी होती! यह तो समझना ही नहीं चाहता कि सृष्टिमें कोई धर्म निरपवाद नहीं होता। धर्म अपनेको सुरक्षित रखकर किया जाता है, यह सीधी बात भी इसकी समझमें नहीं आती।'

'दैत्योंमें लोकोत्तर मनस्विता उनको परम्परासे प्राप्त है। दैत्यकुलकी यही मनस्विता तो शुक्रको उनके पौरोहित्यको प्रलोभित किये है।' आचार्य शुक्र मन-ही-मन अपने यजमानपर प्रसन्न हो रहे थे—'प्रह्लादकी हरिभक्तिको छोड़ दें तो उनका पुत्र विरोचन धर्मके सत्कारमें पितासे अधिक निकला था और विरोचनका पुत्र यह बलि अपने पितासे भी दो पद आगे हो गया। इसे जीवनका मोह तो नहीं ही है, नरकका भय भी विचलित नहीं कर सका।'

'बलि कभी भोग लोलुप तो था नहीं।' आचार्यकी प्रीतिने उन्हें सुझाया—'बलिने स्वर्गपर अधिकार किया अपने आचार्यको सुरगुरुसे अधिक श्रेष्ठ सिद्ध करनेके लिए। बलिने विजयसे प्राप्त समस्त ऐश्वर्य अपने आचार्यके चरणोंमें अर्पित किया और बलिके अश्वमेध यज्ञ भी मेरी सन्तुष्टि, मेरे आज्ञा-पालनके लिए चल रहे हैं।'

'अब अखिलेश्वर अदिति पुत्र होकर अवतरित हो गये हैं और वे इस यज्ञशालाकी ओर आ रहे हैं। वे परम धार्मिक बलिको ठग सकेंगे? धर्मके वही परम प्रभु हैं और वही धर्ममें स्थित बलिको पराभव देंगे? धर्मको वही दुर्बल करेंगे?' आचार्य शुक्रको यहाँ आकर अपनी शङ्काओंका समाधान नहीं मिल रहा है।

✓

यज्ञशालामें—

अत्यन्त सावधान, सतर्क, कर्तव्यनिष्ठ, धर्मनिष्ठ दैत्येन्द्र बलिके असावधान होनेकी कोई सम्भावना नहीं थी। उनका अनुचरोंको आदेश ही था आरम्भसे—'यज्ञशालाकी ओर आनेवाले अतिथिकी सुविधाका सब ध्यान रखें, उसे कोई कष्ट या बाधा नहीं होनी चाहिये।'

सामान्य आगतोंका भी दैत्य स्वागत करते थे। भगवान वामन तो ऐसे अतिथि थे कि उन्होंने प्रस्थान किया तबसे उनके समाचार मिलने लगे थे। उनकी सभी प्रतीक्षा ही कर रहे थे। उनके स्वागतके लिए दैत्येन्द्र बलि और शुक्राचार्य भी अपने सब सहयोगियों, अनुगतोंके साथ बहुत पहिलेसे प्रस्तुत थे।

सुना हुआ तथ्य चाहे जितने विवरणसे सुना गया हो और चाहे जितना समझ लिया गया माना गया हो, सम्मुख आनेपर उसका रूप बहुत विशिष्ठ न भी लगे तो भी प्रभाव तो कुछ और उत्पन्न करता ही है। हम-आपने बहुत वर्णन बाघका सुना है; किन्तु वह वनमें सामने आ जाय तो ? भगवान वामनके सम्बन्धमें बलि और शुक्राचार्यने बहुत सुन लिया। उनके प्रतिदिनके पूरे समाचार उन्हें मिल रहे थे; किन्तु उनके यज्ञशालाके बहिर्द्वार तक पहुँचनेके समाचारने सबको हड़बड़ीमें डाल दिया। आचार्य शुक्र, सब यज्ञमें उपस्थित ब्राह्मण अपनी अग्नियोंके साथ* उठ खड़े हुए और द्वारकी ओर स्वागतको शीघ्रतासे बढ़े।

बलि इन्द्र पदपर थे। वैसे भी दैत्य बड़े भाई हैं देवताओंके सूर्य और अग्नि बलि तथा शुक्राचार्यके लिए अपरिचित नहीं थे; किन्तु वामन दूरसे

---

* ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके लिए नित्य संध्या एवं हवन अनिवार्य कर्तव्य है। विवाहके समय ही उसे अग्नि-कुण्ड देनेकी प्रथा थी। कुण्डमें अग्नि सदा रहनी चाहिये और यात्रामें उसे ले जाया जा सके, ऐसा होना चाहिये। बहुत सम्मानित अतिथिके स्वागतमें इस अग्निको साथ लिया जाता था। इसका अर्थ था—'मेरा समस्त धर्म आपके आगे विनम्र है।'

दीखे तभी सब चकित रह गये। द्वादश आदित्य, उनचास अग्नि और सम्पूर्ण देवताओंका तेज भी वामनके तेजका अल्पांश ही हो सकता था। इतना महान तेज और वह प्रचण्ड नहीं था। नेत्र चौंकते नहीं, मुग्ध होकर वहीं लगे रह जाते थे। जैसे वामनका श्रीविग्रह घनीभूत तेज ही हो। ज्योतिसे ही उनका छत्र, कमण्डलु, दण्ड आदि उपकरण भी आकारमें आये हों।

आचार्य शुक्रने भी दण्डवत पड़कर भूमिमें प्रणिपात किया तो दैत्य स्तब्ध रह गये। दैत्योंके लिए शुक्राचार्यसे श्रेष्ठ केवल सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी थे और वे आये नहीं थे। अपने अचिन्त्य तेजस्वी आचार्यका तेज वामनके सम्मुख क्षीण पड़ते उन्होंने देखा और देखा आचार्यको प्रणिपात करते। बलि आचार्यके साथ ही भूमिपर प्रणत हुए थे।

बलि तथा शुक्राचार्य शीघ्रतापूर्वक उठे। अतिथिको क्षण भर भी रुकनेको बाध्य नहीं होना चाहिये। बलिने दो पद आगे बढ़कर अञ्जलि बाँधकर स्वागत किया—'पधारें प्रभु !'

बलिका शरीर रोमांचित हो रहा था। कण्ठ गद्गद, नेत्रोंमें अश्रु। बड़ी विनम्रतापूर्वक वे वामनको यज्ञशालामें मार्ग दिखलाते ले आये। अर्घ्य अर्पित करके दिव्य आसन दिया उन्हें।

विन्ध्यावलीने रत्नजटित स्वर्ण थाल सम्मुख रखा और सुगन्धित जलकी झारीसे वामनके चरणोंपर जल डालना प्रारम्भ किया। बलिने वे नन्हें अरुण मृदुल चरण अपने करोंमें लेकर धोये। कैसे धोये, कह पाना सम्भव नहीं। इतनी मृदिमा बलिने स्वर्गमें भी देखी नहीं थी। उन चरणोंको स्पर्श करनेमें भी बड़ा संकोच हो रहा था कि कर स्पर्शसे उनमें व्यथा होगी।

बलिने आह्लादविह्वल होकर सविधि अर्चन किया वामनका। देरतक चला यह अर्चन। बलि तो सपत्नीक अपने शरीरको भी भूल ही गये थे। शुक्राचार्यको, उनके सहयोगियों और शिष्योंको, दैत्योंमें भी किसीको दूसरा कुछ स्मरण नहीं था। यद्यपि स्मरण आना आवश्यक था। अन्तिम अश्वमेध यज्ञ चल रहा था और अश्व लौट आया था। यज्ञीय कार्य अवरुद्ध था; किन्तु भगवान वामनके उस भुवन-सुन्दर स्वरूपमें सबके नेत्र एवं मन एकाग्र लगे थे।

अर्चन पूरा हुआ तो बलिने भगवान वामनका चरणोदक उठाया। शुक्राचार्य तकके मुखसे निकला—'धन्य दैत्येन्द्र !'

बलिने चरणोदक मस्तकपर डाला, मुखमें डाला और पत्नी, परिवार, स्वजनोंको दिया। सम्पूर्ण यज्ञशाला एवं आवासमें छिड़का।

'दैत्येश्वर बलिकी जय !' दैत्योंके सहज शत्रु सुर भी मुक्त कण्ठ बार-बार पुष्प वर्षा करते पुकार रहे थे—'बलि धन्य हैं। बलि अद्भुत भाग्यशाली हैं। यह चरणादक बलिको प्राप्त हुआ—बलिके सौभाग्यसे स्पर्धा सुरोंमें कोई नहीं कर सकता।'

शुक्राचार्यको मर्यादाके कारण कर बढ़ाना रोकना पड़ा था। वामन अभी बालक हैं। आचार्य उनके चरणोदकको हाथ बढ़ावें तो बलिको संकोच होगा। वामन भी वारण कर सकते हैं। यही संकोच यज्ञमें उपस्थित दूसरे ब्राह्मणोंको भी चरणोदकसे वञ्चित रहनेका कारण बना।

अब आप बलिके अनुचरोंको असुर कहकर उनकी निन्दा करें या उन्हें वन्दनीय मानें, वामनके उन्होंने दर्शन किये, उनका चरणोदक पाया। वामनने उन्हें अपना मान लिया मनसे। उनको तो अपनाना ही आता है। अपनेसे दूर करना आता नहीं। ऊपरसे अब वे कितने भी कठोर बननेका नाट्य करें, बलि तथा उनके अनुचरोंको उन्हें अपनाना ही है। इन्द्रका अनुजत्व अब इसमें बाधक बन नहीं सकता।

बलि धन्य और धन्य उनका धर्म। किसीका कोई धर्म या साधन विश्वेशको विवश नहीं कर सकता, इसे बलिने असिद्ध कर दिया। उन्होंने धर्मकी अचिन्त्य शक्तिको स्पष्ट कर दिया संसारके सम्मुख। सच्ची निष्ठासे आचरित धर्म विश्वेशको आनेको विवश बना सकता है, यह आज प्रकट हो गया। विश्वात्मा, विश्ववन्द्य बलिके द्वारपर याचक होकर आनेपर विवश हुआ और बड़े स्नेहसे, बड़ी एकाग्रतासे वह बलिका अर्चन स्वीकार करता रहा।

'आज इस असुरका जीवन पवित्र हो गया। पवित्र हो गयी इसकी यज्ञशाला और इसके सब कर्म, धर्म, यज्ञ आज सार्थक सविधि सम्पूर्ण होगये;

क्योंकि आपने इसे अपने श्रीचरणोंके प्रक्षालनका सौभाग्य प्रदान किया।' अर्चन पूर्ण करके बलि भगवान के समीप नीचे बैठ गये। उन्होंने अपने अंकमें वामनके चरण रख लिये। बहुत प्रीति एवं कोमलतापूर्वक पाद-संवाहन करते बोले—'मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि समस्त लोकोंके सम्पूर्ण तेजस्वियोंका तेज ही मूर्तिमान होकर इस रूपमें मुझपर अनुग्रह करने यहाँ आया है।'*

'आपके आगमनसे इस असुरकी यह यज्ञभूमि आजसे तीर्थ बन गयी।' बलि श्रद्धाविभोर बोल रहे थे—'मेरे पितर परितृप्त हुए। मेरा अग्निहोत्र जो तृप्ति अग्निको नहीं दे सकता था, वह आपके पदार्पणसे पूर्ण हो गयी।'

भगवान वामनके अधरोंपर स्मित आया। सम्भवतः उन्हें लगा कि यदि बलि इसी प्रकार स्तुति करते रहे तो वे भक्तवत्सल बलिको इन्द्रपदसे हटानेका कोई प्रयास नहीं कर पावेंगे।

उन लीलामयका हास्य ही उनकी माया है। वामनके अधरोंपर स्मित आते ही बलिके स्वरमें परिवर्तन हुआ—'आप इन नन्हें सुकुमार चरणोंसे पैदल चलकर बलिके समीप अकारण तो आये नहीं होंगे। आपका वेश और वय सूचित करता है कि आप अभी ब्रह्मचारी हैं। तब आप मेरे पास कुछ माँगने आये हैं?'

'आपको क्या चाहिये? बिना संकोच आज्ञा कीजिये।' अब बलिका अहङ्कार भी तनिक सिर उठा चुका था—'आपको गुरु-दक्षिणा देनी है? कितना स्वर्ण, रत्न, अश्व, गज, रथ या भूमि आप गुरुको देना चाहते हैं? आपका आदेश होते ही वह उपस्थित कर दी जायगी।'

'आप अध्ययन समाप्त करके प्रत्यावर्तनको उत्सुक हैं और कोई उपयुक्त ब्राह्मण कन्या अभीष्ट है आपको।' बलिने सोचा कि ये विवाह करना चाहते हों तो इन्हें अपने आकारके अनुसार पत्नी पानेमें कठिनाईका अनुभव स्वाभाविक है। अतः बलिने आश्वासन दिया—'आपका यह अनुचर त्रिलोकीका शासक है। आप संकोच त्यागकर सूचित कर दें कि आपको रूप, गुण, आकृति, शील-स्वभावमें कैसी पत्नी प्रिय होगी। सुर-असुर, नाग-किन्नर,

---

* तेजस्तेजस्विनामहम्! गीता १०.३६।

गन्धर्वादिमें वैसी कन्या न भी हुई तो बलि तप करके सृष्टिकर्ताको वैसी कन्या बना देनेको विवश कर दे सकता है।'

'आपको जैसा गृहस्थ-जीवन व्यतीत करना हो, उसके अनुरूप धन, मन, सेवक-सेविकाओंकी, भूमि-भवन एवं आजीविकाकी, रथ, अश्व, गज या विमान वाहनकी व्यवस्था बलि तत्काल कर देगा।' बलिने उदारताके आवेशमें कहा—'आप जो चाहेंगे, उसे तत्काल देनेकी मैं प्रतिज्ञा करता हूँ। आप किञ्चित भी संकोच किये बिना अपना अभीष्ट सूचित करें।'

आचार्य शुक्र सावधान हो गये थे। अपने आसनपर वे कसमसाये भी; किन्तु बलिकी दृष्टि तो वामनके कमलमुखपर स्थिर थी। आचार्यकी ओर उन्होंने देखा ही नहीं।

'दैत्येन्द्र! आपके वचन आपकी उदारताके अनुरूप हैं।' भगवान वामन बहुत गम्भीर स्वरमें बोले—'आप ऐसे कुलमें उत्पन्न हुए हैं जिसमें कायर, कापुरुष और कृपण कभी हुए ही नहीं। संसारमें वीर बहुत हुए; किन्तु आपके कुलमें उत्पन्न हिरण्याक्षको मारकर भी हरि अपनेको विजयी नहीं मान सके। उसके अद्भुत पराक्रमका स्मरण उन्हें बार-बार व्याकुल बनाता रहा।'

'आपके कुलपुरुष हिरण्यकशिपु अपने छोटे भाईके वधसे रुष्ट होकर जब गदा उठाये दौड़ते बैकुण्ठ पहुँचे तो विष्णुको भागकर भी कहीं शरण नहीं मिली।' वामन भगवान कहते गये—"अन्तमें भागते-भागते परिश्रान्त हरिको उपाय सूझा। उन्होंने सोचा—मैं जहाँ जाऊँगा, यह दुर्दान्त मृत्युके समान मेरा पीछा करता वहाँ पहुँचेगा। अतः मेरी रक्षाका एक ही उपाय है कि मैं इसीके हृदयमें जा छिपूँ। यह वहिर्मुख अपने भीतर झाँकेगा ही नहीं। विष्णुने अत्यन्त सूक्ष्म रूप बनाया और हिरण्यकशिपुकी श्वासके साथ उसके भीतर प्रविष्ट हो गये। सब लोकोंमें ढूँढ़नेपर भी जब विष्णु नहीं मिले, उसने अट्टहास किया—'लगता है कि मेरा शत्रु मर गया और जो मर गया, उससे शत्रुताका क्या अर्थ? शत्रुता शरीर रहनेतककी। मैंने सब लोक ढूँढ़ लिये, विष्णु अब कहीं विद्यमान नहीं है।"

शुक्राचार्यने बलिकी ओर देखा। बलिको वे संकेत करके सूचित करना

चाहते थे—'यदि ये विष्णु नहीं हैं तो यह सब दूसरा कौन जानता है जो इनसे इनके जन्मते ही कह गया ?' लेकिन बलि तो विमुग्ध वामनके मुखकी ओर देख रहे थे। उन्होंने अन्य किसी ओर दृष्टि ही नहीं फेरी।

'आपके पितामहकी प्रशंसा तो उनके शत्रु सुर भी करते हैं। उन भक्ताग्रणीकी जितनी श्लाघा हो कम रहेगी।' वामनका स्वर भी प्रह्लादके स्मरणसे भर आया। तनिक रुके, अपनेको स्थिर करके बोले—'आपके पिता विरोचन जैसा दानवीर संसारमें सुना नहीं गया। उन्होंने याचना करनेपर अपनी आयुका दान अपने शत्रु सुरोंको कर दिया।'

'आपके कुलमें ही कोई ऐसा नहीं हुआ जो याचक ब्राह्मणकी याचना अस्वीकार कर दे। याचकको देनेका वचन देकर अस्वीकार करना तो दितिके वंशधर जानते ही नहीं।' वामन भगवानने अब बलिकी प्रशंसा की—'आपकी उदारता, अतिथि-सत्कार, दानशीलताकी प्रशंसा त्रिभुवनमें सर्वत्र है। अब पृथ्वीपर किसी आवश्यकता–पीड़ितको दूसरे किसीका स्वप्नमें भी स्मरण नहीं आता। आप जैसा अतिशय उदारदानी इस समय यज्ञ-दीक्षा लेकर सब अर्थार्थियोंकी सम्पूर्ण कामनाओंकी पूर्तिमें व्रतपूर्वक लगा है, यह सुनकर ही मैं आपके दर्शन करने आपके समीप आया हूँ। यह विश्वास लेकर ही आया हूँ कि आप मुझे निराश नहीं करेंगे।'

आचार्य शुक्रको अब अपने यजमानपर क्रोध आ रहा था। इतनी देरसे वे अपने आसनपर इधर-उधर हो रहे हैं, कई बार हाथ भी हिला चुके; किन्तु बलि कैसा मूर्ख है जो एक बार भी अपने आचार्यकी ओर देखता नहीं है। वामनके विषयमें उसे सावधान किया जा चुका है; किन्तु आचार्यका संकेत पानेकी भी वह अपेक्षा नहीं करता है ?

'आप आज्ञा करें !' बलिने अञ्जलि बाँधकर आग्रहपूर्वक कहा—'मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि आपका जो भी अभीष्ट होगा, उसे पूरा करूँगा। आपके अनुग्रहसे त्रिभुवनमें जो कुछ है, वह इस जनके लिए दुर्लभ नहीं हैं। आपके लिए तो बलि अपना शरीर भी अर्पित करनेमें कृतार्थता अनुभव करेगा।'

आचार्य शुक्रने मस्तकपर हाथ पटका। उन्हें स्पष्ट हो गया—'अब तो सर्वनाश हो ही गया। अपना सर्वस्व और शरीरतक देनेकी यह इस मूर्ख

दैत्यराजकी प्रतिज्ञा—इस अज्ञको पता नहीं है कि इन मायासे बने वामनकी सन्तुष्टि इतनेसे नहीं होनेवाली है। मैंने इसे दीर्घकालतक नीतिका उपदेश किया; किन्तु इसे यह साधारण-सी बात नहीं सूझ रही है कि यदि कोई अकारण या अल्पकारणसे अपनी अत्यधिक प्रशंसा करने लगे तो उसे सतर्क हो जाना चाहिये। उसकी माँग बहुत बड़ी होगी। वह बहुत हानि पहुँचानेवाला सिद्ध हो सकता है।'

आचार्य शुक्रको ठीक प्रतीत हो रहा था कि वामनने दैत्यवंशकी और बलिकी जो स्तुति की थी, उससे बलिका अपने ऐश्वर्यका अभिमान जाग गया था। साथ ही वामनके प्रति जो गौरव बुद्धि उनकी वामनके आगमनके समय थी, वह कुछ शिथिल पड़ गयी थी।

दातामें अपने सम्पन्न होनेका गर्व न आवे, 'मैं अनुग्रह कर सकता हूँ' यह भाव याचकके स्तवनके समय भी न आवे और याचकके प्रति कृपा भावके साथ क्षुद्रत्व बुद्धि न बने, यह बहुत कठिन है। बलिको लगा कि वामनने उनके कुलकी, उनके पूर्वजोंकी और उनकी जो प्रशंसा की है, वह ठीक ही की है। वामनपर वे अनुग्रह करके अपनेको उस प्रशंसाका उचित अधिकारी सिद्ध कर देनेको उत्सुक थे।

शुक्राचार्य वामनका स्वरूप और महत्त्व भली प्रकार समझते थे। वामन करना क्या चाहते हैं, इसका ठीक-ठीक अनुमान उन्होंने कर लिया था; किन्तु वामन पधारे यज्ञशालामें तबसे अबतक बलिने आचार्यकी ओर देखा ही नहीं था। वह वामनके तेज, सौन्दर्य एवं वाणीसे सम्मोहित उन्हींकी ओर एकटक देख रहा था। आचार्यको संकेत करनेका भी उसने अवसर नहीं दिया था।

शुक्राचार्यको अपनी नीतिकी पराजय स्पष्ट दीख गयी। उन्होंने बलिको इन्द्रत्व प्रदान करनेके लिए कितना श्रम किया, कितनी तपःशक्ति व्यय की, कितनी सतर्कता रखी और आज सब व्यर्थ होने जा रही है। आचार्य अत्यन्त क्षुब्ध हो उठे थे।

'साधनाकी शक्ति और उत्साह हो तो उपलब्धि उतनी कठिन नहीं

होती, जितनी उपलब्धिकी सुरक्षा। वह बहुत अधिक सतर्कताकी अपेक्षा करती है।' वामनने कहा तो शुक्राचार्यको लगा कि वे उनके यजमानका उपहास ही कर रहे हैं।

'कहीं कोई साधना की जाय तो उसमें भू-स्वामी और शासकको स्वत: भाग मिल जाता है। भले कोई सहायता उससे न ली गयी हो।' वामन अपनी बात कहनेकी भूमिका बना रहे थे—'सौभाग्यवश आप त्रिभुवनके शासक हैं और इस समय भूपति हैं। अत: मुझे दो स्थलोंपर याचना नहीं करनी पड़ेगी।'

'इनको अभी साधना करनी है ?' दैत्य सोचने लगे थे—'क्यों करनी है इन्हें कोई साधना ? दैत्येश्वर बलि सानुकूल हैं। जो यह माँगे देनेको प्रस्तुत हैं और इतने तेजस्वी यह स्वयं हैं। अब इन्हें दुर्लभ क्या है, जिसके लिए साधना करेंगे ?'

दैत्योंका चिन्तन अर्थ, धर्म, कामतक सीमित था। अपवर्ग—मोक्ष वे कठिनाईसे समझ सकते थे। वे तो ऋषि-मुनियोंकी साधनाको उनकी अज्ञतापूर्ण सनक समझते थे; क्योंकि उनको भी वे जो माँगें, उदार दैत्येश्वर देनेको प्रस्तुत ही थे।

बलि मोक्षकी साधनामें भले न लगे हों, उसकी महत्ता समझते थे; किन्तु वह ऐसी साधना नहीं कि उसमें किसीको भाग मिलता हो। त्रिवर्ग (अर्थ, धर्म, काम) ही स्थूल उपलब्धियाँ और उन्हींकी साधनामें अन्य कोई भाग ले सकता है। वामनको इनमें-से कुछ चाहिये तो साधनाका श्रम क्यों ? लेकिन बलिने यह पूछा नहीं। वे जानते हैं कि सृष्टि ऐसे स्वाभिमानी लोगोंसे सदा अलंकृत रहती है जो सम्पत्ति, सुयश, सत्ता और भोग किसीसे लेना स्वीकार नहीं करते। इसे अपने श्रमसे, अपनी साधनासे ही उपलब्ध करना चाहते हैं। अत: वामनने जो भूमिका बनायी, उससे बलिकी दृष्टिमें वामनका गौरव ही बढ़ा। वे बलिको अत्यन्त स्वाभिमानी प्रतीत हुए।

'दैत्येन्द्र ! आप जैसे उदार मनस्वीके उपयुक्त वचन हैं आपके।' वामनने पुन: प्रशंसा करके कहा—'अत: मैं आपसे तीन पद भूमिकी याचना करता हूँ। यह भूमि मैं अपने पदोंसे माप सकूँ, इतनी ही मेरी माँग है।'

'अपने पदोंसे मापी तीन पद भूमि ?' दैत्योंका समूह सुनते ही खुलकर हँसा। सबने पुनः वामनको सिरसे पैरतक देखा। 'ये इतने नन्हे स्वयं। इतने छोटे इनके पद और इन पदोंसे तीन पद भूमि पानेके लिए इतनी बड़ी भूमिका ? बेचारा ब्राह्मणकुमार बहुत दरिद्र लगता है।'

'विप्रकुमार ! आपने अध्ययन बहुत किया लगता है; किन्तु कुछ दिन भी व्यवहारके ज्ञानमें नहीं लगाया है।' बलिने दूसरे दैत्योंके समान अट्टहास तो नहीं किया; किन्तु हँस पड़े। वामनको संकेतसे भी वे अपमानित नहीं करना चाहते थे। उनके स्वरमें स्नेह, करुणा, समझानेका भाव था—'तुम्हारे वचन, तुम्हारे द्वारा कहा गया सत्र ऐसा है जैसा कोई बहुत विद्वान, बड़ा विचारशील ही कह सकता है; किन्तु तुम तो अपना स्वार्थ भी समझते नहीं हो। तुमने इतनी तुच्छ याचना की !'

'तुमने मेरे पूर्वजोंकी और मेरी प्रशंसा की है, इससे मैं बहुत सन्तुष्ट हुआ हूँ। मुझे सन्तुष्ट करनेके पश्चात् किसी याचकको अपने जीवनमें दूसरे किसीके सम्मुख हाथ फैलानेकी आवश्यकता नहीं रह जानी चाहिये।' बलिने सगर्व कहा—'मैं त्रिभुवनका एकछत्र शासक हूँ, यह तुम जानते हो। यदि तुम्हें भूमि ही चाहिये तो भली प्रकार सोचकर इतनी भूमि माँगो, जिससे तुम्हारी आजीविका सुखपूर्वक सम्पन्न हो सके।'

शुक्राचार्य क्या करें, उनकी समझमें ही नहीं आ रहा था। उन्होंने बलिको सावधान किया था कि वामनको भूमि भूलकर भी मत देना। वामनने भूमिकी ही याचना की और यह अज्ञ अस्वीकार करनेके स्थानपर उन्हें अधिक प्रोत्साहित कर रहा है। इसे अपने त्रिलोकेश्वर होनेका अहङ्कार हो रहा है।

'ब्रह्मचारी बालक ! मैं आपकी अवमानना नहीं करना चाहता।' बलिको लगा कि उत्साहातिरेकमें उन्होंने वामनको 'तुम' कहा और अज्ञ बतलाया, यह अनुचित व्यवहार उनसे हो गया है। अतः वे बहुत विनम्र होकर बोले—'आप मेरे लिए आदरणीय, अर्चनीय हैं। मुझसे यदि कुछ अपराध हुआ है तो मैं आपके चरणोंमें मस्तक रखकर आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ। आप मुझे क्षमा करें, मुझपर प्रसन्न हों।'

'मेरा अनुरोध है कि आप अपने निर्वाहके लिए पर्याप्त भूमि स्वीकार करें।' बलिने आग्रहपूर्वक कहा—'इतनी भूमि अवश्य हो कि उससे आगे आपको कोई अभाव न रह जाय। मैं त्रिलोकीका शासक हूँ। अत्यन्त क्षुद्र भूखण्ड देनेमें मेरी भी शोभा नहीं है।'

'तेरी शोभा तो समाप्त हो गयी।' शुक्राचार्यने चिढ़कर दाँत पीसा। 'तू अभी ऐश्वर्यके अहङ्कारमें फूला बोल रहा है। अब तेरी शोभाका क्या होता है, यह दीख जायगा।'

शुक्राचार्य बोले नहीं। अधरोंमें ही फुसफुसाकर रह गये; किन्तु बलिके लिए संकल्पकी भाषा अगम्य नहीं थी। वे स्वयं देवताओंके अग्रज और इस समय इन्द्र थे; किन्तु बलिका और दैत्योंका भी पूरा ध्यान वामनकी ओर था, अतः अपने आचार्यके मनमें उठनेवाले अन्धड़को वे लक्षित नहीं कर सके।

'दैत्येन्द्र! आपके वचन आपके कुल, शील और सुयशके सर्वथा अनुरूप हैं।' भगवान वामनने पुनः बलिकी प्रशंसा की—'मुझे आपने जो सम्मति दी है, उसमें आपका सहज औदार्य है। आपमें श्रद्धा है, उदारता है, स्नेह है। मुझे आपका कोई शब्द अनुचित नहीं लगा है। मैं प्रसन्न हूँ; किन्तु आप मेरा निवेदन भी सुन लेनेकी कृपा करें।'

'मैंने बिना विचारे अथवा अज्ञताके कारण तीन पद भूमिकी याचना नहीं की है।' वामनने स्थिर स्वरमें कहा—'यदि मैं सुखपूर्वक जीवन-निर्वाहकी बात सोचने लगूँ तो आप जानते ही हैं कि सुख किसी पदार्थकी सीमामें रहता नहीं। सुखके लिए सन्तोष चाहिये और कामनाकी क्षुधा अनन्त है। यदि मुझे तीन पद भूमि अपर्याप्त लगेगी तो पूरा महाद्वीप भी अल्प ही लगेगा। सुना तो मैंने यह भी है कि त्रिभुवनका ऐश्वर्य भी भोग-लोलुपको सन्तुष्ट नहीं कर पाता। मैंने केवल सुना है; किन्तु आप अनुभवी हैं। आप मुझसे अधिक इस तथ्यसे अवगत हैं।'

बलिने हाथ जोड़कर मस्तक झुका लिया। उनके सम्मुख खड़ा यह खर्वाकार तेजस्वी वटु उपस्थित है, उसकी अल्पायुको देखते यह अनुमान नहीं था कि वह इतना विवेकशील और वाक्पटु होगा। बलिकी श्रद्धा बढ़ी

वामनके प्रति। साथ ही उन्हें अपने कहे वचनोंमें अपना अहङ्कार एवं क्षुद्रताका भी भान हुआ।

'आपके सम्मुख मैं बालक हूँ। वय, विद्या एवं अनुभवमें भी आप वरिष्ठ हैं।' वामनने पुनः कहा—आप अपना और दूसरोंका भी कर्तव्य ठीक-ठीक जानते हैं। सबको उनके कर्तव्योंपर लगाये रखनेमें भी आप दक्ष हैं। अतः आपसे विनम्र निवेदन है कि ब्रह्मचारी ब्राह्मण बालकको आप परिग्रहमें लगनेको प्रलुब्ध मत करें। मैंने सुना है कि शक्र ऐसी कुचेष्टाएँ करते ही रहते हैं। वे त्यागी, तपस्वीजनोंको पथभ्रष्ट करनेके प्रयत्नके लिए कुख्यात हैं। आप उनके पदपर अवश्य हैं; किन्तु उनकी दुर्बलता प्रह्लादके पौत्रको स्पर्श नहीं करनी चाहिये।'

बलिने मस्तक झुका लिया। वामनके वचनोंमें उन्हें उचित उपालम्भ प्रतीत हुआ। अतः अब कोई आग्रह करनेका अवसर नहीं है, यह वे समझ गये।

'जितना प्रयोजन है, उतना ही धन परिग्रह उचित होता है।' वामनने अब पुनः अपनी माँग दुहरा दी—'आप मुझे मेरे पदोंसे मापी तीन पद भूमिका दान करनेकी कृपा करें। मेरा प्रयोजन इतनेसे पूर्ण हो जायगा।'

भूमि-दान—

'अच्छी बात। आप अपनी इच्छानुसार भूमि ग्रहण करें!' बलिने अपनी पत्नीकी ओर देखा।

विन्ध्यावली पतिके समीप ही बैठी थी। उसके नेत्र भी वामनके अत्यन्त सुकुमार, अरुण, नन्हे चरणोंपर ही लगे थे। उन चरणोंको अङ्कमें रखे बलि अत्यन्त कोमलतापूर्वक संवाहन कर रहे थे। कहना चाहिये कि सहला रहे थे। पतिव्रता दैत्य-साम्राज्ञीको लग रहा था कि पतिके इस परमाह्लादकारी कर्ममें उसका भी सहयोग है। उसका हृदय, मन, प्राण सब वहीं केन्द्रित था।

बलिने पत्नीकी ओर देखा तो वह महिमामयी अपने आसनसे उठी। उसे कहना आवश्यक नहीं था कि वामनके समान अतिथि अलभ्य है त्रिभुवनमें और अतिथिको दानके पूर्व अर्चित किया जाता है। अनर्चित दान तो भिक्षुकको दिया जाता है। वामन भले अपने भूमिदानको भिक्षा कहें; किन्तु बलि जैसा धर्मज्ञ ऐसे महत्तम अतिथिको भिक्षुक मानकर अपने दानके गौरवको हीन कैसे बना ले।

विन्ध्यावलीने पुनः वामनके सम्मुख रत्नजटित स्वर्ण पात्र रखा और सुगन्धित जलकी झारी सम्हाली। उसका हृदय उल्लसित था—'इनका चरणोदक पुनः प्राप्त होगा।'

उल्लसित था बलिका हृदय—अत्यन्त उल्लसित। उन्होंने भगवान वामनके चरण पुनः धोये। बड़ी सावधानीसे धोते रहे और तब सुकोमल वस्त्रसे उन्हें पोंछा। चरणोदक सिर चढ़ाया दम्पतिने।

बलि और विन्ध्यावलीका ध्यान तो नहीं जाना था, दैत्योंमें-से भी किसीका ध्यान इस बातपर नहीं गया कि राशि-राशि सुमन दैत्येश्वरके ऊपर कहाँसे झर रहे हैं। अन्ततः वे खुले आकाशके नीचे तो नहीं थे। यज्ञशालापर सुदृढ़ स्वर्ण मण्डप था और उसके नीचे भी मौक्तिक झालरोंसे

मण्डित कौशेय वस्त्रोंका वितान था। एक ही अश्वमेध यज्ञ लगभग तीन वर्ष लेता है। बलिने तो यह सौवाँ अश्वमेध यज्ञ भी लगभग पूर्ण कर लिया था। इस यज्ञका भी अश्व लौट आया था। केवल पूर्णाहुति शेष थी। भारतीय गगनका शृङ्गार ६ ऋतुएँ अपने-अपने ढङ्गसे करती हैं। बलिका यज्ञ मण्डप बहुत दृढ़ न होता तो सब ऋतुओंका लगभग तीनसौ वर्षोंका पादक्षेप सहकर भी नवीनके समान उज्ज्वल एवं भव्य बना रहता ? अथवा चलते हुए यज्ञके मध्य उसमें जीर्णोद्धार चलानेका अवसर था।

यह सब सोचनेका अवसर किसीको नहीं था। सबके प्राण और नेत्र वामनमें लगे थे। दैत्योंको भी अपने सम्राट् अत्यन्त भाग्यशाली लग रहे थे आज; क्योंकि ऐसे तेजोमूर्ति अद्भुत अतिथिके अर्चनका अवसर उन्हें उपलब्ध था।

बलिने भली प्रकार सम्पूर्ण विधियोंका पालन करते वामनका अर्चन किया। ब्रह्मचारीको न वस्त्र बदलवा सकते थे, न आभरण दिया जा सकता था। दानके इस पूर्वार्चनमें नैवेद्य भी अर्पित करनेको अवसर नहीं था। केवल पाद प्रक्षालन, चन्दन-अक्षत, पुष्पमाल्य, धूप-दीप, नीराजनसे सन्तोष करना था। अर्चन पूर्ण हुआ और बलिने भूमिदानके अक्षत, कुश उठानेका उपक्रम किया।

'मूर्ख ! अपना सर्वनाश करनेकी आतुरता है तुझे ?' शुक्राचार्यका इतना क्रुद्ध स्वर किसीने भी पहिली बार सुना था। वे कोमलक लाके अधिष्ठाता हैं। उनका स्वर रोषमें भी कटु नहीं होता; किन्तु बहुत देरसे किसी प्रकार वे अपनेको रोके हुए थे। अब मौन रहना अशक्य हो गया तो अत्यन्त क्रोधके स्वरमें बलिको डाँटा उन्होंने।

'तू इतना अज्ञ है कि नहीं समझता कि ये साक्षात् विष्णु अदितिसे प्रकट होकर तेरे शत्रु शक्रके अनुज हो गये हैं और तेरा सर्वस्व तुझसे छीनकर अपने अग्रजको देने आये हैं।' दैत्य सब चौंक गये। उनके सामने यह तथ्य पहिली बार प्रकट हुआ था। वामनके प्रति उनका आकर्षण समाप्त हो गया। उन्होंने तो अपने शस्त्र सम्हाल लिये।

'विष्णु मायावी है, यह हम जानते हैं।' दैत्योंमें फुसफुसाहट चलने

लगी। 'यह विष्णु न होता तो इतना तेजस्वी होता ? इसके पादक्षेपसे पृथ्वी-कम्प होता ?' असुरोंकी दृष्टि अब आतंकपूर्वक वामनको देखने लगी।

'तू इनको भूमि-दान करेगा ? इनको दे सके इतनी भूमि तेरे पास है ?' शुक्राचार्य उसी स्वरमें बोलते गये—'तुम असुरोंके बालक भी उत्पन्न होते समय सामान्य शिशु रहते हैं और कुछ क्षणोंमें पिताका आकार पा लेते हैं। सबका शरीर प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है। अत: कोई नियम तो नहीं है कि दान-ग्रहणके क्षणमें शरीर जितना बड़ा रहे, अगले क्षण मापते समय भी उतना ही बड़ा बना रहे ? इनको विराट् बनते देर लगेगी ? एक पदमें पूरी पृथ्वी और दूसरेमें ऊपरके सब लोक ये सहज माप लेंगे। तीसरे पदके लिए कोई और स्थान तेरे पास है ? सङ्कल्पित दान न दे पानेके कारण तुझे नरक जाना पड़ेगा, यह जानता है ?'

असुर सब काँप गये। लेकिन उनके स्वामी बलि स्थिर बैठे थे और आचार्य अभी बोल रहे थे, अत: सब शान्त देखते रहे भय और आश्चर्यसे वामनकी ओर।

'वह व्यक्ति सुखी रहता है इस लोक और परलोकमें भी जो अपनी आयका पञ्चधा विभाजन करता है।' शुक्राचार्यका स्वर कुछ शिथिल हुआ—'धर्मके लिए, यशके लिए, पुन: उपार्जनके लिए, अपने निर्वाह एवं भोगके लिए तथा स्वजनोंके लिए—इस प्रकार अपने धनको पाँच भागोंमें वितरित करना चाहिये; किन्तु तू इतना मूर्ख है कि सर्वस्व विष्णुको देने चला है। फिर तेरा निर्वाह कैसे होगा ?'

'मैं मानता हूँ कि जो याचकको नहीं कह देता है, वह तो जीवित होते भी मृतक तुल्य है; किन्तु धर्मका मूल है शरीर। शरीर रखकर धर्म होता है। वह धर्म प्रशंसनीय नहीं है जो शरीर निर्वाहको ही सन्दिग्ध बना दे।' आचार्य बलिको समझा रहे थे—'तूने देनेको कहा है और अब नहीं देता तो वह बात झूठी होती है; किन्तु अपनी प्राण-रक्षा, गौ या ब्राह्मणकी प्राण-रक्षाके लिए झूठ बोलना निन्दित नहीं माना जाता। इसलिए तुम अब भी इन्हें भूमि-दान करना अस्वीकार कर दो।'

विन्ध्यावलीने सिर झुका लिया। उसे आचार्यकी बात प्रिय नहीं

लगी। लेकिन अपने महामनस्वी पतिके निर्णयपर उसकी आस्था है। अतः उसे मौन रहना उचित लगा। दैत्य सब अपने आचार्यसे सर्वथा सहमत थे; किन्तु दैत्येश्वरको सम्मति देनेका साहस उनमें नहीं था।

'भगवन् ! आपने जो उपदेश किया है, वह निश्चय ही सभी गृहस्थोंके लिए कल्याणकारी है।' बलिने अब आचार्यकी ओर मुख करके हाथ जोड़ा— 'किन्तु प्रह्लादका पौत्र कृपण, कापुरुष और कपटीके समान किसीको देनेका वचन देकर अस्वीकार करदे, यह अशक्य है।'

'आप कहते हैं कि ये वामनके रूपमें साक्षात् विष्णु हैं।' बलिका स्वर स्थिर, निष्कम्प था—'इन यज्ञोंके द्वारा आप महर्षियोंके साथ यज्ञपुरुष विष्णुकी ही तो आराधना कर रहे हैं? उन्हींकी सन्तुष्टिका तो यह सम्पूर्ण सम्भार है। यदि वे स्वयं पधारे हैं यहाँ तो बलिका परम सौभाग्य। विष्णुके द्वारा तो किसीका अमंगल, पतन कभी सुना नहीं गया। ये वरदाता विष्णु हों या कोई अन्य, मैं इनको इनकी अभीष्ट भूमि अवश्य दूँगा।'

'आप कहते हैं कि ये मेरे शत्रु शक्रके अनुज हैं, इसलिए मुझे मार दे सकते हैं?' बलिने उसी स्थिर स्वरमें कहा—'ऐसा भी हो तो भी ये मेरे समीप ब्राह्मण बनकर* आये हैं, अतः मैं इनपर आघात नहीं करूँगा। ये अपने वास्तविक रूपमें प्रकट हों तो मैं इनसे युद्ध करूँगा; किन्तु याचक ब्राह्मणको मैं निराश नहीं कर सकता।'

'मुझे यशका लोभ नहीं है और न मैं अयश अथवा नरकके कष्टसे भयभीत होता। वैभव रहे या चला जाय—इसकी चिन्ता मुझे नहीं है।' बलिने स्पष्ट अपना निर्णय घोषित किया—'मैं ब्राह्मणको निराश नहीं कर सकता। ब्राह्मणके साथ कपट करनेमें मेरा हृदय काँपता है। इन्हें मैंने भूमि देनेकी प्रतिज्ञा की हैं, अतः वह प्रतिज्ञा पूरी करूँगा।'

दैत्य एक दूसरेका मुख देखने लगे। उनकी समझमें ही नहीं आ रहा

---

*देवी अदितिके सब पुत्र सविता, मित्र, भग, शक्रादि देवताओंमें क्षत्रिय वर्गमें माने जाते हैं। वामन भी उपेन्द्र रूपमें क्षत्रिय ही माने जाते हैं; किन्तु वामन रूपमें वे ब्राह्मण ब्रह्मचारी बनकर दान लेने गये थे।

था कि वे क्या करें। विन्ध्यावलीका मुख प्रफुल्ल हो गया था। उसे आगामी क्लेशोंकी सूचना तनिक भी विचलित नहीं कर सकी। वह सगर्व अपने पतिकी ओर ऐसे देखती रही थी, जैसे नेत्रोंसे ही कह रही हो—'मुझे आप-से स्वामीपर गर्व है। आपका निर्णय उचित है। मैं प्रत्येक अवस्थामें आपके साथ हूँ। आप अवश्य अतिथिको सन्तुष्ट करें।'

'तू मेरे आदेशकी अवज्ञा करनेका साहस करता है?' शुक्राचार्यका शरीर क्रोधाधिक्यसे काँपने लगा था। उनके नेत्र अरुण हो उठे थे।* उन्होंने इससे पहिले भी बलिको भूमि-दान न करनेका आदेश दिया था। तीन बार वे आदेश दे चुके थे और तीनों बार बलिने उसे अस्वीकार ही किया था; किन्तु वे आदेश सांकेतिक थे और उनके समय आचार्यके समीप दूसरा कोई नहीं था। इस बार समस्त दैत्यों, शिष्यों, सहयोगियोंके सम्मुख बलिने उनके स्पष्ट आदेशको सर्वथा अस्वीकार कर दिया था। यह अपमान आचार्यके लिए असह्य था।

'तू जानता है कि यह वैभव तेरे पौरुषका प्रसाद नहीं है।' आचार्य नीतिके प्रवर्तक हैं। उपकार करके उसका वर्णन नहीं करना चाहिये, यह आचार्य जानते हैं। किसीको उपकृत करके यदि आप उसपर किये गये उपकारका वर्णन करते हैं तो उपकृत व्यक्तिकी आपमें श्रद्धा नहीं बढ़ेगी। उसमें वितृष्णा जागेगी। वह सोचेगा—इससे अच्छा होता कि आपने उसपर उपकार किया ही न होता। वह आपकी और आपके द्वारा हुए लाभकी उपेक्षाके लिए ही प्रेरित होगा। आचार्य उत्तेजनामें यह भी भूल गये कि ऐसी बात सार्वजनिक रूपसे कहना कहनेवालेको सबकी दृष्टिमें तुच्छ बना देता है।

'मैंने तुझे सशक्त, अजेय बनानेके लिए अपनी सब साधना लगा दी। तुझे अमरावतीका अधीश्वर बनाया और तेरा इन्द्रत्व स्थायी करनेके लिए अब भी सचिन्त हूँ। सक्रिय तथा सावधान हूँ और तू मेरे आदेशकी उपेक्षा करता है?' शुक्राचार्य क्रोधसे काँपते बोलते चले गये। दूसरा अवसर होता तो बलि उनके चरणोंपर सिर रख देते; किन्तु ऐसा अवसर था कि बलिको

---

* उस समयतक शुक्राचार्य एकाक्ष नहीं हुए थे।

आचार्यका आदेश-पालन किसी प्रकार उचित नहीं लग रहा था। आचार्य धर्मको, सत्यको त्यागनेका आदेश कर रहे थे। धर्म त्यागनेका, भोग स्वीकार करनेका, अधर्म करनेका आदेश कितने भी बड़े गुरुजनका हो, अपालनीय ही होता है।

'मैं तुझे शाप देता हूँ।' शुक्राचार्यने सहसा हाथमें जल लिया और बोले—'अत्यन्त शीघ्र तू ऐश्वर्य भ्रष्ट हो जायगा।'

शुक्राचार्य जो अन्तिम अहित कर सकते थे, कर चुके। वे शाप देकर एक ओर तटस्थकी भाँति जा बैठे। भले कोई ध्यान न दे; किन्तु वे निस्तेज हो गये थे। शाप देनेके कारण उनकी तप: शक्ति तो समाप्त हो गयी, दैत्योंने भी उनकी उपेक्षा कर दी। दैत्येश्वरको शाप देनेके कारण सभी दैत्योंकी दृष्टिमें आचार्यका सम्मान समाप्त हो गया।

बलिपर इस शापका भी कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वे वैसे ही निष्कम्प बैठे रहे। उन्होंने आचार्यसे अनुनय करना आवश्यक ही नहीं माना।

आचार्य शुक्र शाप देकर लम्बी श्वास छोड़ते यज्ञशालामें एक ओर तटस्थ बैठ गये। उनके अपना आसन छोड़कर एक ओर बैठनेका ढङ्ग ही कहता था—'यज्ञका जो होना था, हो चुका। अब यह पूर्ण होनेवाला नहीं है और इसका दायित्व मुझपर नहीं है।'

शुक्राचार्य यदि यज्ञ-स्थल छोड़कर ही नहीं चले गये तो उसका भी कारण था। किसी यज्ञ-पूजादिमें यजमानके द्वारा जिस ब्राह्मणका विधिपूर्वक वरण किया गया है, वह शरीरके स्वस्थ रहते किसी भी कारणसे उस कार्यको अधूरा छोड़कर तभी जा सकता है, जब यजमान ही उसे जानेको कह दे। बलिके यज्ञमें अभी कोई विघ्न पड़ा नहीं था। अत: विघ्न चाहे जितना सुनिश्चित हो, केवल सम्भावनाके कारण आचार्य अपूर्ण यज्ञ छोड़कर जा नहीं सकते थे।

बलिने आचार्यके इस प्रकार तटस्थ बैठनेको भी महत्त्व नहीं दिया। उन्होंने हाथमें अक्षत, जल, पुष्प लिया और वामनसे बोले—'भगवन्! आप भूमि-दान ग्रहण करें।'

लेकिन बलिके हाथपर जल डालनेके लिए जो कमण्डलु वामनने उठाया, उसकी टोंटीसे जल निकल ही नहीं रहा था। ऐसा क्यों हो रहा है, इसपर वामनका ध्यान जाना ही था। उन्होंने यज्ञशालामें इधर-उधर देखा और उनके अधरोंपर स्मित आया।

शुक्राचार्य तटस्थ बैठकर भी तटस्थ नहीं हो सके थे। बलिको इन्द्र बना देनेमें केवल कृपा ही नहीं थी। आचार्यका अपना गौरव भी कम नहीं था। अपने प्रतिस्पर्धी देवगुरु बृहस्पतिको वे प्रायः पूर्ण पराभव दे ही चुके थे कि ये वामन विघ्न बनकर आ गये। यदि बलिका यह यज्ञ अपूर्ण रहता है तो आचार्यकी सम्पूर्ण योजना ही ध्वस्त हो जाती है। बृहस्पति पुनः स्वर्गमें प्रतिष्ठित हो जाते हैं।

बलिके ऊपर आचार्यको चाहे जितना क्रोध आवे, अब आशा नहीं थी कि बलि उनकी कोई बात सुनेंगे। आचार्यने सोचा—'यह क्षण अत्यन्त महत्त्वका है। यदि बलिको कुछ क्षण भी भूमि-दान करनेसे अटकाया जा सके तो सम्भव है, उसमें बुद्धि आ जाय। उसके हठका आवेश दूर होगा तो उसको मेरे रोषका ध्यान आवेगा। वह सम्हल सकता है।'

आचार्य शुक्र सूक्ष्म रूप धारण करके जलपात्रकी टोंटीमें जा बैठे। वे अपने आसनपर नहीं हैं, इसपर केवल वामनकी दृष्टि गयी। वे मुस्कराकर बोले—'दैत्येन्द्र ! इस जलपात्रकी नलिकामें कुछ अटक गया लगता है।'

वामनने एक कुश उठाया वहींसे और उसका पीछेका कड़ा भाग नलिकामें वेगपूर्वक डाल दिया। शुक्राचार्यके दक्षिण नेत्रमें सीधे वह लगा। नेत्र जाता रहा। असह्य पीड़ाके कारण आचार्य जलपात्रसे भागनेको विवश हुए। वे चीत्कार भी नहीं कर सकते थे। रक्त टपकता दाहिना नेत्र करसे दबाये वे अपने आसनपर बैठे हैं, इसपर भी किसीका उस समय ध्यान नहीं गया। सबके नेत्र तो वामनकी ओर लगे थे।

'त्वत्पाद सम्मतं त्रीणि पदानि पृथ्वीं प्रददे।' बलिने विधिपूर्वक पूरा सङ्कल्प बोलकर हाथका अक्षत-कुश आदरपूर्वक वामनके करोंमें दे दिया।

असाधारण दृश्य था यह। इसका दर्शन करने तो महः, जन, तप

और सत्यलोकके भी सब महर्षि गगनमें आ गये थे। स्वयं सृष्टिकर्ता हंसवाहन उपस्थित थे आकाशमें और शक्रके साथ दूसरे सुर भी आये ही थे। सबसे अधिक उत्सुकता तो उन्हींको थी। वामनकी सफलतापर ही उनका भाग्य निर्भर था। अतः वामनके साथ तो वे आरम्भसे लगे रहे थे।

'महामनस्वी दैत्यराज बलिकी जय ! अद्‌भुत कर्मा प्रह्लादके पौत्रकी जय ! दानियोंके मुकुटमणि दैत्येन्द्रकी जय ! सद्धर्म शिरोमणि बलिकी जय !' भगवान ब्रह्माके स्वयंके करोंसे छूटी पुष्प वर्षा बलिके मस्तकपर पड़ी और वे एक साथ अपने चारों मुखोंसे पुकार उठे। अन्ततः बलिसे उनका अपना सम्बन्ध है। आज सृष्टिकर्ताको इस सम्बन्धके स्मरणने गौरवान्वित किया। महर्षि कश्यप उनके पौत्र हैं। कश्यपजीके पौत्र प्रह्लाद और प्रह्लादके पौत्र बलि। वैसे सृष्टिकर्ताको सम्बन्ध-स्मरणका अभ्यास नहीं है। सब उनकी ही सृष्टि है, तो सम्बन्ध क्यों स्मरण करें।

'इतना महामनस्वी सृष्टिमें होना दुष्कर है।' देवगुरु वृहस्पति मुक्तकंठ कह रहे थे—'यह जानकर भी वामन उसके शत्रु हैं, उन्हें इन्होंने त्रिलोकी दान कर दी।'

'धन्य बलि ! शक्र तुम्हारी वन्दना करता है।' सुरोंके साथ इन्द्र बलिके ऊपर सुमन वर्षा करते बार-बार कह रहे थे—'स्वर्ग अब भले शक्रको मिल जाय; किन्तु वह सदाके लिए तुम्हारा दान हो गया। तुमसे स्पर्धा करनेका संकल्प भी अब सुर कभी नहीं कर सकेंगे। इतनी उदारताका हममें कोई स्वप्न भी नहीं देख सकता।'

बलि मस्तक झुकाये शान्त बेठे थे। सृष्टिकर्ताकी जयध्वनि, सुरोंके प्रशंसाके स्वर और गगनसे होती निरन्तर पुष्पवर्षाने उन्हें अत्यधिक संकोचमें डाल दिया था। वे कह भले नहीं सके; किन्तु उनका हृदय कह रहा था—'मैंने तो इस प्रकारका कोई कार्य नहीं किया कि स्वयं सृष्टिकर्ता और मेरे शत्रु सुर मेरी प्रशंसा करें। बलि अपने कर्तव्यसे विमुख नहीं हुआ, ठीक अवसरपर इसकी बुद्धि विचलित नहीं हुई, इतना ही तो हुआ और यह भी इसकी अपनी विशेषता कहाँ है। यह तो इसके अपने पिता-पितामहके पुण्योंका प्रसाद इसे प्राप्त है।'

विन्ध्यावली हर्षसे, गौरवसे बलिके पार्श्वमें बैठी अपने उन भुवन-धन्य पतिके चरणोंको ही साश्रु नेत्र देख रही थी। केवल दैत्य सशंक हो गये थे—'अब क्या होगा ?'

शुक्राचार्यको अपने आहत नेत्रोंकी पीड़ासे परित्राण पानेमें समय लगा। वे दिव्य देह हैं और मरे,छिनाङ्ग दैत्योंको भी संजीवनी विद्याके बलपर जीवित तथा स्वस्थ कर दिया करते हैं। उनके नेत्रका रक्तस्राव कुछ क्षण ही चला। वह उनकी इच्छा करते ही बन्द हो गया और नेत्रका क्षत भी स्वस्थ हो गया; किन्तु उस नेत्रमें ज्योति नहीं लौटी। सत्यसंकल्प भगवान वामनके करोंने जिस नेत्रको आहत किया, उसमें कोई विद्या ज्योतिका जागरण करनेमें समर्थ नहीं थी।

आचार्यने प्रयत्न न किया हो, ऐसा नहीं; किन्तु उनका प्रयत्न जब केवल क्षत मिटाकर रह गया, वे समझ गये कि ये वामन उन्हें अब एकाक्ष ही रखना चाहते हैं। आचार्यके मुखसे निकला—'ठीक तो है। जो दो नेत्र रहते भी सृष्टिके सन्तुलनको देख नहीं सकता, केवल अपने स्वार्थ और अपने पक्षके हितको ही देखता है, उसे एकाक्ष ही रहना चाहिये।'

शुक्राचार्य नीतिज्ञ हैं। तत्त्वज्ञ हैं। उनका असन्तोष शीघ्र दूर हो गया। बलिपर कोई आक्रोश जागा ही नहीं उनके मनमें। उलटे जब सृष्टिकर्ता और सुरोंके भी बलिकी प्रशंसाके स्वर उनके श्रवणोंमें पड़े तो उन्होंने स्नेह, श्रद्धा, सम्मानके साथ बलिकी ओर देखा। उनसे भले भूल हो रही थी; किन्तु उनके सुयोग्य शिष्यने उन्हें भी अतिथिकी अवमानना तथा असत्यमें भागीदार होनेसे बचा लिया था।

व्यतीतके लिए व्याकुल होना कभी विवेकी पुरुषके लिए उचित नहीं हुआ करता। दैत्योंके कुलाचार्यमें यह दुर्बलता सम्भव ही नहीं है। वे सदा वर्तमानको सम्हालनेके लिए सतर्क न रहते होते तो सुरोंको भी पराभव देनेवाले दैत्य उनके सम्मुख विनीत बने रहते ?'

बलिने वामनको भूमि-दान कर दिया था। आचार्यको किञ्चित भी सन्देह नहीं था कि वामन अब विराट् बनकर त्रिलोकी माप लेनेवाले हैं। अतः जो हो चुका और उसका जो अनिवार्य परिणाम है, उसपर खेद करना

व्यर्थ था। उसके सम्बन्धमें चिन्ता करके समय नष्ट करना और असावधान हो जाना आचार्यके स्वभावमें ही नहीं है।

'अब मेरा करणीय ?' आचार्यका स्नेह बलिपर बढ़ गया था। अपनी अवज्ञा वे विस्मृत हो चुके थे। वे देख रहे थे कि कुछ क्षण पूर्व जो दैत्य उनकी ओर उपेक्षासे देखते थे, अब वही उनकी ओर कातरतापूर्वक, विनयसे देखने लगे हैं। वे आशापूर्वक देख रहे हैं।

आपत्तिमें सदा आचार्य शुक्र दैत्योंके सहायक एवं संरक्षक बने हैं। दैत्योंकी दुर्बलता है कि उनसे अनेक बार आचार्यकी अवमानना हो जाती है; किन्तु आचार्य अपने इन आश्रितोंकी उपेक्षा इसीलिए नहीं कर सकते। दैत्य भले अभी भयभीत, शंकित होनेसे क्षमा प्रार्थना न कर सकें, आचार्यकी अनुकम्पा तो उनपर है ही। इसी अनुकम्पाने आचार्यको प्रतिभाको प्रबुद्ध कर दिया। वे परिस्थितिका सूक्ष्म आकलन करने लगे।

'बलिने उचित कर्तव्यका पालन किया।' शुक्राचार्य सोचते हैं— 'वामनसे कोई अनुरोध व्यर्थ है। उन्होंने अदितिके पुत्ररूपमें अवतार ही लिया सुरोंको स्वर्गका राज्य दिलानेके लिए। वे सर्वसमर्थ हैं। बलि और दैत्योंको वे बलपूर्वक भी पराजित कर सकते थे। यह उनका अनुग्रह कि बलिको दाता बननेका उन्होंने गौरव दिया और स्वयं बलिके सम्मुख याचक बनकर आये; किन्तु जिस लक्ष्यको लेकर उन्होंने यह सब किया, उसे वे छोड़ कैसे देंगे। अतः अब दैत्योंको तथा बलिको स्वर्गसे तो वंचित होना ही है।'

'बलि अपनी प्रतिज्ञाका निर्वाह कर नहीं सकता। इन विश्वेशके लिए त्रिलोकी तीन पद होनेसे रही। तब ?' आचार्य शुक्रकी चिन्तनधारा यहीं आकर अटकती है।

'दानका संकल्प करके कोई उसे पूरा न कर सके तो उसकी अधोगति होती है—यह शास्त्रका निर्णय है। शास्त्र सनातन है और उसकी मर्यादा नष्ट हो जाय तो सृष्टिकी मर्यादा बनी नहीं रहेगी। वह मर्यादा नष्ट हो सकती तो विष्णुको याचक बनकर आना पड़ता ? वह मर्यादा ही तो है कि धर्मपर स्थिरका पराभव नहीं किया जा सकता, इसीलिए ही तो उन विश्वेशको यह

नाटच करना पड़ा।' शुक्राचार्य यहाँ अद्भुत असमंजसमें पड़ गये—'अब वही धर्मके प्रभु शास्त्रकी मर्यादाको रोक सकेंगे ?'

'बलिने कहा है कि विष्णुके द्वारा किसीका अधःपतन होते सुना नहीं गया। इसने असत्य तो नहीं कहा।' शुक्राचार्यकी समस्या सरल नहीं—'बलिने मेरे शापकी भी उपेक्षा करके इन यज्ञपुरुषका सत्कार किया। अपने सर्वस्वको अर्पित करके इनकी अर्चा की है। अब यदि बलिका अधःपतन होता है तो इनकी-इनके अर्चनकी, अतिथि-सत्कार धर्मकी मर्यादा रक्षित रह सकेगी ?'

'बलिका अधःपतन नहीं होना चाहिये।' शुक्राचार्यको अभीष्ट यही है; किन्तु बलि अपने दानको पूर्णता देनेमें असमर्थ है, यह वे स्पष्ट समझ रहे हैं। अब ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी है कि धर्म ही दोनों प्रकारका परिणाम सूचित कर रहा है। ऐसेमें आचार्य कुछ कर नहीं सकते।

'ये लीलामय हैं। इनकी शक्ति अचिन्त्य है और इनकी लीला भी अचिन्त्य है। ये क्या करना चाहते हैं—किसीके लिए भी यह अनुमान कर पाना सम्भव नहीं है। अब तो इन भक्तवत्सल, दयामयकी दयाका ही भरोसा है।' आचार्यने वामनके पदोंमें धीरेसे, अपने स्थानसे ही मस्तक झुकाया। उनको भी प्रतीक्षा ही करनी है कि भगवान वामन आगे क्या करते हैं। प्रतीक्षाके अतिरिक्त कोई उपाय शुक्राचार्यको भी सूझ नहीं रहा था।

वामनसे विराट्-

अभी-अभी भगवान वामनने बलिके हाथसे भूमि-दानके सङ्कल्पका अक्षत, पुष्प ग्रहण किया था। अविज्ञ उनका श्रीविग्रह आश्चर्यजनक शीघ्रतासे बढ़ा। दैत्य और बलिकी बात तो दूर, शुक्राचार्य और सृष्टिकर्तातक स्तब्ध, चकित रह गये। स्वयं सृष्टिकर्ताका गगनमें स्थित हंस उस अद्भुत विराट् रूपसे बहुत नीचे रह गया।

उस तेजोमय अकल्पनीय स्वरूपको एक बारमें देख लेना किसीके लिए भी सम्भव नहीं रहा। उसके एक-एक अवयवके भी एकांशको ही एक बारमें देखा जा सकता था। सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्डको उस रूपने अपनेमें समेट लिया था। विश्व उसके एक अंशमें ही स्थित था।

उसके तेजसे भीत दैत्योंने मस्तक झुकाकर अपने नेत्र बन्द कर लिये। ब्रह्माजी अपने ब्रह्मलोकको शीघ्रतापूर्वक चले गये। वहाँ उन्हें इन विराट्के शिरोभागका दर्शन करना था। शुक्राचार्य स्तब्ध हाथ जोड़े खड़े रह गये। उनके मुखसे स्तुतिके शब्द निकल ही नहीं सके।

बलि भी चकित खड़े रह गये; किन्तु उन्होंने उस अद्भुत रूपको नीचेसे ऊपरतक देखा। अवश्य ही एक-एक अवयवको भी क्रमशः ही देखना सम्भव हो सका।

पृथ्वी, आकाश, अन्तरिक्ष, समुद्र, पर्वत, ग्रह-नक्षत्रादि सब उस विराट् रूपमें ही आ गया था। सब दिशाओंमें बस वही थे। रसातल आदि सब नीचेके लोक उनके चरणोंमें स्थित दीखे। पृथ्वी पिण्डलियोंमें आ गयी थी। ऊपरके लोक भी कण्ठतकमें ही थे। मस्तकका भाग तो देख पाना सम्भव ही नहीं था।

बलिने चकित होकर देखा कि सब देवता, दैत्य, सिद्ध-चारण-गन्धर्व, सिद्ध, विद्याधर, ऋषि-मुनि तथा मनुष्य-पशु-पक्षी-कीटादि उन विश्व रूपके ही विभिन्न अङ्गोंमें स्थित हैं। स्वयं बलि और उसके अनुचर भी उसी

श्रीविग्रहमें ऐसी स्थितिमें हैं, जैसे मनुष्यके शरीरमें रक्त-मांसके जीवाणु होते हैं ।

बलि अपने आधिपत्यको ही अबतक महत्तम मानते आये थे; किन्तु इस विराट् रूपमें वह अत्यन्त तुच्छ था । लेकिन बलिको सन्तोष हुआ यह देखकर कि इन विश्वेशके श्रीअङ्गमें सुरोंके समान असुरोंकी भी स्थिति है और दोनों ही उनके अङ्गके अंश ही हैं ।

प्रकृति, महत्तत्त्वादि तथा अन्य तत्त्व भी उस रूपमें प्रत्यक्षके समान दीख रहे थे । वस्तुतः यह समझना कठिन था कि बलि स्वयं कहाँ खड़े होकर उस रूपको देख रहे हैं । हम आप जैसे विश्वके एक अंश रहते विश्वको देखते हैं, बलिकी स्थिति उससे भिन्न थी । उनके सम्मुख विराट् पुरुष अपने पूरे आधिदैवत रूपमें प्रकट थे । अतः सब तत्त्वोंके अधिदेवता उस विश्वपुरुषमें प्रत्यक्ष दीख रहे थे ।

अचानक सुनन्द-नन्द, प्रचण्ड-चण्ड, कुमुद-कुमुदेक्षण आदि विष्णुपार्षद उपस्थित हो गये । श्रुति-मन्त्र मूर्ति, स्वर्णवर्णा पक्षिराज गरुड़ आ गये । बलिके लिए यद्यपि उस समय विश्वरूप प्रगट था; किन्तु वे भी नहीं देख सके ये विष्णु-पार्षद कहाँसे आये । वैकुण्ठ तो विराट्का अङ्ग नहीं है । अतः वह बलिके लिए भी अदृश्य ही रहा । ऐसी अवस्थामें नित्यलोक (साकेत, गोलोकादि) तो दीख ही कैसे सकते थे ।

विष्णु-पार्षदोंमें बलिने जय-विजयको बहुत उत्कण्ठित होकर देखना चाहा । उन्होंने सुन रखा था कि उनके कुलपुरुष हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु इन्हीं पार्षदोंको होना पड़ा था । लेकिन इन दोनोंको तो अभी दो असुर देह प्राप्त होनी थी । वे पार्षदोंमें उपस्थित ही नहीं हो सके थे ।

भगवानके इस विश्वरूपने सबसे अधिक उल्लसित किया रीछराज जाम्बवानको । वे ब्रह्माजीके मानस-पुत्र हैं । उपदेवता वर्गमें हैं । उस समय तरुण थे । उन्होंने भेरी अपने कण्ठमें लटकायी और समस्त लोकोंमें उस भेरीका घोष करते घोषणा करते दौड़ने लगे—'महोत्सव मनाओ ! सुर-असुर सब प्राणी महोत्सव मनावें । आज परम प्रभु विश्वरूप अपने विराट् रूपमें प्रकट हुए हैं । सबने अपने छुद्र शरीरके जन्मका जयन्ती उत्सव मनाया है,

अपने पूर्व पुरुषों और पूज्योंकी जयन्तियाँ मनायी हैं, आज सर्वरूप, सर्वेश, सर्वमयका प्राकट्योत्सव मनाओ !'

जाम्बवानका वेग उस समय ऐसा था कि उसके सम्मुख वायुकी गति तुच्छ थी। उनकी गतिकी समता मनकी गति या गरुड़की गतिसे ही की जा सकती है। वे पूरे वेगसे महोत्सवकी घोषणा करते दौड़ रहे थे।

जाम्बवन्त तो भगवान विराट्की प्रदक्षिणा करते दौड़ रहे थे। विश्व विराट्के अङ्गोंमें ही तो सब लोक हैं और जाम्बवानने केवल दो घड़ीमें (मानव मानदण्डकी ही दो घड़ीमें) उन विराट्की सात प्रदक्षिणा पूरी की। इसका एक परिणाम यह हुआ कि जाम्बवानकी यह घोषणा सम्पूर्ण किसी लोकमें सुनी नहीं गयी।

जाम्बवान अपने उत्साहमें थे। उनका ध्यान ही नहीं गया कि घोषणा सुनना तो दूर, उनको इस वेगमें कहीं कोई पहिचान भी नहीं रहा है। एक दीर्घ कृष्ण वर्ण रेखा सर्रसे नेत्रोंके सम्मुख अस्पष्ट गड़गड़ाहटके साथ सात बार सब ओरसे निकलती चली गयी। उसने कोई घोषणा की, यह समझनेको समय ही नहीं मिला। उलटे उससे भी आश्चर्य एवं आतंक ही सर्वत्र व्याप्त हुआ।

विराट् भगवानको हमारी यह पृथ्वी मापनी नहीं थी। उनके श्रीचरणोंका आकार ही इतना बड़ा था कि पूरी पृथ्वी उसके अन्तर्भूत हो गयी थी। लेकिन ग्रह-नक्षत्रादि जहाँतक पार्थिव द्रव्य है, पुराण उस पूरे विस्तारको पृथ्वी ही कहते हैं। विश्वरूप प्रभुने एक पद उठाकर रखा तो आजके वैज्ञानिकोंको ज्ञात सब आकाशगङ्गा-मण्डल अर्थात् समूची स्थूल सृष्टि उसके भीतर हो गयी। समस्त स्थूल जगत माप लिया गया एक पदमें।

बलिने इसे देखा और समझ भी लिया। उनका सब स्थूल भोग, ऐश्वर्य वामनके इस विराट रूपके एक पदको पूरा नहीं पड़ा, यह भी वे समझ गये। ऐश्वर्यका उनका अभिमान गलित हो गया।

अद्भुत हैं यह वामन। व्यक्तिके अपने देहमें जहाँ प्राण और अपानकी सन्धि है, उस हृदय देशमें अंगुष्ठ मात्र पुरुष होकर अवस्थित हैं। श्रुति

यही निर्देश करती है; किन्तु जब किसी सौभाग्यशालीके अन्तरमें प्रकट होते हैं, इन्हें वामनसे विराट् होते विलम्ब नहीं लगता। हमारा समूचा स्थूल विस्तार इनके एक पदके लिए भी अपर्याप्त हो जाता है।

यह स्थूल जगत—स्थूल देह, यह अधिभूत ही तो अधिदेव तथा अध्यात्मको विभक्त बनाये है।

योऽध्यात्मिकोऽयं पुरुषः सो सावेवाधिदैविकः।
यस्तत्रोभयविच्छेदः पुरुषो ह्याधिभौतिकः॥

—भागवत २.१०.८

अधिभूत अर्थात् शरीर—शरीरका नाम-रूप-सम्बन्धी। इसका मोह ही अध्यात्म और अधिदैवकी विभाजक रेखा बना है। यह दीवार ढहे तो आत्मतत्त्व और सगुण परमात्माका एकत्व स्वतः प्रत्यक्ष हो जाय। सब साधनोंका—आध्यात्मिक साधनोंका उद्देश्य इस अधिभूतकी दीवारको (देहासक्तिको) ढहाना ही है। इसलिए सब चाहते हैं—सबकी प्रेरणा है कि मनुष्य अन्तर्मुख हो। उसके सम्मुख हृदयस्थ वामन प्रकट हों। उनके चरणोंमें समर्पण किया जाय।

विराट् प्रभुने दूसरा पद उठाया। उनको आपत्ति नहीं थी कि उनके पूरे पद रखनेको स्थान पर्याप्त नहीं हुआ। पदका कोई अंश टिकानेको स्थान मिला, यही पर्याप्त है। प्राणीकी अपनी अवस्थिति ही उनके भीतर है तो उनको पूरा पद रखनेको स्थान वह कहाँसे लावेगा ?

दूसरा पद उठा और सम्पूर्ण सूक्ष्म जगत समाप्त हो गया। विराट्का उठा पद तो ब्रह्मलोकसे ऊपरतक गया और उसके पादांगुष्ठके नखका अग्रभाग ब्रह्माण्डके वाह्यावरणको भेद गया। वामनके पद-नखसे वाह्यावरणके किञ्चित फूट जानेसे इस हमारे आपके ब्रह्माण्डका नाम 'वामन ब्रह्माण्ड' पड़ गया।❀

❀**रोम रोम प्रति लागे, कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड।**

आजकल एक सौर जगतको जिसमें सूर्य, उसके सब ग्रह पृथ्वी सहित और उन ग्रहोंके उपग्रह (चन्द्रमा) आते हैं, एक ब्रह्माण्ड कहा जाता है। आजका विज्ञान भी मानता है कि ऐसे असंख्य सूर्य (उनका सौर जगत) अन्तरिक्षमें हैं। हम-आप उनमें जो दीखते हैं, उन्हें तारा कहते हैं।

पुराणोंके अनुसार ब्रह्माण्डके बाहर ब्रह्मद्रव है। इस ब्रह्माण्डका वाह्यावरण तनिक-सा फटा तो विराट्के उस अंगुष्ठसे होता कुछ ब्रह्मद्रव उनके चरणोंपर आ गया। ब्रह्माजी अपने लोकमें पहुँचे विराट्के उस चरणकी अर्चना करने लगे। चरण-प्रक्षालन करके वह चरणोदक उन्होंने अपने कमण्डलुमें रख लिया। इस प्रकार ब्रह्माजीके कमण्डलुमें विराटका चरणोदक, उन चरणोंपर ब्रह्माण्डावरणसे बाहरका आया ब्रह्मद्रव भी आ गया। ब्रह्माके कमण्डलुका वह चरणोदक अवसर पाकर सुरसरिके रूपमें ब्रह्मलोकसे नीचे आया। वही पृथ्वीपर गंगा, स्वर्गमें मन्दाकिनी और पातालमें भोगावतीकी पवित्र धारा होकर इन तीनों लोकोंको पवित्र करती है।

ब्रह्माजीने श्रद्धा-सहित अपने लोकमें पहुँचे उरुक्रम प्रभुके उस श्रीचरणका भली प्रकार पूजन किया। विश्वरूप त्रिविक्रमके सम्पूर्ण श्रोविग्रहका अर्चन तो सृष्टिकर्ताके लिए भी सम्भव नहीं है। वे भी उनके एक अङ्गका, केवल एक चरणका अर्चन कर सके। दूसरे किसी प्राणीके लिए तो यह भी अशक्य है। उसके ध्यानमें विराटका एक अवयव भी पूरा नहीं आ सकता।

त्रिविक्रमने दूसरे पादमें बलिके पुण्योंसे उपार्जित सूक्ष्म लोक माप लिये। बलि स्वर्गके अधिपति थे; किन्तु उनके पुण्य अपार थे। अभी उन्होंने निन्यानवे अश्वमेध यज्ञ किये थे और जानकर भी कि वामनके रूपमें उनके सामने साक्षात् विष्णु हैं, उन्हें उन्होंने भूमिदान किया था। धर्मका, दानका, सब सत्कर्मोंका फल ब्रह्मलोक प्राप्तितक परिसीमित है। बलिके या किसीके भी कितने भी बड़े पुण्योंसे उत्पन्न अदृष्ट (प्रारब्ध) उसे ब्रह्मलोक ही दे सकता है।

धर्मकी गति ही ममत्व तक है। धर्मका समर्पण ममत्वका समर्पण है; क्योंकि धर्ममें कर्ता धर्म करता है। अतः वह कर्ता अपने उपार्जनका अर्पण कर सकता है। भागवत धर्म इतनेसे समाप्त नहीं होता। वह अहमर्थका—कर्ताका भी आत्मसमर्पण चाहता है। इसीलिए धर्मका—ममत्वका समर्पण ब्रह्मलोक प्रदानतक परिसीमित है; किन्तु भागवत धर्मका फल—अहङ्कार कर्ताका आत्मसमर्पण परमात्मोपलब्धि करता है।

वामन तो हैं ही अद्भुत। वे जबतक अन्तरमें तटस्थ द्रष्टा हैं, निष्क्रिय

हैं, तभीतक वामन हैं। सक्रिय होते ही वे त्रिविक्रम हो जाते हैं और तब स्थूल और सूक्ष्मको, समस्त ममत्वके विषयको अधिकृत करके उनका सन्तोष नहीं हुआ करता। उनको एक बार सक्रिय कर देनेके पश्चात् साधकका कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता; क्योंकि वे साधन-साध्य नहीं हैं। वे तो अपनी कृपासे ही साधकके अहमर्थको अधिकृत करके स्वयं उसके अपने हो जाते हैं। बलिके साथ यही होना था।

असुर निष्क्रिय नहीं थे। निष्क्रियता उनके स्वभावमें ही नहीं है। वे तो प्रचण्ड पौरुषमें विश्वास करनेवाले हैं। अतः वे सबके सब अपने अस्त्र-शस्त्र उठाकर खड़े हो गये थे।

'यह ब्राह्मण नहीं है। ब्रह्मचारी भी नहीं है। यह तो ब्राह्मणके कृत्रिम वेशमें छिपा महामायावी विष्णु है।' दैत्य चिल्लाने लगे थे--'ब्रह्मचारी वेश बनाये इस शत्रुने तीन पैर पृथ्वी माँगनेका बहाना बनाकर हमारे स्वामीका सर्वस्व हरण कर लिया।'

'हमारे स्वामी परम सत्यवादी हैं।' बलिके प्रति दैत्योंमें तनिक भी अवमानना, उपेक्षाका भाव नहीं आया था और न उनकी स्वामिभक्ति शिथिल हुई थी। उन सबका कहना था—'हमारे स्वामी तो स्वभावसे दयालु हैं और ब्राह्मणोंके भक्त हैं। इस समय तो यज्ञकी दीक्षा लिये हैं, अतः इस समय और भी सत्यनिष्ठ हो गये हैं। उनके लिए इस समय झूठ बोल देना या प्रतिज्ञासे हट जाना सम्भव ही नहीं है।'

'हमारा कर्तव्य है इस समय संकटमें पड़े अपने स्वामीकी सेवा करना।' दैत्य इस सम्बन्धमें एकमत हो गये—'इस मायावी शत्रुको मार दो। अपने स्वामीकी हम इसी प्रकार उत्तम सेवा कर सकते हैं।'

'अरे नहीं! यह अत्यन्त अनुचित है।' बलि उठ खड़े हुए। उन्होंने पुकारकर दैत्योंको रोकनेका पूरा प्रयत्न किया; किन्तु दैत्योंमें कोई इस समय बलिकी आज्ञा सुननेको प्रस्तुत नहीं था। वे वैसे भी यक्ष-दीक्षामें दीक्षित थे। इस समय किसीको दण्ड नहीं दे सकते थे और अपने ही लोगोंके विरुद्ध—उन लोगोंके विरुद्ध जो उनके ही लिए, उनके हितमें उनके आदेशको टालने लगे थे, शस्त्र उठाना किसी भी प्रकार उचित नहीं था।

बलिकी इच्छा न होनेपर भी, उनके वारण करनेपर भी दैत्योंने त्रिविक्रम भगवानपर आक्रमण कर दिया; किन्तु भगवानके जो पार्षद आये थे वहाँ, वे असावधान नहीं थे। उन्होंने भी अपने आयुध उठाये और आततायी दैत्योंपर प्रहार आरम्भ कर दिया।

यह संघर्ष देरतक नहीं चला। भगवत्पार्षदोंके चक्र, गदादिके प्रहारोंसे आहत, पीड़ित दैत्य शीघ्र इधर-उधर अपनी रक्षाके लिए व्याकुल भागने लगे। उन्होंने प्रथम आक्रमण किया था; किन्तु अब उन्हें अपनी रक्षाके लिए भी कठिनाई होने लगी।

'विप्रचित्ति ! नमुचि ! राहु ! शम्बर ! सब दैत्य मेरी बात सुनें !' बलिने दोनों हाथ उठाकर पूरी शक्तिसे पुकारा—'युद्ध मत करो ! यहाँ यज्ञशालामें लौट आओ। अस्त्र-शस्त्र रख दो। तुम सबको अपने गुरुदेवका शाप स्मरण नहीं है ? यह हमारा ऐश्वर्य तो उनके शापसे नष्ट होने ही वाला है। ये त्रिविक्रम तो उसे सार्थक करनेके निमित्त हैं।'

युद्धमें दैत्य पराजित तो हो ही रहे थे। बलिकी आज्ञाकी उपेक्षा करनेका खेद हो रहा था उन्हें। अब पुन: बलिने उन्हें आदेश दिया तो उन्हें यह अपनी रक्षा तथा सम्मान भी बचाये रहनेका सहारा मिल गया। सबने अस्त्र-शस्त्र फेंक दिये और बलिके समीप चले आये। निरस्त्र, प्रतिकारहीन दैत्योंपर भगवत्पार्षद प्रहार तो करते नहीं। अपनी विजयसे प्रसन्न वे हर्ष-पूर्वक जयघोष करने लगे—'भगवान त्रिविक्रमकी जय ! असुरारि जनार्दनकी जय।'

'खिन्न या निराश होनेका कोई कारण नहीं है।' बलिने अपने समीप आ गये श्रीहीन, उदास दैत्योंको समझाया—'यह काल हम लोगोंके लिए हितकर नहीं है। आप लोगोंने अनेक बार इन्हीं विष्णुपार्षदोंको पराजित किया है; किन्तु आज काल उनके अनुकूल है तो वे हम सबको जीतकर जयनाद कर रहे हैं। बलसे, बुद्धिसे, परस्पर सहयोगसे, सुदृढ़ दुर्ग होनेसे, मन्त्र या औषधिसे अथवा अन्य भी किसी उपायसे कोई भगवान कालका अतिक्रमण नहीं कर सकता। जो काल भगवान अबतक देवताओंके प्रतिकूल हमारे अभ्युदयके कारण हो रहे थे, अब वही हमारे प्रतिकूल हो गये हैं। अत: धैर्यपूर्वक कालके अनुकूल होनेकी हम सबको प्रतीक्षा करनी है।'

दैत्य पराजित तो हो ही गये थे। दैत्येन्द्रने उनकी अवज्ञापर कोई रोष नहीं किया था। सबको लग रहा था कि उन्होंने संघर्ष करके सचमुच बड़ी भूल की है। अपने समर्थ असुर-गुरुका शाप तो उन्हें स्मरण रखना ही चाहिये था। उनका शाप कभी मिथ्या होनेवाला नहीं हो सकता।

संघर्ष करके उन्होंने विष्णुपार्षदों और इन विराट् बने विष्णुको अधिक क्रुद्ध कर दिया है। दैत्येन्द्रने दानके रूपमें सर्वस्व अर्पण करके इन्हें प्रसन्न भी किया तो इस संघर्षने उस प्रभावको समाप्त कर दिया। अब त्रिविक्रमसे दैत्योंके प्रति किसी सदय व्यवहारकी भी आशा नहीं रही। त्रिलोकी वे अधिकृत कर ही चुके। यही कुशल है कि दैत्येन्द्र बलिने इस अपराधसे उनका त्याग नहीं किया। वे विपत्तिमें अपने लोगोंके साथ हैं। यह सब सोचकर दैत्य मन-ही-मन बलिके प्रति अधिक कृतज्ञ हो उठे और जहाँ, जैसे भी रहना हो, दैत्येन्द्र बलिके साथ ही रहनेको अधिक दृढ़सङ्कल्प हो गये।

'तुम अपनेको बहुत समर्थ मानते थे? तुम्हें बड़ा गर्व था कि तुम त्रिभुवनके स्वामी हो?' अद्‌भुत हैं ये लीलामय भी। करनी है अतिशय दुर्लभ अनुकम्पा और ऊपरसे अत्यन्त कठोर बनकर जैसे कोई अत्यन्त क्रूर हो, बलिपर व्यंग करते बोल रहे थे—'तुम्हारे सामने मैंने तुम्हारी पृथ्वीका पूरा राज्य एक पदमें माप लिया और दूसरे पदसे स्वर्ग तथा ऊपरके सब लोक, जहाँतक तुम्हारे पुण्योंका प्रभाव पहुँच सकता था, मापा है। इसमें तुमको कुछ कहना है?'

बलिने अञ्जलि बाँधकर मस्तक झुकाया। उन्हें भला इसमें क्या कहना हो सकता है। ये उरुक्रम यह नहीं कहते कि इनके दोनों पदोंको पूरा-पूरा स्थान नहीं मिला, यही इनकी कम कृपा नहीं है।

'तुमने मुझे तीन पद पृथ्वी देनेका सङ्कल्प किया है। लाओ तीसरा पद धरनेको स्थान। कहीं कुछ शेष है अभी तुम्हारे पास?' बलिको बोलनेका अवसर दिये बिना वे बोलते गये—'जो याचकको देनेका सङ्कल्प करके उसे नहीं देता, वह स्वर्गमें रहे, यह तो सम्भव नहीं है। उसका अध:पतन होता है। वह नरक जाता है। अपनी सामर्थ्य समझे बिना तुमने मुझे तीन पद पृथ्वी देनेका वचन देकर झूठी प्रतिज्ञा की। तुमने मुझे वञ्चित किया, अतः

उसका फल भोगो। कुछ वर्षोंके लिए नरकमें निवास करके वहाँकी यातना सहो।'

'यह क्या ? हमारे परम सत्यवादी, धर्मात्मा स्वामी नरक जायँगे ?' दैत्योंका मुख सूख गया। उन्होंने अतिशय व्याकुल होकर एक-दूसरेकी ओर और फिर आचार्य शुक्रकी ओर देखा। शुक्राचार्य भी वामनके वचनोंसे चौंक गये। उनसे भी बोला नहीं गया; किन्तु उनका हृदय भी हाहाकार कर उठा—'केवल प्रतिज्ञाकी अपूर्णता ही महत्त्वशाली सिद्ध हुई। इन यज्ञपुरुषको किया गया सर्वस्व समर्पण भी इस अल्प त्रुटिका मार्जक नहीं बन सका ?'

'बलि नरक आवेंगे ?' चौंक तो पड़े संयमिनीके स्वामी यमराज; किन्तु वे महाभागवत हैं। अपने आराध्यका स्वभाव वे भली प्रकार जानते हैं। उन्हें जहाँ यह पता है कि बलिका स्पर्श करनेकी शक्ति उनके किसी नरकमें नहीं, बलि यदि नरक आवें तो नरककी सत्ता ही समाप्त हो जायगी, वहीं उन्हें अपने लीलामय आराध्यका स्वभाव भी अवगत है कि वे चाहें तो भी किसीके प्रति निष्ठुर नहीं हो सकते। वे करुणा-वरुणालय हैं। कृपा करना ही उनका स्वभाव है और अपनाकर त्यागना तो उन्हें आता नहीं है। वे स्वयं चलकर बलिके यहाँ आये तो बलिको अपना चुके। बलि इसे भले समझ न सके हों अभी; किन्तु उनका आसुरभाव टिक कबतक सकता है ? यह उरुक्रम प्रभुका वाग्विलास तो बलिके समर्पणको पूर्ण करानेके लिए है। इन्हें अधूरा लेना आता नहीं है। नहीं लेते तो देनेपर भी लेनेका नाम नहीं लेते और लेने लगे हैं तो बलिका व्यक्तित्व भी लिये बिना मान सकते नहीं हैं।

'आप उत्तम श्लोक हैं। आपको प्राणियोंकी दुर्बलता, अक्षमता, अपराध देखना आता ही नहीं। आप केवल प्राणीके उत्तम कर्म ही देखते हैं और उसके अल्प शुभ कर्म, उसकी तुच्छतम सेवाको भी अत्यधिक मानते हैं।' भगवान उरुक्रमके चुप होते ही बलि बोले—'किन्तु यदि आप मानते हैं कि मेरी वाणी मिथ्या हो गयी है और मैंने आपको वञ्चित किया है तो मैं अपनी वाणीको सत्य करनेको प्रस्तुत हूँ।'

सब दैत्य, शुक्राचार्य, सब देवता और स्वयं सृष्टिकर्ता भी चकित रह

गये । किसीकी समझमें कुछ नहीं आया कि बलि अब अपने वचन कैसे सत्य करेंगे । उनके समीप वामनको तृतीय पाद रखनेको स्थान कहाँ बचा है ।

'भगवन् ! मुझे नरक प्राप्त होगा, इससे मुझे कोई भय या व्याकुलता नहीं है । मेरा यश नष्ट हो जाय, विश्वमें मेरा अपयश हो, इससे भी मैं डरता नहीं ।' बलि स्वस्थ, स्थिर स्वरमें कह रहे थे—'किन्तु किसी ब्राह्मणकी मेरे द्वारा अवमानना हो, कोई अनुभव करे कि वह मेरे द्वारा ठगा गया है, इससे मैं बहुत अधिक उद्विग्न होता हूँ ।'

'तब तुम्हीं बतलाओ कि मैं अपना तीसरा पद कहाँ रखूँ ?' भगवान त्रिविक्रमके अधरोंपर स्मित आया ।

'आप स्वीकार करेंगे कि सम्पत्तिकी अपेक्षा उस सम्पत्तिका स्वामी बड़ा होता है ।' बलिने विनयपूर्वक कहा—'आपने दो पदोंमें जो कुछ मापा है, उसका स्वामी उससे अल्प नहीं माना जाना चाहिये । वह स्वामी तो अभी अवशिष्ट ही है । अतः मैं अपनी प्रतिज्ञा सत्य कर रहा हूँ । आप अपना तृतीय पद मेरे मस्तकपर रखें ।'

'एवमस्तु !' सुप्रसन्न भगवानने कहा । हाथ जोड़कर, मुकुट उतारकर बलिने उनके सामने मस्तक झुका दिया था । भगवान उरुक्रमने अपना दक्षिण चरण उठाया और धीरे-से बलिके मस्तकपर रख दिया ।

परिपूर्ण हो गया बलिका समर्पण । कर्मोपार्जित सर्वस्वका, धर्मसे उपलब्ध ऐश्वर्य एवं लोकोंका समर्पण प्रथम दो पादमें हुआ था और अब कर्ताका—अहमर्थका समर्पण हो गया ।

दानका गृहीता जो दान लेता है, उसपर उसका स्वत्व हो जाता है । बलिके मस्तकपर पद रखकर उन सर्वेश्वरने बलिको स्वीकार कर लिया । बलि अब उनके । सदाके लिए उनके । अपनाकर तो उन्होंने किसीको छोड़ा नहीं है ।

बलिके मस्तकपर उन सर्वेशका श्रीचरण पड़ा । अब उस मस्तकमें राजस-तामस भाव रह सकता है ? बलि अब महाभागवत हो गये । हम कैसे भूल सकते हैं कि धर्मराजके समान ही बलि भी द्वादश भागवताचार्योंमें हैं । उस भगवत्पाद स्पर्शने ही उन्हें भक्ति-तत्त्वका परमाचार्य बना दिया ।

बलि-बन्धन—

असम्पूर्ण किञ्चित भी छोड़ना जिसका स्वभाव नहीं है, उसकी क्रियाका तात्पर्य समझनेमें अनेक बार बड़े बुद्धिमान भी असफल हो जाते हैं। भगवान वामनने बलिसे तीन पद भूमि माँगी थी। दो पदतककी बात तो सीधी है कि वह स्थान है, भले स्वर्गादि ब्रह्मलोक पर्यन्तका स्थान हो। उसे माप लिया गया तो वह मापने वालेका हो गया। अब उसकी इच्छा कि वह उसे किसीको भी दे दे; किन्तु तीसरा पद रखा गया बलिके मस्तकपर। बलिका अपना व्यक्तित्व शेष नहीं रहा, उनको कहीं रखने और उनका कुछ भी करनेका अधिकार अब स्वयं बलिका नहीं बचा, उनके मस्तकपर पद रखनेवालेका हो गया। बलि अब दैत्योंके स्वजन-सुहृद नहीं रहे और न सुरोंके शत्रु रह गये—इसे सबको—दैत्योंको, देवताओंको, सृष्टिकर्ताको और स्वयं बलिको भी स्पष्ट समझा देना आवश्यक था। यह तथ्य केवल कह देनेसे समझमें आ जाय, यह सन्दिग्ध रहता है।

त्रिविक्रम भगवानने संकेत किया। संकेतको समझकर गरुड़ने बलिको वारुण पाशोंसे भली प्रकार बाँध दिया। बलिने इसमें कोई बाधा नहीं दी। जब आत्मार्पण कर चुके तो लेनेवालेकी इच्छा कि उनका और उनके शरीरका वह क्या करता है।

दैत्य बहुत व्याकुल हुए। व्याकुल हुए दैत्यगुरु शुक्राचार्य भी; किन्तु दैत्य पहिले ही पराजित होकर साहस करनेकी स्थितिमें नहीं थे। शुक्राचार्यको कुछ कहनेका कोई अवसर नहीं दीखता था। उनके यजमान बलिने वामनको तीसरा पद अपने मस्तकपर रखनेको आमन्त्रित करके आचार्यको भी चकित, स्तब्ध कर दिया था। शुक्राचार्यको भी लगा कि बलिकी बुद्धि उन्हें भी पराजित कर गयी। बलिकी स्थिरता, दृढ़ताने उन्हें सुप्रसन्न और गौरवान्वित किया; किन्तु जब बलिने स्वयं अपना देह अर्पण किया, वामनका आधिपत्य तो उसपर हो ही गया। किसीको कृपा करनेके लिए विवश तो बनाया नहीं जा सकता।

बलिको बाँधकर वामनने उनपर अपना पूर्ण स्वत्व स्पष्ट कर दिया।

उन्होंने बलिकी महत्ता स्पष्टकी कि शक्र-विजयी, त्रिभुवनेश्वर बलि इतने विनयशील और धर्मनिष्ठ हैं कि अपने वचनोंके कारण पशुकी भाँति बाँधे जानेमें भी उन्हें आपत्ति नहीं है।

बामनने बलिको बाँधकर सबपर—बलिके समस्त स्वजन, सुहृदोंपर स्पष्ट किया कि बलि अब उनके नहीं हैं। बलिपर पूर्ण स्वत्व है वामनका। क्रीत अथवा दान प्राप्त सामग्रीकी भाँति बाँधकर वामनने उनपर अपना पूरा अधिकार कर लिया है। अतः अब बलिका स्थान एवं उपयोग पूर्ण रूपसे वामनकी इच्छा—इङ्गितके आधीन है। बलिने स्वेच्छासे सचमुच अपना सम्पूर्ण व्यक्तित्व वामनके चरणोंमें विसर्जित कर दिया है।

तमिन्द्रसेनः स्वपितामहं श्रिया विराजमानं नलिनायतेक्षणम्।
प्रांशुं पिशंगाम्बरमञ्जनत्विषं प्रलम्बबाहुं सुभगं समैक्षत ॥
भागवत ८.२२.१३

इसी समय इन्द्रसेन बलिने देखा कि वहाँ उसके पितामह प्रह्लादजी आ गये हैं। प्रह्लाद अत्यन्त शोभा सम्पन्न हैं। उनका कमल मुख उत्फुल्ल है। वे प्रलम्बकाय, कज्जल वर्ण, पीताम्वर परिधान, विशाल बाहु एवं अलंकारालंकृत ऐश्वर्य सम्पन्न दीख रहे हैं।

प्रह्लादजीके मुखपर पौत्रको बन्धनमें देखकर भी कोई खेद, दुःखकी रेखा नहीं है। बलि अपने पितामहका अत्यधिक सम्मान करते थे। जब कभी प्रह्लाद सम्मुख आते, बलि उनका केवल अभिवादन ही नहीं करते थे, उनकी भली प्रकार पूजा करते थे; किन्तु आज ऐसा अवसर था कि पूजा-अर्चाकी तो बात दूरे, अब वे अपने पितामहका पादाभिवन्दन करनेको भी स्वतन्त्र नहीं थे उनका अपना स्वतन्त्र कोई व्यक्तित्व नहीं था। अब उनका शरीर ही वन्धनमें नहीं था, उनका सम्पूर्ण अन्तर वामनके बन्धनमें था—वामनका था। अब उनका अपना कर्तव्य क्या ? अतः उन्होंने प्रह्लादजी को देखकर मुख नीचे कर लिया।

प्रह्लादजी किसी अन्य लोकसे नहीं आये थे। वे उसी यज्ञ स्थलीमें ही अपने आवासमें रहते थे। उन्हें वामनके आगमनसे अबतकका सब कुछ ज्ञात था; किन्तु अबतक उन्होंने वहाँ उपस्थित होना उचित नहीं माना था।

उनके आराध्य दयामय हैं और लीलामय हैं। उनकी लीला कुछ भी हो, उससे प्राणीका सदा मंगल ही होता है, अत: उनके पौत्रका मंगल सुनिश्चित है। प्रभुकी लीलामें उनकी उपस्थिति संकोचका कारण बन सकती है। वे भक्तवत्सल अपनोंका अतिशय संकोच करते हैं। यह सोचकर प्रह्लादजी यज्ञमण्डपमें अबतक आये ही नहीं थे।

वामन भगवान त्रिविक्रम बने, बलिका सर्वस्व उन्होंने माप लिया। बलिके मस्तकपर चरण रखा उन्होंने, इस समाचारने प्रह्लादजीको उत्सुक बनाया। इतना कृपाप्रसाद तो उन्हें भी नहीं मिला है। उनके मस्तकपर भी भगवान नृसिंहने अपना कर ही रखा था। पौत्र इतना सौभाग्यशाली हो गया, अत: उसे और उसपर यह अभूतपूर्व कृपा करनेवाले प्रभुका दर्शन करने प्रह्लादजी पधारे थे।

प्रह्लादने एक दृष्टि डाली पौत्रपर और उरुक्रम भगवानके चरणोंमें प्रणिपात किया। लगा, प्रभु कुछ संकुचित हो रहे हैं, अत: हाथ जोड़कर बोले—'दयाधाम ! आपने ही इसे सुप्रसन्न इन्द्रपद दिया था। यह तो इसकी अज्ञता थी कि यह उसे अपनी उपलब्धि मानता था; किन्तु अब आपने इसपर अत्यधिक अनुग्रह किया है, वह पद एवं ऐश्वर्य इससे छीनकर। क्योंकि यह ऐश्वर्य तो इसे सम्मोहित करके आपके चरणोंसे दूर ले जा रहा था। आपने इसे इस प्रकार अपने श्रीचरणोंमें स्वीकार कर लिया है, इसके इस सौभाग्यकी समता नहीं है। मुझे इससे स्पृहा है। इसके कारण मैं अपनेको गौरवशाली अनुभव करता हूँ।'

बलिकी पतिप्राणा पत्नी विन्ध्यावलीको अबतक की घटनाओंने स्तब्ध वना दिया था। वह संकुचित, भीत, जड़ प्राय हो गयी थी। वामन भूमि-दानका संकल्प लेते ही त्रिविक्रम बन गये और दो पदमें त्रिलोकी मापकर बलिकी भर्त्सना करने लगे। बलिके आत्मसमर्पणसे भी वे प्रसन्न नहीं हुए लगते थे। यदि दैत्योंने औधत्य दिखलाया, अस्त्र उठाया तो उसमें दैत्येन्द्रका तो कोई दोष नहीं था; किन्तु वामन तीसरा पद मस्तकपर रखकर भी रुष्ट ही लगते थे। उन्होंने दैत्येश्वरको बाँध लिया था विन्ध्यावलीमें इतने क्रोधसे बोलनेका साहस नहीं रहा था।

प्रह्लादजी आये आये तो विन्ध्यावलीको आश्वासन मिला। उन

कुलवृद्धकी उपस्थितिसे उसका साहस लौटा। प्रह्लादने त्रिविक्रमकी प्रार्थनाकी तो उसे प्रार्थना करनेकी प्रेरणा मिली। वह भी हाथ जोड़कर मस्तक झुकाये खड़ी हो गयी।

'सर्वेश्वर ! सर्वलोकनाथ ! यह त्रिलोकी आपकी ही है। आपने ही इसका निर्माण अपनी क्रीड़ाके लिए किया। मेरे स्वामी दुर्बुद्धिवश इसे अपनी मानने लगे और आपको अपना शत्रु समझने लगे। आपने अपनी वस्तु ही स्वीकार की है। यह तो आपकी उदारता है कि इसे इन दैत्येश्वरका दान मानते हैं।' विन्ध्यावली प्रार्थना कर रही थी—'लेकिन दयाधाम ! अब तो आपने इनके अपराध विस्मृत करके इन्हें अपने श्रीचरणोंमें ले लिया है; परन्तु आपने यह आधा अर्पण क्यों लिया है ? इस किंकरीको भी इनके साथ अपने चरणोंमें स्वीकार करके अपना अपनाना पूर्ण कीजिये।'

ब्रह्माजी भगवान उरुक्रमके अपने लोकमें पहुँचे चरणका पूजन करके अभी पादोदक भी भली प्रकार मस्तकपर नहीं चढ़ा सके थे कि वह चरण तो वहाँसे नीचे आ ही गया, उनका सम्पूर्ण लोक, उनका आसनभूत लोकपद्म काँपने लगा। व्याकुल ब्रह्माजी हंसपर बैठकर बलिकी यज्ञशालाकी ओर लपके और हंस गगनमें ही छोड़कर यज्ञशालामें आ गये। बलिको बन्धनमें देखते ही उन्हें अपने लोकके कम्पनका कारण ज्ञात हो गया। वे अपने आठों हाथोंकी अञ्जलि बाँधकर भगवान त्रिविक्रमकी स्तुति करने ही जा रहे थे, तभी विन्ध्यावलीने स्तवन प्रारम्भ कर दिया। उसने ब्रह्माजीको देखा ही नहीं था।

भगवानको अवसर मिला होता तो अवश्य वे प्रह्लादको ही आश्वस्त कर देते; किन्तु प्रह्लादके चुप होते ही विन्ध्यावलीने स्तुति प्रारम्भ कर दी थी और वह जैसे ही मौन हुई, ये चतुर्मुख लोकपितामह सम्मुख आ खड़े हुए। अतः अब पहिले इन सृष्टिकर्ताकी बात सुन लेना आवश्यक हो गया।

'विश्वेश ! इस बलिको अविलम्ब पाशमुक्त कीजिये !' ब्रह्माजी इतने व्याकुल आये थे कि बिना किसी भूमिकाके सीधे ही मूल बातपर आ गये थे—'इसके बन्धनके कारण सम्पूर्ण सृष्टि अस्त-व्यस्त हो रही है। मेरा अपना लोक सुस्थिर नहीं हो पा रहा है। धर्मका गौरव सुरक्षित नहीं रहेगा तो सृष्टि बनी नहीं रह सकती। बलि धर्मकी मूर्ति हैं। इनका त्याग अश्रुतपूर्व

है।' शुक्राचार्यके कानोंमें जैसे सृष्टिकर्ताकी वाणी अमृत उड़ेल रही थी। उनके यजमानकी प्रशंसा स्वयं सृष्टि-सञ्चालक कर रहे थे।

आपके श्रीचरणोंमें केवल दो दूर्वांकुर और एक चुल्लु जल श्रद्धा सहित अर्पित करनेवाला, इस अत्यन्त तुच्छ अर्चासे भी उत्तम गति प्राप्त कर लेता है।' ब्रह्माजी अपनी व्याकुलताका कारण स्पष्ट कर रहे थे—'इस महामनस्वीने तो बिना तनिक भी विचलित हुए प्रसन्न मनसे सम्पूर्ण त्रिलोकी, अपने पराक्रम और धर्मसे अर्जित सब ऐश्वर्य एवं उत्तम लोक अर्पित कर दिये हैं। ऐसी अवस्थामें इसे आपत्ति-बन्धन कैसे मिल सकता है। इसे क्लेश हो तो दानकी, आतिथ्यकी, ब्राह्मणोंके सत्कारकी और आपके अर्चनकी महिमा बची रहेगी? और यह महिमा ही न रह जाय तो त्रिलोकी सुरक्षित रहेगी? अतः आप इसे अविलम्ब पाशमुक्त करें।'

'सृष्टिकर्ताकी सम्मतिका सम्मान किया ही जाना चाहिये।' अब भगवान वामनका श्रीमुख हास्यसे प्रसन्न हुआ। उनके संकेतसे गरुड़ने बलिको वारुणपाशसे मुक्त कर दिया। लेकिन बलि वैसे ही भगवान उरुक्रमके श्रीचरणोंके समीप शान्त स्थिर पड़े रहे—जैसे उन्हें पता ही न हो कि उनको बन्धनमुक्त कर दिया गया है। उनका शरीर बन्धनमें रहे या न रहे, वे अपने आपको अर्पण कर चुके हैं। अब उनको न अपनी ओरसे कुछ सोचना है, न कहना है और न करना है। ये उरुक्रम उनके शरीर, मन, प्राण, जीवनके स्वामी। अब तो यही कहें तो बलि हिलें-उठें या कुछ करें।

बलिको वारुणपाशोंसे मुक्त कर दिया गया, इस स्थितिने ब्रह्माजीको आश्वस्त किया। आश्वस्त किया विन्ध्यावलीको। उस पतिव्रताको पतिको बन्धनमें पड़ा देखकर कितनी मर्मान्तक व्यथा हो रही थी, वर्णनसे बाहर है। वहाँ ब्रह्माजी, प्रह्लादजी, भगवान उरुक्रम न होते तो शुक्राचार्यकी उपस्थितिकी भी उपेक्षा करके वह महाभागा प्रेममयी पतिके समीप पहुँच गयी होती और अवसन्न पड़े पतिके शरीरको संवाहन करती। उसे लग रहा था कि इतनी देर कठोर पाशोंमें दृढ़तासे जकड़े रहनेके कारण ही बलि हिल नहीं पा रहे हैं। लेकिन उपस्थित गुरुजनोंका संकोच उसे भी कुछ नरने नहीं दे रहा था।

बलिके पाशमुक्त होनेसे शुक्राचार्य भी आश्वस्त हुए। अब बलिको

भगवान उरुक्रम नरकमें डाल देंगे, ऐसी कोई आशंका नहीं रह गयी। विन्ध्यावलीकी दृष्टि तो अपने पतिपर लगी थी। प्रह्लादजीको आशंका हुई ही नहीं थी। वे जानते हैं—आश्वस्त हैं कि उनके आराध्य कठोर होनेका नाट्य भले कर लें; किन्तु उनमें कठोरता है ही नहीं। वे किसीके प्रति भी कठोर नहीं हो सकते। अतः प्रह्लादकी दृष्टि सम्मुख स्थित भगवानके श्रीचरणोंपर लगी थी। वे उन चरणोंके दर्शनमें ही तन्मय थे।

शुक्राचार्य अवश्य अपने यजमान बलिके लिए अत्यधिक चिन्तित थे। वे बार-बार उरुक्रमके मुखको देखते थे। अबतक उन प्रभुके मुखपर रूक्षता लगी थी उन्हें; किन्तु ब्रह्माजीकी प्रार्थना सुनकर वे हँस उठे। बलिको पाशमुक्त करा दिया था उन्होंने। उनका हास्य शुक्राचार्यको ऐसा लगा जैसे अगतक जो रूक्षता, कठोरता मुखपर थी, वह सप्रयत्न बनाये रहे हों। अब उसे त्यागनेमें उन्हें भी प्रसन्नता हुई हो। शुक्राचार्य सन्तुष्ट हो गये कि उनके यजमानको अब इन प्रभुका प्रसाद प्राप्त होगा।

'ब्रह्माजी ! जिसपर मैं अनुग्रह करता हूँ, उसके वैभवको विध्वस्त कर देता हूँ। क्योंकि वैभवके मदसे मत्त पुरुष लोगोंका और मेरा भी अपमान करता है।' अब भगवान त्रिविक्रम बोले—'जीव इसमें समर्थ नहीं है कि वह किस योनिमें जन्म लेगा। अपने कर्मानुसार नाना देहोंको धारण करता जब कभी उसे पुरुष शरीर मिलता है। पुरुष शरीर प्राप्त करके यदि उसे अपने उच्च कुलमें जन्म, अपने उत्तम कर्म, युवावस्था, रूप, विद्या, वैभव अथवा धन आदिको पाकर अभिमान न हो तो समझिये कि उसपर मेरा अनुग्रह है।'

'यह बलि दैत्य-दानवोंका अग्रणी है। अपने कुलकी कीर्ति बढ़ायी है इसने।' भगवानने स्पष्ट कर दिया कि बलिको उच्च कुलका जन्म, प्रतिष्ठ, वैभवादि सब प्राप्त थे; किन्तु इसपर मेरा अनुग्रह आरम्भसे है, अतः कष्ट पाकर भी यह मोहमें नहीं पड़ता है। इसका धन नष्ट हो गया, अपने स्थानसे च्युत कर दिया गया, मैं शत्रु बनकर आया और मैंने इसपर आक्षेप किया, इसे बाँध लिया, इसके गुरुने इसकी भर्त्सना की, इसे शाप दिया; किन्तु इस दृढ़व्रतीने सत्यका त्याग नहीं किया। मैंने तो छलपूर्वक इसे धर्म करनेको प्रोत्साहित किया था; किन्तु इस सत्यवादीने धर्मका त्याग नहीं किया। तब धर्म इसे कैसे छोड़ देगा ? जिसके साथ धर्म है, मैं उसका साथ छोड़ सकता हूँ ?'

'प्रजेश्वर ! अभिमानका कारण जन्मादि सब होनेपर भी जो मेरे परायण हैं, वे जानते हैं कि गर्व समस्त शुभ स्थितियोंका शत्रु है, अतः वे मोहमें नहीं पड़ते।' स्नेह विभोर हुआ उनपर परमपुरुषका स्वर—'इस बलिको इसके जातिके अधिकांश दैत्योंने त्याग दिया, इसे बन्धनकी यातना दी गयी; किन्तु यह धर्मपर दृढ़ है। अतएव इसने तो मेरी अजेय मायाको जीत लिया है। अब देवताओंके लिए भी दुष्प्राप्य मेरा स्थान मैं इसे दे रहा हूँ।'

'यह शतक्रतु तो हो चुका है।' ब्रह्माजीको अपने विधानकी चिन्ता होनी ही चाहिये। जो सौ अश्वमेध यज्ञ कर चुका, इन्द्रपद उसका स्वत्व हो गया। उससे भी उत्तम स्थान भले दे दिया जाय; किन्तु उससे विधानकी रक्षा तो नहीं हुई। लेकिन ब्रह्माजी इन सर्वेश्वरको आदेश तो दे नहीं सकते। केवल संकेत ही कर सकते हैं।

'आप अपने विधानको रक्षित पावेंगे।' भगवानने सृष्टिकर्ताको आश्वासन दिया—'बलि मेरे आश्रयसे सावर्णि मन्वन्तरमें इन्द्रपद प्राप्त करेंगे। तबतक ये विश्वकर्माके द्वारा निर्मित सुतलको शोभित करें। वहाँ आधि (मानसिक चिन्ता), व्याधि (शारीरिक रोग), भ्रान्ति, तन्द्रा और पराजयका प्रवेश नहीं होगा। क्योंकि वहाँ मेरी स्नेह-दृष्टि सदा बलिपर रहेगी।'

'महाराज इन्द्रसेन ! आपका कल्याण हो !' अब प्रभुने बलिको सम्बोधित किया—'उठिये और अपने परिवार तथा जातिके लोगोंके साथ सुतल जाइये। स्वर्गमें रहनेपर भी सुरगण सुतल पानेको लालायित रहते हैं। वहाँ सुतलमें लोकेश भी आपका अभिभव नहीं कर सकेंगे, दूसरोंका तो साहस ही सम्भव नहीं। वहाँ आपको कोई चिन्ता नहीं करनी है। आपके आदेशकी अवज्ञा करनेवाले दैत्योंको मेरा चक्र मार दिया करेगा। मैं वहाँ आपकी, आपके परिवारकी परिकर सहित सदा, सब ओरसे रक्षा करूँगा। वहाँ तुम सदा मुझे अपने समीप देखोगे। आश्चर्य मत करो और चौंको मत। तुममें दैत्य-दानवोंके संगसे जो आसुरभाव आ गया है, वह तो अभी कुंठित हो चुका है। मेरे प्रभावको देखकर वह अनन्तः नष्ट हो जायगा।'

ब्रह्माजीने पुनः प्रणाम किया। इन अनन्त करुणावरुणालयका कृपा

पारावार उमड़ता है तो उसकी कहीं सीमा नहीं रहती। इस अनुकम्पाकी कल्पना भी कोई कैसे कर सकता था। सृष्टिकर्ताको अब कुछ कहना नहीं था। उनका अब यहाँ कोई प्रयोजन नहीं था। अम्बरमें उठकर अपने हंस पर आरूढ़ हुए और ब्रह्मलोक चले गये।

बलि असुर थे। वे स्वयं दैत्य वंशमें उत्पन्न हुए थे और माता दिति तथा दनुकी सन्तानोंका ही उनका संग था। अमृत-मन्थनके समय असुरोंके अग्रणी रूपमें ही उन्होंने सुरोंसे सहयोग किया था; किन्तु उसके पश्चात् तो सुरोंसे शत्रुता बढ़ती ही गयी थी। देवासुर संग्राममें विष्णुने सुरोंका साथ दिया था। विष्णुने ही मोहिनी रूप धारण करके असुरोंको अमृतपानसे वंचित किया था। अतः असुरोंके शत्रु सुर तथा शक्रके समर्थक विष्णु असुरोंके शत्रु हैं, यह बलिका निश्चय था।

वही विष्णु देवमाता अदितिके पुत्र होकर उत्पन्न हुए। वामन रूप धारण करके बलिकी यज्ञशालामें याचक बनकर पधारे। बलि असावधान नहीं थे और न वामनका अभिप्राय उन्हें अज्ञात था। वामनमें उनकी श्रद्धा भी नहीं हो गयी थी; किन्तु उन महामनस्वीने भूमिदान किया।

वामनने बलिका सर्वस्व हरण कर लिया। बलिको बाँध दिया। तब तक भी बलि अपनेको विष्णुका शत्रु ही मानते थे। 'शत्रु जब ब्राह्मण याचक बनकर आया तो उसे अपना शरीर भी दे देनेमें हिचक कैसी ?' यह बलिकी धारणा और उन्होंने इसी भावसे मस्तक आगे बढ़ाया था पद रखनेको। वे वामनके प्रति समर्पित होकर भी उन त्रिविक्रमको शत्रु ही मानते रहे थे; किन्तु अपने समर्पणके प्रति सच्चे थे। इसीसे बन्धन-मुक्त किये जानेपर भी हिले नहीं थे।

बलि अपने पितामह प्रह्लादका बहुत अधिक आदर करते थे। प्रह्लाद परम भागवत, बलिने जब श्रीहरिको अवमाननाके शब्द कहे थे तो उन्हें असह्य हो गये थे। बलिको उन्होंने शाप तक दे डाला। अतः अपने पितामहके संकोचके कारण बलि सुर एवं शक्रके समर्थक विष्णुको शत्रु मानकर भी उनका कोई विरोध नहीं करते थे।

प्रह्लादने आकर भगवान त्रिविक्रमकी प्रार्थना की, इसका बलिपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। प्रह्लादजीके लिए तो ऐसा करना स्वाभाविक था। बलि पहली बार विचलित हुए, जब उनकी पतिपरायणा पत्नीने उरुक्रम भगवानकी स्तुति की। विन्ध्यावली अत्यन्त बद्धिमान है, स्वाभिमानिनी दानव कुल-कन्या है। उसमें भय और चाटुकारिताका संस्पर्श सम्भव नहीं और वह त्रिविक्रमको त्रिभुवनेश्वर कहती है। बलिने त्रिलोकीको अपनी माना, इसे कुबुद्धि घोषित करती है उनके सामने ही तो बात निर्मूल नहीं है।

बलि ही नहीं, सम्पूर्ण दैत्यकुल प्रह्लादके अतिरिक्त ब्रह्माजीको सबसे बड़ा मानता रहा। हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष ब्रह्माके वरदानसे ही अजेय हुए थे और वे सृष्टिकर्ता स्वयं दौड़े आये। वे अंजलि बाँधकर भगवान त्रिविक्रमका स्तवन करते रहे। वे बलिको बन्धनसे छुड़ा नहीं सकते थे, केवल प्रार्थना कर सकते थे छोड़ देनेकी। बलिको इस स्थितिने भगवान विष्णुका स्वरूप बहुत कुछ समझा दिया।

'आपके चरणोंमें दूर्वांकुर और एक चुल्लू जल अर्पण करके प्राणी उत्तम गति प्राप्त कर लेता है।' सृष्टिकर्ताके इन वचनोंने बलिके अन्तःकरणको हिलाकर रख दिया था। इतने महान और ऐसे उदार सर्वेश विष्णु! तब दैत्यकुल आरम्भसे ही अपने अहंकारके कारण अज्ञ बना रहा? केवल पितामह प्रह्लादजी इस कुलमें वास्तविक प्रज्ञावान हैं?

यह अन्तर्द्वन्द्व अभी पूरा भी नहीं हुआ था कि भगवान उरुक्रम बलिको सम्बोधित करने लगे थे। इन उदार चक्र-चूड़ामणि अनन्त कृपा पारावारकी यह अचिन्त्य, अश्रुतपूर्व अकूल कृपा—बलिका आसुर भाव विजड़ित हुआ या विलुप्त हो गया, कहना कठिन है। बलिका अन्तःकरण सम्पूर्ण विगलित हो गया? बलिको प्रभुकी अपूर्व कृपापूर्ण वाणीने सर्वथा परिवर्तित कर दिया।

बलि अपनेको, अपनी स्थितिको, अपने समर्पणकी भी कुछ महत्ता है, इसे भी सर्वथा भूल गये। उनके बद्धाञ्जलि, सुरजयी कर काँपने लगे। उनके नेत्रोंसे वारिधारा चलने लगी। उनका कण्ठ इतना अवरुद्ध हो गया था कि कठिनाईसे वे कुछ वाक्य कह सके।

'करुणासिन्धु ! आपके श्रीचरणोंमें तो मैं समुचित प्रणाम भी नहीं कर सका। केवल प्रणामका प्रयत्न मैंने किया; किन्तु अपने शरणागतके संरक्षणके लिए इतने सावधान, इतने एकाग्र उत्सुक रहते हैं कि आपका जो अनुग्रह लोकपालों और अमरोंको कभी उपलब्ध नहीं हुआ, वह आपने मुझ अधम असुरपर किया !'

पौत्रके इन शब्दोंने प्रह्लादको सुप्रसन्न कर दिया। ये सर्वेश्वर तो उनके अपने हैं। इस अनुग्रहके अभूतपूर्व अवसरपर प्रह्लादजी भक्ति-विभोर बोले—'आपके इन श्रीचरणोंकी वन्दना विश्ववन्दित भी विनम्र होकर करते हैं और आप हम असुरोंके दुर्गपाल बन गये। प्रभो ! आपकी ऐसी कृपा तो कभी सृष्टिकर्ता ब्रह्माजीको, जो आपके साक्षात् पुत्र हैं, आपकी वक्षोवासिनी अर्धांगिनी लक्ष्मीको और आपके आत्मस्वरूप शंकरजीको भी कभी प्राप्त नहीं हुई। दूसरे किसीको ऐसी कृपा तो प्राप्त ही कैसे हो सकती है।'

'दूसरोंको शरण देनेवाले ब्रह्मादिको भी उनका वैभव आपके श्रीचरणोंकी सेवासे ही प्राप्त हुआ है; किन्तु हम जन्मसे खल असुर, उग्रकर्मा लोगोंको आपने इतनी अनुकूल दृष्टिका अधिकारी कैसे बना लिया, यही आश्चर्य है।' प्रह्लादजी कह रहे थे—'आप लीलामय हैं। यह सम्पूर्ण सृष्टि आपकी लीला ही है। परन्तु आपकी यह लीलामय चेष्टा अत्यद्भुत है। आप सर्वात्मा हैं, समदर्शी हैं और फिर भी विषम स्वभाव भक्तवत्सल हैं। कल्पवृक्षके समान शरणागतकी सर्वप्रकारसे वाञ्छापूर्ति आपका स्वभाव है।'

'वत्स प्रह्लाद ! तुम्हारा कल्याण हो।' भगवानने बड़े स्नेहसे कहा—'अब तुम भी सुतल चले जाओ और वहाँ अपने इस पौत्रको सेवाका सौभाग्य दो। इसे प्रसन्नता होगी तुम्हारी सेवा करके और तुम्हें भी आनन्द मिलेगा। अपने सजातीय लोगोंको भी सुखी करो वहाँ रहकर।'

'तुम वहाँ मुझे सदा गदापाणि बलिके बहिर्द्वारपर उपस्थित देखोगे।' प्रह्लादको सुतल जानेके आदेशने कुछ उत्साहित नहीं किया है, वे दैत्योंके मध्य रहनेको उत्सुक नहीं हैं, यह देखकर भगवानने उन्हें अपने सान्निध्यका आश्वासन दिया—'मेरे दर्शनसे तुम्हें वहाँ परम प्रसन्नता प्राप्त होगी और यदि वहाँ कुछ करोगे भी तो उस कर्मका तुम्हें कोई बन्धन नहीं होगा। वह तो मेरे दर्शनसे ही ध्वस्त हो जायगा।'

'ओह ! अपने आश्रितोंका इतना ध्यान और कोई रख नहीं सकता। अपनाकर पूर्णतः सम्हालना तो इन दयामयको ही आता है।' बलि अत्यन्त विह्वल हो उठे थे। उन्हें यही संकोच था कि उनके पितामह अब इस यज्ञशालासे ही उनसे पृथक हो जायेंगे। वे दैत्योंके परिसरमें रहना चाहते नहीं, इसीलिए उनका निवास जम्बूद्वीपके हरिवर्षमें है। यहाँ तो बलिके विशेष आग्रहसे यज्ञोंके समयतकके लिए आये थे।

सुरोंके लिए भी दुर्लभ सुतल लोक मिला। वहाँ भी भगवान वामनके नित्य सान्निध्यका वरदान मिला। सब सुख-सुविधा और सुरक्षाकी कोई चिन्ता नहीं। यह सब मिलाकर भी पितामहकी सेवा न मिले तो किस कामका ? बलिको आज अभी ही तो अपने पितामहके पूरे प्रभाव, वास्तविक प्रज्ञाका बोध हुआ है। आज ही उन्होंने ठीक पहिचाना उन्हें और आज ही उनसे पृथक होना पड़ेगा ?

बलिको आशा नहीं थी कि प्रह्लादजी सुतलमें साथ रहनेकी उनकी प्रार्थना स्वीकार कर लेंगे। लेकिन आज जो बलिको अपना बनाकर सम्मुख उपस्थित हैं, वे अन्तर्यामी भी तो हैं। उन्होंने कहाँ कभी अपनोंसे प्रार्थनाकी अपेक्षा की है। उन्होंने प्रह्लादको पौत्रके साथ सुतल रहनेका आदेश देकर बलिको पूर्णकाम कर दिया। बलि तो अब सर्वथा उनके ही हो गये हैं।

सुतल-साम्राज्य–

'आचार्य आपके इस शिष्यके अन्तिम अश्वमेध यज्ञमें मैं विघ्न बनकर ही आया था।' अब भगवान वामनने एक ओर बैठे, अपनी ही ओर दृष्टि लगाये शुक्राचार्यको सम्बोधित किया—'मेरे आनेसे और मैंने यहाँ जो कुछ किया उससे यज्ञीय आवश्यक कालका अतिक्रम हुआ। लेकिन वैदिक कर्ममें कोई वैषम्य (किसी असावधानीसे) आ भी जाय (और विधि-भंग न हो) तो वह ब्राह्मणोंके दृष्टि-निक्षेपसे (ब्राह्मण उसे देख लें तो प्रतिकार प्रायश्चित करा देते हैं, इससे) दूर हो जाता है। अभी यज्ञकी पूर्णाहुति भी नहीं हुई है। अतः आप यजमानसे वैषम्य-दोष दूर कराके यज्ञपूर्ति करावें।'

भले स्वयं सृष्टिकर्ताने स्वीकार कर लिया है कि बलिका यह यज्ञ पूर्ण हो गया है; किन्तु जब बलिको आगामी मन्वन्तरमें इन्द्र बनाना है तो उन्हें शतक्रतु पूर्णतः बना दिया जाना चाहिये। बलि निन्यानवे अश्वमेध यज्ञ तो पूर्ण कर ही चुके थे। यह अन्तिम अश्वमेध यज्ञ ब्रह्माजीकी स्वीकृतिसे पूर्ण माना गया, यह विकल्प भी क्यों स्वीकार किया जाय। यह यज्ञका अश्व लौट आया ही है। यज्ञकी पूर्णाहुति मात्र शेष है। भगवान वामन इसे भी सविधि पूरी करा देना चाहते हैं।

'बलिके इस यज्ञमें वैषम्य और अपूर्णत्व? लीलामय! अब इस एकाक्ष ब्राह्मणको ठगो तो मत! आपने इसके यजमानको ठगनेका प्रयत्न किया और स्वयं ठगे गये। अब मुझसे तो अपनी माया दूर रखो।' शुक्राचार्यने दोनों हाथ जोड़े—'आप ही यज्ञेश और यज्ञपुरुष हैं। जिस यज्ञमें यजमानने सर्वभावसे आपकी अर्चा करके आपका अनुग्रह पाया, उस यज्ञमें वैषम्य कैसा? बलिके इस यज्ञके समान पूर्ण यज्ञ तो सृष्टिमें कदाचित् ही होता है।'

'वैदिक यज्ञोंमें मन्त्रोच्चारमें स्वरच्युति या वर्णच्युतिसे, क्रियामें अथवा सामग्रीमें कोई त्रुटि रहनेसे, यज्ञके स्थानके सदोष होनेसे, यज्ञीय मुहूर्त सम्यक् शुद्ध न होनेसे, यज्ञकर्ता ब्राह्मणोंमें कोई दोष होनेसे अथवा किसी पदार्थके सदोष होनेसे जो छिद्र-दोष आते हैं, उन सबको आपके नामोंका

संकीर्तन निश्छिद्र-निर्दोष कर देता है।' आचार्य शुक्रने कहा—'इस यज्ञमें आप पधारे उसी क्षण यज्ञ पूर्ण हो गया। कुछ दोष मेरे प्रमादसे आये भी हों तो उसे आपकी उपस्थितिने दूर कर दिया। अतः यज्ञ न अपूर्ण है, न इसमें कहीं कोई छिद्र शेष रहा है।'

'आवश्यकता हो या न हो, मुझे आपकी आज्ञाका पालन करना चाहिए। मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा; क्योंकि आपकी आज्ञाके पालनमें ही पुरुषका परम कल्याण है।' शुक्राचार्यने तत्काल आवश्यक कर्म प्रारम्भ कर दिये। बलिको आदेश किया—'बलि! आकर अपने आसनपर पत्नीके साथ बैठो। मुझे और तुमको भी इन सर्वेश्वरकी आज्ञाका पालन करना है।' शुक्राचार्यने सविधि यज्ञको पूर्ण कराया। पूर्णाहुतिके अनन्तर सब ऋषियों एवं प्रह्लादके साथ सबने नर्मदामें अवभृथ स्नान किया।

'आचार्य! अब आप भी अपने यजमानके साथ सुतल पधारें।' अन्तमें वामन भगवानने शुक्राचार्यको भी आदेश किया।

अबतक आचार्य शुक्रने तो सोचा ही नहीं था कि वे इस यज्ञशालाका कार्य समाप्त होनेपर कहाँ जायँगे। स्वर्ग तो अब पुनः सुरोंका हो जाना था और बलि तथा दैत्योंको सुतलके स्वर्गाधिक सुखद लोककी प्राप्तिके साथ भगवान वामनका संरक्षण प्राप्त हो गया था। अब बलि वामनके अनुगत थे। वामन अदितिपुत्र हैं, अतः सहज ही बलिका पौरोहित्य वे वृहस्पति अथवा उनके भी पिता अंगिरा को प्रदान कर सकते हैं। शुक्राचार्यने वामनके भूमि-दानमें बाधा डाली थी। अतः वामनकी सहानुभूति पानेकी आशा उन्हें नहीं थी। लेकिन शुक्राचार्य ब्राह्मण—सन्तोषके धनी ब्राह्मण हैं। उनके समीप संजीवनी जैसी विद्या है। अतः उन्हें अपने सम्बन्धमें चिन्ता कभी नहीं होती। अवश्य अव भगवानके आदेशसे वे चौंके भी और श्रद्धाविभोर भी हुए। वामन सर्वेश हैं, ब्रह्मण्यदेव हैं तो किसीको भी विस्मृत कैसे कर सकते हैं।

'आपने इस एकाक्ष विप्रको भी अपने श्रीचरणोंके सान्निध्यमें रहनेका सौभाग्य दिया।' शुक्राचार्य गद्‌गद कण्ठ बोले—'इसकी विरूपता, इसके अपराधपर दृष्टि ही नहीं डाली। नहीं देखा कि यह असुरगुरु अनधिकारी है, यह तो आपका सदासे स्वभाव है। आपकी आज्ञाका पालन करते मेरे

अन्तःकरणमें भी आपके श्रीचरणोंके प्रति अनुराग उत्पन्न हो, ऐसी अनुकम्पा करें।'

भगवान वामनकी आज्ञासे आचार्य शुक्र एवं पितामह प्रह्लादको आगे करके बलि अपने परिवार तथा परिजन, सेवकोंके साथ सुतल चले गये। केवल बलिका पुत्र वाण पृथ्वीपर अपने शोणितपुरमें बना रहा। वह भगवान शिवकी सेवा और उनके सान्निध्यको त्यागकर पिताके स्वर्गाधिप होनेपर जैसे वहाँ नहीं गया था, वैसे ही बलिके यज्ञमें भी उपस्थित नहीं हुआ था।

भगवान शशांकशेखरसे संरक्षित वाणके लिए सुरोंसे कोई भय नहीं था। अतः बलि भी पुत्रकी ओरसे निश्चिन्त थे। सहस्रभुज वाणमें स्वर्गके आधिपत्यकी अथवा सुरोंके साथ संग्राम करनेकी कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं थी। सुरोंमें सभी उसे अपनेसे हीनबल लगते थे और हीनबल शत्रुसे संग्राम उसे अत्यन्त अप्रिय था। इसलिए भगवान वामनको भी न उसकी ओरसे कोई आशंका थी, न उसको संरक्षणकी आवश्यकता थी। दैत्यकुलमें-से केवल वही पृथ्वीपर उस समय रह गया।

बलिको भगवान वामनने सुतलका साम्राज्य दिया। यह सुतल कहाँ है? कैसा है? इस सम्बन्धमें यहीं विचार कर लेना उत्तम है।

'प्रविवेश महाबिलम्। —भागवत ८.२३.१२

बलिने सब स्वजनोंके साथ उस महाबिल (सुतल)में प्रवेश किया।

'अवनेरत्यधस्तात् सप्तभूविवरा·······अतलं वितलं सुतलं, तलातलं महातलं रसातलं पातालमिति।' —भागवत ५ २४.७

यहींपर आगे कहा गया—**'एतेषु हि बिलस्वर्गेषु**········।'

इन वर्णनोंसे लगता है कि ये अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल पृथ्वीके भीतरके लोक हैं। पृथ्वीके भीतर होनेसे इन्हें बिल कहा गया है।

यद्यपि पृथ्वीका विस्तार वहाँ तक भागवतने माना है, जहाँ तक चन्द्रमा और सूर्यकी किरणें जाती हैं तथा जहाँ तक पार्थिव तत्व (मिट्टी) हैं; किन्तु यहाँ इन अधोलोकोंके वर्णनमें पहिले जहाँ तक बाज, गीध आदि पक्षी उड़कर पहुँच पाते हैं, उस आकाशके भागको भी पृथ्वी गिना है।

'इयं पृथिवी यावद् हंसभासश्येनसुपर्णादयः पतत्त्रिप्रवरा उत्पतन्ति ।' ५.२४.६

'अवनेरत्यधस्तात् सप्तभूविवरा ।' (मा. ५. २४. ७) यह वर्णन सूचित करता है कि यहाँ इस हमारी ठोस पृथ्वीके भीतरकी ही बात कही जा रही है। ठोस पृथ्वीके भीतर होनेसे इनको भूविवर या बिल कहा जा रहा है।

पृथ्वीके भीतर एक निश्चित गहराईके पश्चात् तरल अग्नि है। इतनी अधिक उष्णता है कि वहाँ जो कुछ है, सब पिघला हुआ घुला-मिला है। यह विज्ञानका विद्यार्थी भी जानता है। कहीं ज्वालामुखी भड़के तो उससे पृथ्वी-गर्भका वह तरल पदार्थ, जिसे लावा कहते हैं, निकलता है।

अभीतक ऐसा कोई उपाय विज्ञानको नहीं मिला है, जिससे भूमिके भीतरके इस अत्यन्त उष्ण उबलते लावेकी गहराईमें खोज कर सके और इसका उत्तर दे कि इस लावेके उबलते सागरमें स्तर (तहें) भी हैं या पृथ्वीके ऊपरके समुद्रके समान वह एकरूप द्रव ही है। पुराण कहते हैं कि वह एकरूप उबलता द्रव नहीं है। उस द्रव द्रव्य में सात स्तरें हैं और उनके मध्य अपेक्षाकृत सघन ऐसा द्रव्य है जो सातों स्तरोंको पृथक करता है। ये सातों स्तर ही सात अधोलोक हैं।

जैसे पृथ्वीके वहिर्भाग में भूः (यह हमारा मर्त्यलोक) भुवः (अन्तरिक्ष) स्वः (स्वर्ग) तथा महर्लोक, जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक—ये सात लोक हैं और उनमें-से भूर्लोकको छोड़कर शेष छः सूक्ष्मलोक हैं, सामान्य मनुष्य लिए अदृश्य हैं, यन्त्रोंसे भी उनके सम्बन्धमें कुछ जानना सम्भव नहीं है वैसे ही नीचेके ये भूविवर सातों लोक भी सूक्ष्मलोक हैं, अदृश्य हैं।

दैत्य-दानव भी देवताओंके समान ही दिव्यदेह—अग्नि तत्व प्रधान ज्योतिर्देह हैं। वे देवताओंके भाई—उनके अग्रज हैं। अतः वे नीचेके अग्निमय लोकोंमें रहें तो आश्चर्यकी बात नहीं है। नीचेके लोकोंको बिल स्वर्ग कहकर सूचित कर दिया गया है कि उनकी स्वर्गसे बहुत कुछ समानता है।

हम आप भूल ही जाते हैं कि अन्तरिक्षमें ऊपर भी सूर्यके जितने समीप पहुँचा जायगा; असह्य ऊष्मा मिलती-बढ़ती जायगी। यदि सूर्यमण्डल

सत्यलोक है (सूर्यको हिरण्यगर्भ कहकर ब्रह्मलोक बतलाया गया है।) तो नीचेके लोकोंकी स्थिति सूर्यके क्रमशः समीप होते स्तरों जैसी होगी।

देवता-दैत्य दोनों सूक्ष्म शरीरधारी हैं। दोनोंके देह अग्नितत्त्व प्रधान हैं, अतः दोनोंके लिए अत्यन्त उष्णलोक अनुकूल हैं।

स्वर्गके भोगोंका, वन-उपवनका वर्णन मनुष्योंको समझानेके लिए मनुष्यलोकके समान है। ऐसे ही अधोलोकोंका वर्णन, वहाँके भवन, उद्यानादिका वर्णन हम सबको समझानेके लिए मनुष्यलोकके समान हैं। वस्तुतः वहाँका ठीक वर्णन यहाँकी भाषामें सम्भव नहीं है।

देवताओंके स्वर्गपर अनेक बार दैत्योंने अधिकार किया और वहाँ दीर्घकाल तक रहे। इससे यह समझा जा सकता है कि वहाँ देवताओं तथा असुरोंके शरीरोंमें, शक्तियोंमें, निवास-लोकोंमें, भोगोंमें बहुत सादृश्य होना चाहिए।

सतयुगसे द्वापर तक देवता और दैत्य दोनोंसे मनुष्योंका सम्पर्क रहा है। सुर-असुर दोनों बार-बार पृथ्वीपर आते और रहते रहे हैं। समर्थ मनुष्योंमें विशिष्ठ लोग यदि सदेह स्वर्ग जा सकते थे, जाते थे तो नीचेके लोकोंमें भी जा सकते थे, जाते थे।

जैसे हमारे लिए अब ऊपरके लोक अज्ञात हैं, नीचेके लोकोंकी अवस्थिति भी अज्ञात है। लेकिन नीचेके लोक भी स्थूल पार्थिव लोक नहीं हैं। उनमें पार्थिव देहधारी प्राणी न रह सकते और न रहते हैं।

बलिको सुतलका साम्राज्य भगवान वामनने दिया, वह अधोलोकोंमें तीसरा है। स्वर्गकी अपेक्षा इन लोकोंकी अनेक विशेषताएँ हैं। स्वर्गमें दिन-रात होता है। देवताओंका दिन मनुष्यके ६ महीनेके बराबर होता है। अधोलोकोंमें दिन-रात नहीं होता। वहाँ सूर्यके प्रकाशका प्रवेश नहीं होता। वहाँ मणियोंका उज्ज्वल प्रकाश सदा समान रूपसे रहता है।

जैसे स्वर्गमें रोग, बुढ़ापा नहीं होता, अधोलोकोंमें भी नहीं होता; किन्तु स्वर्गमें व्याधि भले न हो, आधि (मानसिक चिन्ता) इन्द्रको भी होती है। वे अनेक बार भयभीत होते हैं। उन्हें बलिके ही भयसे देवताओंके साथ

स्वर्ग छोड़कर भागना पड़ा था; किन्तु भगवान वामनकी कृपासे सुतलमें न आधि है और न भय। ऐन्द्रियक भोग तो स्वर्ग तथा सुतल—दोनोंमें ही सूक्ष्म शरीरके अनुरूप, स्वप्नके भोगोंके समान सूक्ष्म ही होंगे।

अपरिचित स्थान कितना भी उत्तम हो—एक बार आगतको अपनी व्यवस्था अपने ढंगसे बनानी ही पड़ती है; क्योंकि सबकी अपनी-अपनी रुचि और रहनेका अपना ढंग होता है। स्वर्ग तो दैत्योंका अत्यन्त सुपरिचित स्थान था। हिरण्यकशिपुने उसपर दीर्घकालतक आधिपत्य रखा था। अतः बलिने जब भी स्वर्गपर अधिकार किया, उनके किसी अनुचरको कोई असुविधा कुछ क्षण भी नहीं हुई। सब अपने निश्चित निवासोंमें पहुँच जाते थे। स्वर्गमें कहाँ क्या व्यवस्था है, जानते थे।

अधोलोकोंमें-से अतलमें दानवेन्द्र मयके पुत्र बल और उनके अनुचरोंका निवास था। वितल सभी असुरोंके लिए उपासना स्थान था; क्योंकि वहाँ स्वयं भगवान हाटकेश्वर अपने पार्षद भूतगणोंके साथ निवास करते थे। यहाँ असुर अवसर विशेषपर ही आते थे और श्रद्धा सहित आते थे। वह लोक उनके लिए मन्दिरके समान सम्मान्य था।

सुतल था तो उनके समीप ही; किन्तु अबतक उनके लिए एक रहस्य लोक था। इसलिए भी वह अगम्य लगता था; क्योंकि उसके एक ओर तो भगवान हाटकेश्वरका वितल था और दूसरी ओर दानवेन्द्र मयका निवास तलातल था। दानव विश्वकर्मा महामायावी दानवेन्द्र मय असुरोंमें अत्यन्त सम्मान्य थे। वे परम शिवभक्त प्रायः शान्त रहनेवाले और उपासना अथवा अपनी अद्भुत शोधों, आविष्कारोंमें तल्लीन रहते थे। उनके समीप दैत्य, दानव रह तो सकते थे, रहते ही थे; किन्तु वहाँ संयत और मयका आज्ञापालक बनकर ही रहा जा सकता था। अतः तलातलकी अपेक्षा अतल अधिक अनुकूल पड़ता था असुरोंको। वहाँसे चाहे जब पृथ्वीपर भी पहुँचा जा सकता था। मायावी मयपुत्र बल असुरोंका उनकी प्रकृतिके अनुरूप स्वागत करनेमें पटु थे।

महातल कद्रू पुत्र सर्पोंका आवास था। दैत्य-दानव उनको छेड़नेके पक्षमें नहीं थे अतः इस लोकसे वे प्रायः पृथक ही रहते थे। ऐसे ही

पातालका नागलोक भी उन्होंने अपने लिए अप्रवेश्य मान लिया था। अत्यन्त क्रोधी, उग्र विष, अनेक सिरवाले शङ्खचूड़, तक्षक, वासुकी प्रभृति नागोंके मध्य न जाना ही बुद्धिमानीकी बात थी। पातालके मूलमें तो सबके सम्मान्य भगवान शेष थे।

दैत्योंका पुराना मूलनिवास छठा लोक महातल था। बलिके सुतलका सम्राट हो जानेपर महातल निवात-कवच नामक दैत्य-दानवोंके अधिकारमें बना रहा। वे कालेय अत्यन्त उग्र थे और बलिके अनुगत होनेपर भी जब बलि स्वर्गके अधिपति थे, तब वे महातलमें ही रहे थे। बलिके सुतल बस जानेपर भी वे महातलमें बने रहे। अनेक बार वे सुर-शत्रु स्वर्गको आक्रान्त करते थे। देवताओंसे उनके युद्ध होते ही रहे हैं। वे महातलमें उस लोकको अपने अधिकारमें बनाये रखनेको रहें, बलिको भी यह अभीष्ट था। अन्ततः अपना मूल आवास उजाड़ तो नहीं किया जाना चाहिये। निवात कवच नामक असुरगण तो बलिके अपने लोग थे।

अब भगवान वामनने बलिको सुतल प्रदान कर दिया था।* अपने परिवार-परिजनोंके साथ बलि सुतल पहुँचे तो उन्हें सुतलके द्वारपर ही भगवान वामन उपस्थित मिले; किन्तु अब न वे विराट्रूप थे और न छत्र-कमण्डलुधारी, कौपीन लगाये, मृगचर्म ओढ़े ब्रह्मचारी वेशमें ही थे। अब भी आकार तो वामन ही था; किन्तु सजल-जलद श्यामवर्ण, पीताम्बरवसन, किरीट-कुण्डलादि आभूषण-विभूषित, कौस्तुभकण्ठ, श्रीवत्सवक्षा, पद्मपलाशलोचन चतुर्भज रूपमें ऐसे सुप्रसन्न खड़े थे, जैसे बलिका स्वागत करने ही खड़े हों।

भगवानके दाहिने नीचेके करमें उनकी महागदा कौमोदकी थी और वामकरमें कमल भी था; किन्तु ऊपरके दोनोंकर आशीर्वाद एवं आश्वासनकी मुद्रामें थे। उनमें न शङ्ख था और न चक्र।

---

*इसी प्रकार भगवान शिवने त्रिपुर-भस्म करनेसे दानवेन्द्र मयको तलातल दे दिया था। यह कथा 'शिवचरित'में दी गयी है। उससे पूर्व दैत्य, दानव, कालेय आदि सब महातलमें ही रहते थे। यह सबसे विस्तृत स्तरका होनेसे ही महातल कहा जाता है।

बलिने सुतलके ऊपर मण्डलाकार घूमते तेजोवलयके समान श्रीहरिके सहस्रार महाचक्रको देख लिया था। वे समझ गये कि क्यों अबतक असुर इस सुतलमें नहीं आ सके। सुदर्शनसे संरक्षित लोकमें उस अमिततेजा आयुधकी अवज्ञा करके प्रवेश करनेका साहस कौन कर सकता है। बलि साथ न होते तो दैत्य दूरसे ही दूसरा मार्ग पकड़ते; किन्तु बलि और प्रह्लादने जब हाथ जोड़कर मस्तक झुकाया, वह चक्र सौम्य बन गया था। उसने मार्ग दे दिया था।

स्वर्गमें तो सुरक्षाके प्रति सदा सतर्क रहना पड़ता था; किन्तु यहाँ सुतलमें इस ओरसे भी श्रीहरिने बलिको निश्चिन्त कर दिया है, यह प्रत्यक्ष हो गया।

'दैत्येन्द्रका स्वागत !' गदापाणि उन अद्भुत द्वारपालने कहा तो प्रह्लाद और बलिके साथ सब दैत्योंने साष्टाङ्ग प्रणिपात किया उन्हें। दैत्य पृथ्वीसे चलते तक सशंक ही थे। उन्हें विश्वास ही नहीं हो रहा था कि विष्णु उनके अनुकूल भी हो सकते हैं। विष्णुको उन्होंने अपना सनातन शत्रु ही समझा था; किन्तु आज उन्हें इन द्वारपाल रूपमें देखकर सब अत्यन्त विह्वल हो उठे। दैत्य शूर थे, उदार थे। बलि जैसे धर्मज्ञके साथने उनका हृदय विशाल बना दिया था। आज वामनके दर्शन करके वे उनके प्रति समर्पित हो गये।

'आपको यहाँ कोई असुविधा न हो, इसलिए मैं तनिक आगे आ गया।' जिनका संकल्प अनन्त-अनन्त ब्रह्माण्डोंका सृजन करता रहता है, उसे किसी व्यवस्थाके लिए स्वयं आना आवश्यक हो सकता है ? किन्तु वे भक्तवत्सल अपने अतिथियोंके स्नेह-परतन्त्र ऐसे ही सदा दौड़ पड़ते हैं। प्रह्लाद और बलिसे भी एक शब्द बोला नहीं जा रहा था। सब भावविह्वल, अश्रु विमोचन करते खड़े रह गये। वामन ही बोल रहे थे—'आप सब भीतर पधारें।'

बलिको, प्रह्लादको, सब दैत्योंको वह अत्यन्त सुपरिचित लोक लगा। उन्हें प्रतीत ही नहीं हुआ कि वे किसी नवीन स्थानपर आये हैं। किसीको कोई आवास निर्दिष्ट नहीं करना पड़ा। सब ऐसे अपने अनुरूप भवनोंमें चले गये जैसे उसीमें रहनेके अभ्यस्त हों। न कोई अपरिचय, न कोई किञ्चित भी व्यवस्थामें परिवर्तनकी आवश्यकता।

सुतलकी स्वर्गसे अनेक विशिष्टताएँ थीं; किन्तु दैत्योंको सुतल इतना सुपरिचित लगा कि उन विशेषताओंकी ओर उनका ध्यान ही नहीं गया। स्वर्गमें परस्पर भी स्पर्धा थी सुरोंमें। उनके भोग एवं सम्मानमें वैषम्य था। किसी विशेष भोगकी आवश्यकता होनेपर उन्हें नन्दनकाननमें कल्पवृक्षके नीचे पहुँचना पड़ता था। कल्पवृक्ष उनकी कामना पूर्ण करता था। कहा तो जाता था कि कल्पवृक्ष त्रिवर्ग (अर्थ, धर्म, काम) दे सकता है; किन्तु वस्तुत: कल्पवृक्ष केवल अर्थ और भोग ही दे सकता था। वह स्वर्गमें धर्म या धर्मका फल स्वर्गमें रहनेकी अवधि-वृद्धि अथवा ऊपरके लोकोंमें-से कोई देनेमें असमर्थ था। देवताओंको चिन्ता होती थी। युद्धमें वे मारे तो नहीं जाते थे अमर होनेके कारण; किन्तु उनको आघातजन्य पीड़ा होती थी। यह आधि (चिन्ता) केवल तब नहीं होती थी, जब वे अपनी सुधर्मा सभामें बैठे हों; किन्तु सदा सभागृहमें तो रहा नहीं जा सकता। व्याधि उन्हें न होती हों तो देववैद्य अश्विनीकुमारोंको वे अपने मध्य क्यों बसाये रहें ?

सुतलमें दैत्योंमें परस्पर कोई स्पर्धा नहीं थी। प्रह्लादजी पितामह थे सबके। बलि दैत्येन्द्र थे और शुक्राचार्य कुलगुरु थे। इनके अतिरिक्त भी जो आयुमें बड़े थे, उनका सम्मान दैत्योंको प्रिय था। सुख-सुविधा सबको यथेच्छ प्राप्त थी। कामनाके उदयके साथ वह पूर्ण हो जाती थी। कहीं कोई आधि-व्याधिका नाम नहीं था। पूरा सुतल ही कल्पवृक्षसे अधिक कामनापूर्तिमें समर्थ था। जहाँ कभी कोई व्याधि होती ही नहीं, वहाँ किसी चिकित्सकके न होनेका अभाव कोई अनुभव करेगा ?

सुतलमें केवल आमोद। भगवान जहाँ स्वत: संरक्षक होकर गदापाणि खड़े हों, वहाँ किसीको कोई किस बातकी चिन्ता होगी। उन सर्वेशके नित्य सान्निध्यके कारण दैत्योंका स्वाभाविक औद्धत्य भी शान्त हो गया। उनके स्वभावका रजोगुण सत्त्वोन्मुख होकर उन्हें सेवा तथा भगवत्स्मरणमें लगाये रहने लगा। उनकी क्रियाशीलता व्यायाम, अध्ययन एवं अनेक सात्विक आयोजनोंमें सार्थक होने लगी। सुतलमें नित्य महोत्सव, प्राय: कला एवं कौतुकके समारोह चलने लगे।

यह सब था; किन्तु बलिका हृदय अपना संकोच और पश्चाताप छोड़ नहीं पाता था। उनका आसुरभाव जो भगवान वामनके सम्मुख विजड़ित हुआ था, फिर कभी जागा नहीं। वह कब विनष्ट हो गया, पता नहीं लगा।

'मैंने इन सर्वेशके सम्मुख अहङ्कार किया। मैंने इन्हें शत्रु माना ! मैं इनका विरोधी बना रहा !' बलिके हृदयका यह शल्य बढ़ता ही गया। भगवान वामनका स्नेह, उनकी अचिन्त्य कृपाका अनुभव बढ़ता ही गया और बढ़ती गयी उसके साथ बलिकी श्रद्धा। बढ़ती गयी बलिकी सेवा-तत्परता। यदि भगवान वामन उन्हें स्नेहपूर्वक प्रतिदिन विदा न कर दिया करते तो बलि सम्भवत: उनके श्रीचरणोंकी अहर्निश अखण्ड अर्चासे उपरत ही नहीं होते। उन्हें इस आह्निक अर्चनमें इतना आनन्द मिलता था कि वे अपनेको भूले ही रहते थे। यह तो वे वात्सल्यधाम बलिको विवश करते थे कि बलि अपने भवन लौटते थे। बलिको विश्वास होता कि प्रभु रुष्ट नहीं होंगे तो वे पता नहीं कितनी बार प्रतिदिन यह अर्चा करते; किन्तु भगवान वामनने प्रात:-सायंके अतिरिक्त उन्हें अपनी अर्चा करने आनेसे रोक दिया था।

प्रह्लादजीको पौत्रकी इस भगवद्‌भक्तिने प्रभावित किया था। उन्होंने बलिको अपने समीप चाहे जब आनेकी अनुमति दे दी थी। बलि प्राय: अपने पितामहके समीप पत्नीके साथ पहुँच जाते थे। प्रह्लादको परमप्रिय था अपने आराध्यका यशोगान एवं लीला-वर्णन और सपत्नीक बलिको अब उसके श्रवणका व्यसन बन गया। सुतल भले दूसरे दैत्योंके लिए आमोदलोक बना रहे, बलिके लिए सुरम्य सत्संग-स्थल होगया था। इसीलिए बलि वहाँसे कहीं अन्यत्र जानेकी बात भी नहीं सोच सके। वे यदि कभी दानवेन्द्र मयके विशेष आग्रहपर भगवान हाटकेश्वरके दर्शन करने वितल गये भी तो प्रह्लादजीके आदेशपर उनके साथ ही गये। सुतलमें भी दैत्योंके समारोहोंमें वे प्राय: सम्मिलित नहीं होते थे।

सृष्टिमें सर्वत्र, सभी वर्गोंमें सदासे शासक होते रहे हैं; किन्तु शासन प्राय: सुरक्षाके लिए, स्वार्थ-संरक्षणके लिए, शत्रुके विरुद्ध संघर्षके लिए अथवा किसी अभीष्ट संपूर्तिके लिए होता है। ऐसा न हो तो वह बलपूर्वक स्थापित किया गया आतंकका, भयका, संत्रास और उत्पीड़नका शासन होगा।

विलक्षण था बलिका शासन। जैसे वात्सल्यमयी माताका शिशुपर स्नेहका शासन होता है। दैत्योंको न सुरक्षा आवश्यक थी, न स्वार्थ-संरक्षण। उन्हें अब कोई संघर्ष नहीं करना था और कोई अभीष्ट अपूर्ण रहता नहीं था। बलिसे भला उन्हें भय कैसा। बलिके स्नेहके कारण उनका हृदय श्रद्धा सम्पूर्ण पुकारता रहता था—'हमारे स्वामी, हमारे शासक दैत्येन्द्र बलि !' सुतलके साम्राज्यके ऐसे महनीय सम्राट् बलि। ★★

दशग्रीवका दुर्भाग्य–

अनेक बार मनुष्य अपने दुर्भाग्यको स्वयं आमन्त्रित करता है। यह अत्यन्त सुविदित तथ्य है कि सत्पुरुष अपना कष्ट, अपना अपमान, अपना अहित महत्त्वका नहीं मानते; किन्तु अपने आश्रितके प्रति किये गये अपराधकी उपेक्षा भी नहीं कर पाते। भक्तवत्सल भगवान तो भक्तापराध क्षमा ही नहीं करते।

लङ्काका अधिपति दशग्रीव रावण वेदोंका उत्कृष्ट विद्वान था; और उसकी स्मृति अच्छी नहीं थी, यह आक्षेप भी उसपर किसीने नहीं किया; किन्तु उसने अपने अहङ्कारपर कभी ध्यान ही नहीं दिया। अहङ्कार सदा दुर्भाग्यको आमन्त्रित करता है, यह जानकर भी अहङ्कारको पोषित करता गया।

रावण महर्षि पुलस्त्यका पौत्र था। सृष्टिकर्ता ब्रह्माजीके मानसपुत्र महर्षि पुलस्त्य। पुलस्त्यके पुत्र मुनि विश्रवा और विश्रवाके पुत्र कुबेर, रावण, कुम्भकर्ण तथा विभीषण।

कुबेरजीने अपने पिता और मातासे जो महर्षि भरद्वाजकी पुत्री थीं, श्रद्धा, सात्विकता, आराधना प्राप्त की। महत्त्वाकांक्षा उनमें भी अल्प नहीं थी; किन्तु उनकी महत्त्वाकांक्षा सफल हुई। वे आराधना करके भगवान शिवके सखा बन गये।* काने, कुबड़े, कुरूप होनेपर भी वे निधिपति लोकपाल हो गये। उन वैश्रवण राजाधिराजका ब्राह्मण स्तवन करते हैं।

रावणकी माता कैकसी (इसका नाम निकषा और केशिनी भी था) दैत्यकुलके प्रमुख सुमालीकी कन्या थी। रावणने आरम्भसे पिताके सद्गुण नहीं अपनाये। वह अपने मातृकुलको महत्व देता रहा और जब लङ्काका अधिपति हुआ, सुमाली, माल्यवन्त तथा उनके पुत्र प्रहस्तको उसने अपना

---

*कुबेरजीका पूरा वर्णन 'शिव-चरित'में है। रावणकी कथा 'राक्षसराज'में दी गयी है।

प्रमुख मन्त्री बना लिया। दानवेन्द्र मयने अपनी पुत्री मन्दोदरीका विवाह उससे कर दिया। इस प्रकार रावणका सम्बन्ध दैत्य-दानव कुलोंसे घनिष्ट हो गया। वह उन्हींसे घिरा रहने लगा।

माली, सुमाली और माल्यवन्त दैत्य प्रमुख होनेपर भी कभी बलिके अनुगत नहीं हुए। बलि उनके पौत्र ही लगते थे; क्योंकि ये तीनों प्रह्लादके चचेरे भाई थे। लेकिन इन्होंने कभी प्रह्लादका भी अनुगमन नहीं किया। ये तो श्रीहरिके स्वभाव-शत्रु थे। प्रह्लादके दैत्यपति होनेपर भी ये निवात कवचोंके साथ अधोलोकोंमें ही रहे। इन्होंने हिरण्यकशिपुकी मृत्युके पश्चात् ही प्रह्लादका संग त्याग दिया।

माली, सुमाली और माल्यवन्तमें भी सुमाली सबसे अधिक महत्त्वाकांक्षी था। शेष दोनों भाई उसीके अनुगत थे। सुमाली देवासुर-संग्राममें भगवान विष्णुसे पराजित हुआ और तबसे उनका बद्धमूल शत्रु हो गया। उसने न प्रह्लादका साथ दिया, न बलिका। जब उसे आशा नहीं रही कि वह स्वयं विष्णुसे बदला ले सकेगा तभी उसकी दृष्टि वैश्रवण कुबेरपर गयी। कुबेर शिवके सखा और लोकपाल हो गये थे। सुमालीको लगा कि यह मुनि विश्रवाका प्रभाव है। अतः अपनी कन्या कैकसी उसने विश्रवाके पास भेज दी।

कैकसीके पुत्रोंपर सुमालीकी आशा अटकी थी। वह आरम्भसे रावणका सलाहकार बन गया; क्योंकि कुम्भकर्ण तो निद्रालु था और विभीषणने प्रह्लादका पक्ष पकड़ लिया था। महत्त्वाकांक्षी रावण सुमालीसे भी अधिक निकला। वह इतना अहङ्कारी हो गया कि सुमाली, माल्यवन्तको भी उसका विनम्र मन्त्री ही रहकर सन्तोष करना पड़ा। यद्यपि रावण अपने मातामहकी मन्त्रणाके कारण ही सुरशत्रु तथा राक्षस हुआ था।

दशग्रीव रावणका दुर्भाग्य कि वह उग्र तपस्वी, वेदज्ञ रहनेपर भी अत्यन्त अहङ्कारी तथा भोगलोलुप हो गया। सुमालीने उसे स्वर्ग-विजयको उभाड़ा अवश्य; किन्तु अवश्य पछताया होगा; क्योंकि दशग्रीव देवताओंको विजित करके ही सन्तुष्ट नहीं हुआ। वह तो त्रिभुवन-विजयी बननेको उद्यत हो गया। उसने दैत्योंको भी विजित बनानेका निर्णय कर लिया। इस विजयोन्मादमें दैत्योंसे उसका युद्ध अनिवार्य था। उस युद्धमें उसने

अपनी ही बहिन शूर्पणखाको उसके पति विद्युज्जिह्वका वध करके विधवा बना दिया।

रावणने केवल मन्दोदरीके पिता मयका सम्मान किया। उसने मयके कारण उनके लोकपर आक्रमण नहीं किया। लेकिन महातलके दैत्य-दानवोंको जीतकर उसका सन्तोष नहीं हुआ। वह भी मानता था कि दैत्योंके मुख्य अधिपति बलि हैं। अतः सुतलको विजित बनाये बिना वह अपनी विजय सम्पूर्ण नहीं मानता था।

अपने अहङ्कारके कारण रावण सोचता था—'बलिको जब विष्णुने बाँध दिया था एक बार, तो वह क्यों नहीं बाँध सकता। वह बलिको बाँधकर लङ्का ला सके तो दैत्य सहर्ष उसे अपना अधिपति स्वीकार कर लेंगे। उसका सबसे बड़ा दुर्भाग्य यही कि बलिके सम्बन्धमें सोचते समय वह बलिके शरणदाता, संरक्षकको स्मरण ही नहीं कर पाता था। सुतलके स्वामीको उसे परास्त करना था। ऐसी अवस्थामें उनके द्वारपालकी बात उनके मनमें क्यों आती? वह एक सामान्य द्वारपालसे अधिक महत्त्व भगवान वामनको नहीं देता था।

बलि-विजयके लिए दशग्रीव दैत्योंसे सहयोगकी आशा नहीं कर सकता था। उसके अपने पुत्र-पौत्रोंके अतिरिक्त उसके अधिकांश अनुयायी दैत्य ही थे। माली, सुमाली, माल्यवन्त और उनकी सन्तति। यद्यपि इन लोगोंने कभी बलिका साथ नहीं दिया; किन्तु बलि दैत्येश्वर थे। इनके अपने कुलके थे। कभी बलिके प्रति इन लोगोंकी सहानुभूति जाग सकती थी। बलि इनसे सहायताकी प्रार्थना करें तो ये उनका साथ न भी दें तो तटस्थ हो जा सकते थे और रावणको रोक सकते थे।

सुमालीने रावणको अनेक बार रोका भी था कि वह दैत्य-दानवोंका विरोध न करे। दैत्य-दानव तो उसके अपने हैं; किन्तु रावणका अहङ्कार कहता था कि उसके अपने केवल वे जो उसे अपना अधिपति अङ्गीकार करें। अपने समान वह किसीको स्वीकार नहीं करना चाहता था।

बलि-विजयको वह अकेला निकला। लङ्काको वह अरक्षित नहीं छोड़ सकता था। लङ्काका आन्तरिक शासन तो सदा विभीषण सम्हालते

थे; किन्तु उनके शौर्यपर भरोसा नहीं किया जा सकता था। सुरोंको पराजित करके शत्रु बना लेनेके पश्चात् लङ्कामें रावण स्वयं रहे अथवा उसका ज्येष्ठ पुत्र मेघनाद भाइयोंके साथ रहे, यह रावणने आवश्यक माना था।

रावणकी नीतिमत्ता थी कि मातामह सुमाली और उनके अनुगतोंको उसने अपना रखा था; किन्तु लङ्काका सम्पूर्ण संरक्षण उनको एक दिनको भी उसने कभी नहीं दिया। इतना अधिक विश्वास किसीपर भी कर लेना उसकी राजनीतिके अनुकूल नहीं था।

बलि-विजयके अभियानमें दैत्योंको साथ लिया नहीं जा सकता था और लङ्काकी सुरक्षा भी उन्हींपर नहीं छोड़ी जा सकती थी। अतः रावणने यह जययात्रा एकाकी की। इस एकाकी यात्राको पीछे भी बहुत बुद्धिमत्ता मानता रहा; क्योंकि इसका जो परिणाम हुआ, वह औरोंके सामने नहीं आया, इससे दशग्रीवको अधिक लज्जित नहीं होना पड़ा। उसकी पराजय और अपमान उसीतक रह गये।

हुआ यह कि रावण एकाकी सुतल पहुँचा तो उसके समीप भी केवल उसकी भारी गदा और कटिमें लगी तलवार थी। वह दैत्योंसे सामूहिक युद्ध करनेको उत्सुक नहीं था। बलिको द्वन्द्व युद्धमें ही पराजित करनेका उसका विचार था। सुतलके द्वारपर उसे एक छोटे आकारका पुरुष छोटी-सी गदा लिये दीखा।

उचित यह था कि दशग्रीव उस द्वारपालसे बलिको बुलानेको कहता। युद्धकी चुनौती भी द्वारपालके द्वारा भेजी जा सकती थी। रावणने सुमालीसे सुन रखा था कि स्वयं विष्णु बलिके द्वारपर गदापाणि उपस्थित रहते हैं; किन्तु यह द्वारपर खड़ा खर्वकाय पुरुष ही विष्णु होगा, यह दशग्रीव अनुमान नहीं कर सका।

रावण वहाँतक पहुँच ही नहीं पाता, यदि भगवान वामनकी इच्छा न होती। उनका महाचक्र प्रमाद नहीं करता। भले भगवान ब्रह्मासे रावणने वरदान पाये थे, भले वह चक्रके लिए अवध्य था; किन्तु चक्रकी ज्वाला उसे इतना दग्ध कर दे सकती थी कि उसे लङ्का लौटकर अनेक कालतक अपनी चिकित्सा कराना आवश्यक लगता। लेकिन भगवान वामन आकारसे छोटे

हैं तो उनके स्वभावमें बाल-विनोद भी है। उनके सङ्कल्पके कारण चक्रने दशग्रीवके प्रवेशमें कोई बाधा नहीं दी।

दशग्रीवने सुमाली आदिसे भगवान विष्णुका वर्णन सुना था। उनका कभी दर्शन तो कर नहीं सका था। विष्णुके पार्षद भी उन्हींके समान वर्ण एवं आकारमें हैं, यह भी सुना था। विष्णु स्वयं द्वारपर मिल सकते हैं, इसकी उसे सम्भावना थी; किन्तु इतने अल्प आकारका व्यक्ति ही विष्णु है, यह बात उसके ध्यानमें नहीं आयी। उसने सुमालीसे विष्णु और उनके चक्रके पराक्रम, प्रभावका बहुत वर्णन सुना था। सुमाली उस विष्णुके चक्रसे अत्यन्त भयभीत था। लेकिन सुतलके द्वारपालके पास दशग्रीवको कोई चक्र नहीं दीखा।

इतने अल्पकाय द्वारपालसे कुछ कहना दशग्रीवने अपना अपमान माना। वह स्वयं बलिके सम्मुख पहुँचकर ललकारेगा और भिड़ जायगा, यह उसने सोचा था। अतः वामनकी उपेक्षा करके वह भीतर बढ़नेको बढ़ा।

दशग्रीव नहीं जानता था कि ये वामन जिसके संरक्षक बनते हैं, उसके सम्मुख तक विपत्तिके आनेका समाचार भी पहुँचे, यह इन्हें सह्य नहीं है। इनके द्वारा संरक्षित जन सदा, सर्वत्र अशंक, अभय है। उस तक किसी सङ्कटकी वायु भी नहीं पहुँच पाती।

स्वयं दशग्रीव भी नहीं समझ सका कि उसके साथ क्या हुआ। वह वामनकी उपेक्षा करके उनके समीप भीतर जानेको बढ़ा था। वामनने भी उसे न बोलकर रोका, न गदा या हाथ हिलाया। उन्होंने केवल अपना वामपद उठाया और उसके अंगुष्ठसे रावणको उछाल दिया।

रावण स्वयं कूदता तो भी यह वेग नहीं पा सकता था। वह इतने वेगसे उछाला गया था कि सुतलसे सीधे लङ्कामें आकर गिरा। उसे कितना आघात लगा होगा, आप स्वयं सोचलें। सुतलमें तो बलिको पता भी नहीं लगा कि कोई लङ्काधिप उनके द्वारतक आया था। लंकामें भी लंकेशकी यह जययात्रा अज्ञात बनी रही। रावणने यही कुशल मानी कि उसे गिरते किसीने देखा नहीं।

'वह वामन पुरुष बहुत भयङ्कर है।' दशग्रीव अनेक दिनोंतक यही सोचता रहा—'अवश्य वही विष्णु होना चाहिये। मुझे उससे अवश्य सावधान रहना था।'

'बलिके लोकके द्वारपर विष्णु किस रूपमें रहते हैं ?' अवसर पाकर रावणने माल्यवन्तसे पूछा था। वह अपनी पराजय-कथा तो किसीसे कह नहीं सकता था।

'सुना तो है कि वे वहाँ वामन रूपमें रहते हैं।' माल्यवन्तने बतलाया—'हममें कोई उधर नहीं जाता। यद्यपि हम बलिसे मिलने जायँ तो कोई सम्भावना नहीं कि हमें रोका जायगा। आप भूलकर भी उधर न जावें। विष्णुके रूपका कोई ठिकाना नहीं। वे कब किस रूपमें रहेंगे, कोई नहीं जानता। हिरण्याक्षको मारनेके लिए वाराह बन गये और हिरण्यकशिपुके सामने नरहरि होकर प्रकट हुए। बलिके द्वारपर भी सदा वामन ही बने रहेंगे, यह कौन कह सकता है। बलिके सामने ही यही वामन क्षणार्धमें त्रिविक्रम हो गये थे।'

'हूँ!' दशग्रीव इतना कहकर गम्भीर हो गया। माल्यवन्त कोई उपदेश न देने लगें, इसलिए वहाँसे उठ गया। मनमें अवश्य सोचने लगा—'मुझे अधिक सावधान रहना होगा। बलिके यहाँ सुतलके द्वारपर कोई भी, किसी भी आकारमें हो, उससे किसी प्रकार बचना ही होगा।'

'बलिको पराजित करके बाँध लाऊँ तो फिर विष्णुको भी देख लूँगा।' दशग्रीवने अपना विचार नहीं बदला। लेकिन बलिकी पराजयसे पूर्व वह विष्णुसे बचना चाहता है।

दशग्रीवको दूसरी यात्रा करनी ही थी। इस बार भी वह अकेला ही निकला था। इस बार भी बलिके यहाँ जानेमें श्रीहरिके चक्रने कोई बाधा नहीं दी। इस बार तो उसे सुतलके द्वारपर वह भयङ्कर वामन पुरुष भी नहीं दीखा। दशग्रीव बहुत प्रसन्न हुआ सुतलका खुला द्वार देखकर और द्वारपालको अनुपस्थित पाकर। उसके लिए यही उपयुक्त अवसर था। वह द्वारसे भीतर प्रविष्ट हो गया।

'पशु आया ? अद्‌भुत पशु आया।' दैत्योंके कुछ बालक द्वारके समीप ही खेल रहे थे। उन्होंने दशग्रीवको देखा तो ताली बजाते, हँसते-चिल्लाते दौड़े—'दशमुख द्विपाद् इस पशुको पकड़ो!'

पहिले कह चुका हूँ कि भगवान वामन कम विनोदी नहीं हैं। रूप वामन हो या वाराह, जब कन्हाई ही इन रूपोंमें है तो यह नटखट अपना स्वभाव कहाँतक छिपाये रखेगा। पहिले गेंदके समान उछाल दिया दशग्रीवको और इस बार द्वार छोड़कर दुबक गया खेल देखनेके लिए। अपनी शक्ति दैत्य-शिशुओंमें संचरित कर दी थी।

दैत्योंके वे बालक ऐसे कि उन्हें डरना, हिचकना आता ही नहीं था। उन्होंने जाना ही नहीं था कि भय होता क्या है। दशग्रीव ही भयसे स्तब्ध रह गया—'वह मायावी वामन इतने रूप बनाकर आ गया ? अब इस बार क्या करनेवाला है ?'

रावण भागना भी चाहता तो ऐसा करना कठिन था। दैत्योंके शिशु आयु और स्वभावमें ही शिशु थे। आकार उनका अपने पिताके बराबर था। शक्ति भी उनमें अपने पिताके समान थी और जन्मसे अनेक सिद्धियाँ तो उन्हें प्राप्त थीं ही। रावण भयभीत हो गया था। उसने समझा कि इतने रूप मायावी विष्णुने ही बना लिया है। इतने रूप भले वामनने न बनाये हों, अपनी शक्ति तो शिशुओंमें संचरित कर ही दी थी। फलतः शिशुओंने दशग्रीवको घेर लिया और पकड़ लिया।

'बाँध दो इसे।' एकने कहा।

'इसे अपनी अश्वशालामें बाँधो।' दूसरे बालकने सुझाव दिया—'उसमें कोई दसशिरा अश्व नहीं है। यह वहाँ ठीक शोभित होगा।'

दशग्रीव बहुत बल लगाकर भी उन शिशुओंसे छूट नहीं सका। उसकी शक्ति और सिद्धि भी कुण्ठित हो गयी। उलटे वह जितना उछलता-कूदता गया, दैत्य बालक उसे उतने चपत लगाते गये। वे प्रसन्न होकर पुकारकर अपने साथियोंको पुकारते गये—'हमने द्विपाद् दससिरा पशु पकड़ा है। अभी यह पालतू नहीं बना है। बहुत कूदता और चिल्लाता है।'

'तू शीघ्र समझ जायगा कि पालतू सुशील बननेमें तुझे सुख मिलेगा।' बालक अपने पकड़े पशुको पुचकारते भी थे—'तू आज्ञाकारी बन जायेगा तभी तुझे आहार मिलेगा। जबतक उछलना-चिल्लाना बन्द नहीं करेगा, तुझे उपवास करना पड़ेगा।'

'अब यहाँ चुपचाप बँधा रह।' बालकोंने अपने गृहोंसे वारुण पाश लेकर दशग्रीवको घुड़सालमें एक ओर बहुत जकड़कर बाँध दिया। दशग्रीवके बीसों हाथ, दोनों पैर उन्होंने जकड़ दिये थे। उसके कण्ठोंमें भी रस्सियाँ बाँधी थीं। वे थे तो शिशु ही, अतः अपनी समझसे अपने पकड़े पशुके लिए ऐसा तनिक भी अवकाश नहीं छोड़ना चाहते थे कि वह रस्सी तोड़कर भाग सके।

रावणने इतनी दुर्गति और अपमान कभी नहीं भोगा था। वह इतना जकड़कर बाँधा गया था कि कोई अङ्ग हिला भी नहीं सकता था।

'हमने हयशालामें एक नूतन पशु पकड़कर बाँधा है।' शिशुओंमें-से ही कुछ दैत्येन्द्र बलिके समीप दौड़ गये। उत्साहपूर्वक उन्होंने सुनाया— 'उसके दस सिर हैं। विंशति बाहु है वह; किन्तु द्विपाद है। अभी पालित नहीं लगता है। बहुत चिल्लाता और उछलता-कूदता है। हमने उसे ठीक-ठीक जकड़ दिया है। आप उसे पालतू बनानेकी युक्ति बतला दो।'

'दस सिर, विंशति बाहु और द्विपाद ?' बलि चौंके। रावण पहिले महातल जाकर दैत्योंसे युद्ध कर चुका था। बलिको सन्देह हुआ कि वही यहाँ आया होगा। वे शिशुओंके साथ अपनी अश्वशाला आये।

दशग्रीवको उस प्रकार जकड़ा देखकर बलिको दया आ गयी। उन्होंने शिशुओंको तनिक झिड़का—'तुम सबोंने यह क्या किया? इन राक्षसेन्द्र लङ्काधिपको कहीं ऐसे बाँधा जाता है। शीघ्र खोलो इन्हें।'*

रावणको अब पता लगा कि उसे बाँधनेवाले सचमुच दैत्य शिशु ही हैं। उनमें कोई विष्णु नहीं है। रावणने लज्जासे मस्तक झुका लिया। जिनके यहाँके साधारण शिशु इतने सशक्त हैं, उनके अधीश्वरसे द्वन्द्व युद्ध करनेकी बात सोचनेका भी साहस अब उसमें कैसे आता। वह तो अपनी अज्ञताके

---

*बलि जिनन इक गयउ पताला।
राखा बाँधि सिसुन्ह हयसाला।
दया लागि बलि दीन्ह छुड़ाई।

—रा. च. मा. ६.२३.१३, १४

कारण पश्चाताप कर रहा था। उसने सुतलके दैत्योंके बल-पराक्रमकी बात क्यों पहिले लङ्कामें पता नहीं कर ली।

रावणसे कौन कहे कि तुम्हारे मनमें जब बलिको बाँधनेका विचार आया, उसी क्षण बन्धन तुम्हारा भाग्य बन गया। तुम बलिको बन्दी बनाने आये थे; अतः बलिके संरक्षकने तुम्हें पशुकी भाँति बलिकी घुड़सालमें बँधवा दिया।

'यह लंकाधिप राक्षसेन्द्र है ?' बालकोंने एक दूसरेकी ओर देखा। वे अपने दैत्येन्द्रका अत्यधिक सम्मान करते हैं। अतः उनका आदेश मिलते ही रावणके बन्धन खोलने लगे थे। उनको लगा कि उनसे कुछ अनुचित हो गया है। कइयोंने तो एक साथ लगकर रावणके बन्धन शीघ्र खोल दिये।

'ये अज्ञ शिशु हैं। आप इनके अपराध क्षमा कर दें।' बलिने विनम्रतापूर्वक रावणसे कहा। 'इन्होंने आपको पहिचाना नहीं।'

रावण इतना अधिक लज्जित हुआ था कि वह किसी प्रकार बलिसे विदा लेकर शीघ्र वहाँसे चला गया। वह बलिसे यह कैसे बतलाता कि सुतल क्यों आया था।

'वह पहिली ही बार नहीं आया था।' बलिने जब भगवान वामनको यह घटना निवेदन की तो वे लीलामय खुलकर हँसे—'उसे सृष्टिकर्ताके वरदानने मदान्ध कर दिया है। वह यहाँ भी विजय प्राप्त करने आया था। पहिली बार मैंने उसे फेंक दिया छुद्र कोटके समान, तब भी उसे समझ नहीं आयी। शिशुओंने उसे बाँधकर अच्छी शिक्षा दी है। अब आशा है कि सुतल पुनः आनेका साहस नहीं करेगा।'

'आपके अभय चरणोंकी छाया जिन्हें प्राप्त है, वे तो सदा अशंक हैं।' बलि अब समझ गये कि इन लीलामयकी ही इच्छासे रावण सुतलमें प्रवेश पा सका था। वे भाव-भरित स्वरमें कह रहे थे—'अभाग्य उसका जो आपके चरणोंकी प्रीतिसे वञ्चित है। कोई तप या वरदान भला उसका क्या भला कर सकते हैं। उसका सब ऐश्वर्य, सब विद्या-बुद्धि व्यर्थ ही है।'

बलि तो सदा निश्चिन्त थे; किन्तु रावणने फिर मूर्खता की। सुतलमें वह दैत्य-शिशुओंके द्वारा पराजित हुआ था। उसे लगा कि वे शिशु बहुत न होते तो उसका यह अपमान न होता। वह दैत्योंके बलका—बलिके वंशधर दैत्योंके बलका अनुमान करना चाहता था। बलिके यहाँ पुनः जानेका तो उसने साहस नहीं किया; किन्तु पृथ्वीपर बलिके पुत्र वाणासुरके समीप शोणितपुर पहुँच गया।

वाणासुरके पुरमें रावण सशंक गया था। उसने ऐसा कोई कार्य नहीं किया, जिससे वहाँ वह शत्रु समझ लिया जाय। एक शिष्ट व्यक्तिके समान वहाँ जाकर वह वाणासुरसे मिला। अतः उस मनस्वी बलिपुत्रने उसका स्वागत किया।

'मैं आपसे द्वन्द्व युद्धकी कामना लेकर आया हूँ।' उसने वाणासुरसे कहा भी तो बहुत शिष्टतापूर्वक कहा। उसके स्वरमें न गर्व था, न चुनौती।

'आप देखते ही हैं कि भगवान शूलपाणिने मुझे सहस्रभुज बना दिया है।' वाणासुरने भी साधारण स्वरमें ही कहा—'मैं स्वयं समबलसे युद्ध करनेको उत्सुक हूँ। मेरी भुजाएँ युद्धके बिना मुझे ही भार लगती हैं। लेकिन अपनेसे हीनबलसे युद्ध करनेका उत्साह मुझमें नहीं है। यह तो केवल अत्याचार बन जाता है। युद्धका सन्तोष तो मिलता नहीं, श्रान्ति जैसी अवस्था आ जाती है और ग्लानि होती है।'

'आप परीक्षण कैसे करेंगे ?' दशग्रीवको लगा कि वाणासुर उसका उपहास कर रहा है।

'सीधा-सा उपाय है।' वाणासुरने बतलाया—'मेरे पास अपने कुलपुरुष हिरण्यशिपुके कुण्डल सुरक्षित हैं। यदि आप उन्हें धारण करलें तो मैं आपकी इच्छा पूरी करूँगा और उन्हें आपको भेंट कर दूँगा। मैं उन्हें धारण करूँ तो मेरी कर्णपल्ली शीघ्र पीड़ा देने लगती है।'

वाणासुर वे कुण्डल उठा लाया। रावणको लगा कि वे रत्नजटित कोई महाचक्र हैं। उसने अपने सब हाथ और पूरी शक्ति लगादी; किन्तु

उनमें-से एकको भी उठा नहीं सका। अन्तमें उसने वाणासुरके सम्मुख पराजित स्वरमें कहा—'मैं केवल आपकी मित्रताका आकांक्षी हूँ।'

दशग्रीवकी प्रार्थना स्वीकार करके वाणासुरने उसे अपना मित्र स्वीकार कर लिया तो दशग्रीवको लगा कि उसे आज दूसरी बार वरदान मिला है। वह वहाँसे लौट गया। बलिके अनुयायी दैत्योंसे छेड़छाड़ करनेका उसे पुनः कभी साहस स्वीकार नहीं हुआ। वह तो इसीको अपना सौभाग्य मानता था कि बलि सुतलमें सन्तुष्ट थे और वाणासुरमें भी त्रिलोकजयी होनेकी महत्त्वाकांक्षा नहीं थी।

वाणासुरके लिए रावणकी पराजय इतनी साधारण बात थी कि उसने इसकी चर्चा ही किसीसे करना गौरवकी बात नहीं माना।

उपेन्द्र-

अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड जिनके संकल्पसे संचालित होते हैं, उन अनन्त, अचिन्त्य शक्तिके कितने रूप हैं, कोई कैसे अनुमान कर सकता है। वे सर्वरूप हैं। उन्हींके तो सब रूप हैं। उन सर्वव्यापकके लिए—यह कहते भी नहीं बनता कि वे कहींसे आये, अथवा कहीं गये; क्योंकि देश उन्हींमें स्थित है। उन्हींका संकल्प है; किन्तु उनमें वाणीका प्रवेश न होनेपर भी उनका वर्णन किया जाता है। वाणीकी सार्थकता ही उन्हींका वर्णन करनेमें है। यह वर्णन सांकेतिक और अपूर्ण तो होगा ही।

जो सत्यस्वरूप हैं, उनमें लगकर अपूर्ण वाणी भी सत्य ही रहती है। यह सत्य है कि भगवान वामन भारतके भृगुकच्छसे सुतल गये। ऐसे गये कि बलिको सुतलके द्वारपर स्वागत करनेको पहिलेसे समुपस्थित मिले। वे वहाँ सदा बलिके द्वारपर ही उपस्थित रहते हैं।

यह भी सत्य है कि बलिके सपरिकर सुतल चले जानेपर भृगुकच्छमें स्वयं सृष्टिकर्ता सुरोंके साथ पधारे। ब्रह्माजीके साथ वहाँ देवर्षि नारद, पितर, महर्जन:, तप:लोकोंके प्रमुख, दक्ष, भृगु, अङ्गिरा, सनकादिकुमार तथा साम्ब शिव भी पधारे। देवमाता अदिति आयीं महर्षि कश्यपके साथ अपने सबसे छोटे आत्मजके समीप।

ब्रह्माजीने स्वयं प्रस्तावना की—'सम्पूर्ण प्राणियोंके कल्याणके लिए वामनका उपेन्द्र पदपर अभिषेक किया जायगा। अबसे सब लोकों और लोकपालोंके ये स्वामी होंगे। वेदोंके, सब देवताओंके ये उपेन्द्र रहेंगे; किन्तु धर्म, यश, लक्ष्मी, सब प्रकारके मंगल, स्वर्ग और मोक्षके भी यही प्रदाता होंगे।'

'भगवान वामन मुस्कराते चुप रहे। यह ऐसा ही प्रस्ताव था, जैसे कोई कहे आपसे—'मैं आजसे आपको मनुष्य बनाता हूँ।' सब लोकों और लोकपालोंका क्या अबतक कोई दूसरा स्वामी था? वेदोंके परमाराध्य तो ये हैं ही। श्रुति जब इन्द्रका नाम लेकर स्तुति करती है तो किसी सहस्राक्ष इन्द्रकी करती है? देवता भले इन्हें अपना उपेन्द्र मानते रहें; किन्तु धर्म,

यश, लक्ष्मी तथा सब प्रकारके मंगल तो सदासे प्राणी इनकी ही अनुकम्पासे पाता रहा है।

अपवर्ग—मोक्ष देनेमें तो दूसरा कोई समर्थ ही नहीं। वेचारे इन्द्र तो क्या अपवर्ग देंगे, स्वयं सृष्टिकर्ता भी यह अधिकार नहीं रखते और इन्द्र तो स्वर्ग देनेमें भी अत्यन्त कृपण हैं। उन्हें तो स्वर्गके छिन जानेका भय ही सताता रहता है। किसीने तपस्या प्रारम्भ नहीं की और इन्द्र चिन्तित होकर उसके तपमें विघ्न डालनेका षड्यन्त्र करने लगते हैं।

यह सब सत्य है; किन्तु सृष्टिकर्ताके पास उपाय भी क्या था ? भगवान वामनकी उन्हें अर्चा करनी थी और उनकी ही वस्तुसे उनकी अर्चा तो सब करते हैं। उनके स्वरूप, स्वामित्वकी स्वीकृति ही तो उनकी अर्चा है।

सृष्टिकर्ताको यह अर्चा करनी थी अपने पौत्र महर्षि कश्यप और देवमाता अदितिको प्रसन्न करनेके लिए। देवमाताके दूसरे सब पुत्र लोकपाल थे, किसी-न-किसी मासके सूर्यमण्डलके अधिपति थे।❀ अतः उनके सबसे प्रिय, सबसे छोटे पुत्रको, जिसने अपने सब भाइयोंको उनका स्थान एवं ऐश्वर्य दिलाया था, उचित पद दिया जाना चाहिये था। सृष्टिकर्ताकी घोषणासे देवी अदितिको सबसे अधिक प्रसन्नता हुई।

बड़े समारोहसे ब्रह्माजीने वामनका अभिषेक किया उपेन्द्र पदपर। भगवान वामनने यह उपाधि और अभिषेक स्वीकार कर लिया, यही उनका अनुग्रह। वे सर्वेश भला क्यों कहते कि बलिसे दानमें जो त्रिभुवन उन्होंने लिया है, अब सृष्टिकर्ता उसे अपना स्वत्व मानकर उसे शक्रको कैसे देना चाहते हैं और उन्हें उपेन्द्र क्यों बनाया जा रहा है। वे जैसे सबकी अर्चा स्वीकार करते हैं, यह भी स्वीकार किया उन्होंने। उन्हें किसीकी अर्चा अस्वीकार करना कहाँ आता है।

कन्हाई रूप कोई धारण करले, उसका स्वभाव तो यही है कि उसीके नन्दभवनके आँगनमें पड़ा, उसीका लाया एक मयूरपिच्छ उसकी अलकोंमें

❀'भागवत-परिचय'में सूर्यमण्डलके प्रत्येक मासके अधिपतियों और उनके पूरे परिकरोंका वर्णन है। सूर्यव्यूहमें विष्णु नामसे वामन ही को गिना जाता है।

कोई सखा लगा देता है तो वह फुदकता फिरता है। सबको दिखलाता घूमता है कि उसके मित्रने उसे यह महान उपहार दिया है। वही नटखट यह वामन बना है, इसे कैसे भूला जा सकता है ?

पूरे उत्साह और आदरसे सुरोंने अभिषेक किया। अभिषेक सम्पन्न हो जानेपर वामनने सृष्टिकर्ताकी, भगवान शिवकी, माता-पिताकी और सब महर्षियोंकी वन्दना की। इन्द्रने उन्हें हृदयसे लगाया।

'मेरा अनुरोध है कि मेरे ये अनुज मेरे समीप ही अमरावतीमें रहकर सुरोंको अपना संरक्षण प्रदान करें।' शक्रने अन्तमें प्रार्थना की। इस प्रार्थनाका तात्पर्य था कि जैसे अन्य लोकपाल अपने-अपने लोक सृष्टिकर्तासे प्राप्त करके उन-उन लोकोंमें निवास करते हैं, इन उपेन्द्रके लिए भी कहीं सृष्टिकर्ता किसी पृथक लोकका प्रबन्ध न कर दें।

शक्रका स्नेह, सद्भाव तो था ही; किन्तु उनका सन्देहशील स्वभाव भी इस आग्रहमें काम कर रहा था। उन्हें आशंका थी कि उपेन्द्रने अपना पृथक लोक प्राप्त किया तो उनका इन्द्रत्व एवं स्वर्ग उपेक्षणीय हो जायगा। सब लोकपालोंके अधिपति तो उपेन्द्र हो ही गये। अब यदि वे पृथक रहें तो इन्द्रको पूछेगा ही कौन। उपेन्द्र समीप रहें तो इन्द्रका सम्मान सुरक्षित रहता है।

ब्रह्माजीने इन्द्रकी प्रार्थनाका अनुमोदन कर दिया। जो समस्त सृष्टिके संरक्षक हैं, वही अपने वामन रूपमें एक साथ सुतलमें दैत्योंके और स्वर्गमें उपेन्द्र बनकर सुरोंके भी संरक्षक बने रहें, इसमें कोई अटपटी बात नहीं थी। इसका एक सुपरिणाम तो होना ही था। शक्र अब असुरोंमें-से दैत्योंकी ओरसे आश्वस्त हो गये और असुरोंमें-से दूसरे कोई दानव, राक्षसादि अमरावतीपर कभी आक्रमण भी करें तो इन्द्रको उपेन्द्रका संरक्षण प्राप्त हो गया।

ब्रह्माजी और उमा-महेश्वरकी अनुमति लेकर इन्द्र वामन भगवानको अपने साथ देवविमानमें बैठाकर देवयान मार्गसे स्वर्ग ले गये।* सभी लोकपाल इन्द्र एवं उपेन्द्रके साथ स्वर्ग गये। अमरावतीमें एक बार पुनः उपेन्द्रका अभिषेक होना था।

---

*स्वर्ग और ब्रह्मलोक जानेके भी दो मार्ग हैं। एक देवयान और दूसरा पितृयान। पितृयानसे गया प्राणी अपना पुण्यभोग समाप्त होनेपर+

उपेन्द्रका यह पद भगवान वामनसे पहिले जयन्तको प्राप्त हुआ था। ये जयन्त प्रजापति दक्षकी पुत्री मरुत्वतीसे उत्पन्न हुए थे। उनके पिता धर्म हैं। मरुत्वतीसे दो पुत्र हुए थे, मरुत्वान और जयन्त। इनमें-से जयन्त भगवान विष्णुके अंश थे। इन्हें उपेन्द्र पद दिया गया था। (भागवत ६ ६.८)

भगवान वामनको जब उपेन्द्र पद प्राप्त हुआ तो जयन्त स्वत: इस पदसे निवृत्त मान लिये गये; क्योंकि इस समय तो सुरोंको अपने पदोंपर पुनः प्रतिष्ठित करना था। अभीतक तो सबको दैत्योंके भयसे छिपे ही रहना पड़ा था।

भगवान वामनका अमरावतीमें कीर्तिसे विवाह हुआ और उससे सौभगादि कई पुत्र उत्पन्न हुए। यह तथ्य अधिदेव जगतमें तो सत्य है ही, इसका संसारके जीवनमें भी एक तात्पर्य है। मनुष्य अनेक क्षेत्रोंमें, अनेक योग्यताओंके द्वारा कीर्ति प्राप्त करता है। लेकिन यह कीर्ति उसकी कन्या है। इसे उसने अपनी योग्यतासे उत्पन्न किया है।

कीर्ति तबतक वन्ध्या है, कुछ उत्पन्न नहीं करती, जबतक उसका विवाह उपेन्द्र श्रीहरिसे न हो जाय। आपकी कीर्ति यदि भगवानको अर्पित हो गयी, उनकी कीर्ति बन गयी तो वह सौभग, वैराग्य, विवेक, मोक्ष जैसी सन्तान उत्पन्न करेगी। वह आपका उद्धार करेगी। ये दौहित्र आपको कृतकृत्य कर देंगे; अन्यथा कीर्ति एकाकिनी रहेगी। संसारकी झूठी प्रशंसासे किसीका कोई हित हुआ नहीं करता।

भगवान वामन उपेन्द्र होकर सूर्यमण्डलके एक मासके अधिदेव तो हैं; किन्तु वे अमरावतीमें रहते हों और देवताओंके साथ इस उपेन्द्र रूपमें असुरोंसे उन्होंने कोई युद्ध किया हो, ऐसा वर्णन मिलता नहीं है। स्वर्गपर जब रावणने आक्रमण किया तो इन्द्र संकटमें पड़ गये थे। उस समय इन्द्रपुत्र जयन्तने ही युद्ध किया। मेघनादने इसी समय इन्द्रको पराजित किया, इससे उसका नाम इन्द्रजित पड़ गया। इस युद्धमें इन्द्रपुत्र जयन्तका ही उपेन्द्रके रूपमें वर्णन है।

+पृथ्वीपर पुनः जन्म लेने लौट आता है। देवयानसे गया प्राणी स्वर्ग या ब्रह्मलोकमें अपने पुण्यभोगतक रहता है। उसके अनन्तर इन्द्र अथवा ब्रह्माजीसे ही तत्त्वज्ञान प्राप्त करके वहींसे मुक्त हो जाता है। उसका मर्त्यलोकमें पुनर्जन्म नहीं होता।

इन्द्रने दानवश्रेष्ठ पुलोमाकी पुत्री शचीसे विवाह किया था। इससे उन्हें तीन पुत्र प्राप्त हुए। इनके नाम हैं—१. जयन्त, २. ऋषभ और ३. मीढ्वांस। एक कन्या जयन्ती हुई। उसका विवाह इन्द्रने महाराजके पुत्ररूपमें अवतरित भगवान ऋषभदेवजीसे किया था। (भागवत ६.१८.७.)

इन्द्रका पुत्र जयन्त भी भगवदंश माना जाता है। इन्द्रके तीसरे पुत्र मीढ्वांस तो भगवान शिवके अंश हैं। यही मीढ्वांस रुद्र सतीके पति हुए और इन्होंने ही दक्ष यज्ञका नाश किया। यह संकेत भागवतके इनके नामसे लगता है।* इन्हींके कारण सभी रुद्र और द्ररुपार्षद देवासुर युद्धोंमें देवताओंके पक्षसे युद्ध करते हैं।

भगवान वामनकी रुचि स्वर्गमें हो नहीं सकती थी। वे भक्तवत्सल बलिकी भक्तिके परतन्त्र सुतलमें तो द्वारपाल बने पूरे एक मन्वन्तर रह सकते हैं; किन्तु शक्रके साथ उपेन्द्र बनकर वे क्यों रहने लगे थे। अप्सराओंका नृत्य-संगीत इन्द्रको भले प्रिय लगता हो, सर्वेशको वह कैसे आकर्षित करता ? सृष्टिकर्ताका सम्मान रखनेके लिए उन्होंने उपेन्द्रका पद स्वीकार कर लिया, यही बहुत हो गया। यह भी उनका अनुग्रह कि इन्द्रके साथ अमरावती चले गये और वहाँ भी अभिषिक्त हो गये। माता अदितिके उल्लासको उन्हें भग्न नहीं करना था, लेकिन इन्द्रको अग्रज बनाकर अवतीर्ण भले हुए, इन्द्रका अनुगमन अथवा इन्द्रके संगमें उन्हें रुचि नहीं थी। उन्होंने अवरावतीको अपना निवास बनाया ही नहीं।

इसका परिणाम यह हुआ कि इन्द्रपुरीका उपेन्द्र पद इन्द्रके पुत्र जयन्तको प्राप्त हो गया। उसका यद्यपि उपेन्द्रपदपर अभिषेक नहीं हुआ; किन्तु उस पदका दायित्व उसपर आ गया और उसे वह पूरा करने लगा था, अत: विधिवत् अभिषेकके बिना ही उसे उपेन्द्र कहा और माना जाने लगा। इसीलिए उपेन्द्रके रूपमें उसका उल्लेख मिलता है।

भगवान विष्णुको उपेन्द्र कहा जाता है, इसका भी यही अर्थ है कि भगवान वामनने स्वर्गमें उपेन्द्रपद स्वीकारके पश्चात् वहाँ निवास नहीं किया। वे अपने वैकुण्ठधाम पधारे। लेकिन उनको उपेन्द्र बनाये रहनेमें तो सुरोंका ही गौरव है।

---

*तदा सर्वाणि भूतानि श्रुत्वा मीढुष्टमोदितम्। —भागवत ४.७.६

आगामी इन्द्रत्व–

आगामी मन्वन्तरमें बलिको इन्द्र होना है। अतः यहाँ इन मन्वन्तरोंका स्वरूप तथा उनके अधिकारी वर्गको समझ लिया जाना चाहिये।

सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग—इन चारोंको मिलाकर जो चतुर्युगी होती है, उसको एक महायुग कहते हैं। एक सहस्र महायुगोंका ब्रह्माजीका एक दिन होता है। ब्रह्माजीका दिन ही कल्प कहा जाता है। कल्पका अन्त होनेपर ब्रह्माजीकी रात्रिके आरम्भमें सृष्टिकी प्रलय होती है। इसे ब्राह्मी नैमित्तिक प्रलय कहते हैं। उसमें आकाश, वायु, जल, अग्नि, पृथ्वी आदि तत्त्वोंका लय तो नहीं होता; किन्तु प्राणि सृष्टिका लय हो जाता है। तत्त्वोंका लय तो महाप्रलयके समय होता है। ब्रह्माजीकी आयु अपने दिनसे सौ वर्ष होनेपर पूर्ण होती है। उसी समय महाप्रलय होती है।

वर्णन तो ऐसा है कि प्रलयके समय भी कुछ विशेष पुरुष तथा स्थान बने रहते हैं। जैसे काकभुशुण्डि, महर्षि लोमश आदि प्रलयमें भी मरते नहीं। इनके आवास भी नष्ट नहीं होते।

ब्रह्माजीके एक दिन अर्थात् एक कल्पमें चौदह मनु होते हैं। एक मनुका समय इकहत्तर चतुर्युगीसे कुछ अधिक होता है।

एक चतुर्युगीके अन्तमें या एक मन्वन्तरके अन्तमें प्रलय नहीं होती। किसी कलियुगके अन्तमें या किसी मन्वन्तरके अन्तमें आकस्मिक प्रलय हो सकती है; किन्तु ऐसी प्रलय खण्ड प्रलय होती है। उसमें सब प्राणि-सृष्टि नष्ट नहीं होती। प्राकृतिक कारणोंसे ऐसी प्रलय पृथ्वीपर अनेक बार हो चुकी है।

जैसे ऋतु-परिवर्तनसे कोई प्रलय नहीं होता, वैसे ही चतुर्युगीका परिवर्तन या मन्वन्तर-परिवर्तन भी ऐसी घटना नहीं है कि उससे प्रलय अनिवार्य हो। ऋतु-परिवर्तन तो पूरी पृथ्वीपर समान रूपसे नहीं होता। अनेक देशोंमें—विशेषतः भूमध्य रेखाके आस-पास स्थित देशोंमें एक ही ऋतु सदा रहती है। इसी प्रकार पृथ्वीके भी अनेक सूक्ष्म भागोंमें, जम्बूद्वीपके

भारतवर्षके अतिरिक्त अन्य खण्डोंमें सदा त्रेतायुगके समान काल बना रहता है।❀

जब सम्पूर्ण पृथ्वीमें ही सर्वत्र चारों युग नहीं आते तो चतुर्युगीके अन्तमें प्रलयकी बात ही कैसे उठ सकती है। चतुर्युगी तो हमारी स्थूल पृथ्वीपर ही होते हैं। भरत खण्डको ही आज पूरी पृथ्वी कहा जाता है।

मन्वन्तर कालका ऐसा विभाजन है, जिसमें सृष्टिके व्यव थापकोंके पद-परिवर्तन होते हैं। युग परिवर्तित होनेसे तो हमारी इस स्थूल पृथ्वीका वातावरण परिवर्तित होता है। उसके परिणामस्वरूप प्राणियोंके आकार तथा मनुष्योंके मानसिक स्तरमें परिवर्तन होता है जिससे उनका रहन-सहन, बौद्धिक स्तर, शील-स्वभाव प्रभावित होता है। लेकिन मन्वन्तर-परिवर्तनका प्रभाव प्राणि-पदार्थोंपर नहीं पड़ता। यह तो एक प्रकारका प्रशासकीय पद-परिवर्तन है। जैसे एक स्थानके जिलाधीशका स्थानान्तरण होनेपर दूसरा उस पदपर आ जाता है। इससे प्रशासन, कार्यालय आदिपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

पृथ्वीके सामाजिक व्यवहारमें तो प्रशासकोंकी कुशलता एवं नैतिकता तथा तत्परतामें तारतम्य होता है। उसका प्रभाव प्रशासनपर पूरा पड़ता है; किन्तु मन्वन्तर-परिवर्तनमें ऐसा प्रभाव एक तो पड़ता नहीं और पड़ता भी है तो अत्यल्प पड़ता है; क्योंकि किस युगमें कैसा वातावरण रहेगा, यह सुनिश्चित है। उसमें प्रशासक परिवर्तन नहीं कर सकता।

अवश्य ही जब कोई पदोंमें बलात् परिवर्तन करता है, जैसे बलिने बलपूर्वक इन्द्रत्व प्राप्त कर लिया था, तो पृथ्वीपर भी उसका प्रभाव पड़ता है। युगानुरूप व्यवस्थामें व्यवधान उपस्थित होता है। ऐसे अवैधानिक रूपसे पदपर आये लोग प्रायः युग-व्यवस्थामें व्यतिक्रम उत्पन्न करते हैं। वे उत्पन्न व्यवस्थाका आग्रह रखनेके कारण सतयुग या त्रेताको स्थायी करने लगते हैं।

ऐसे समय सृष्टिके परम संचालकको हस्पक्षेप करना पड़ता है। वह युगानुरूप व्यवस्थामें व्यतिक्रम अधिक दिनों नहीं चलने दे सकता; क्योंकि

❀ ५.१७.११ (भागवत)

ऐसा करनेसे मनुष्योंकी कर्म-स्वतन्त्रता और कर्मफल भोगनेका पूरा विधान ही अस्त-व्यस्त होने लगता है।

युग-व्यवस्था तो कर्म-स्वातन्त्र्यका अनिवार्य परिणाम है। उसमें-से कलियुग या कष्टको निकाल देनेपर कर्मानुरूप फलकी व्यवस्था बन नहीं सकती। पापकर्मियोंको भी यदि सुखद स्थिति मिलेगी तो पुण्यकर्मा या तपस्वीको उससे बहुत अधिक सुखद स्थिति मिलनी चाहिये। लेकिन सृष्टिमें तो पदार्थोंकी सीमा है। असीम सुखद स्थिति सबके लिए उपलब्ध होती रहे, यह सम्भव नहीं है।

जैसे संसारमें प्रशासकीय पदोंके लिए योग्यता एवं पदपर बने रहनेकी अवधि निश्चित करना अत्यन्त आवश्यक है, वैसे ही मन्वन्तरोंके पदाधिकारियों-की योग्यता और पदपर बने रहनेकी अवधि निश्चित है। यह इसलिए भी आवश्यक है कि उसी योग्यताको सम्पादन करनेवाले दूसरेको भी वह पद प्राप्त करनेका अवसर मिले।

इसमें-से इन्द्रका पद सौ अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न करनेवाले चक्रवर्ती नरेशको ही मिलता है। अनेक बार इन्द्र पद अथवा अन्य किसी पदको प्राप्त करनेकी योग्यता कोई मनुष्य नहीं सम्पन्न कर पाता तो भगवान स्वयं अवतीर्ण होकर वह पद सम्हालते हैं। वैसे प्रत्येक मन्वन्तरमें वे अवतार तो धारण करते ही हैं।

प्रत्येक मन्वन्तरमें मनु, मनुपुत्र, सप्तर्षि, इन्द्र, देवगण और भगवानका कोई अवतार-रूप—ये मन्वन्तरके पदाधिकारी होते हैं।

मनुका काम मानव-सन्तति परम्पराकी सुरक्षा तो है ही, धर्मकी व्यवस्था करना है। कलियुगके अन्तमें श्रुति-स्मृतियाँ आदि लुप्त हो जाती हैं। वर्ण-व्यवस्था विनष्ट हो जाती है। अतः प्रत्येक सतयुगके प्रारम्भमें सप्तर्षिगण पुनः श्रुतिका साक्षात्कार करके अधिकारी पुरुषोंको उन्हें प्रदान करते हैं। मनु कलिमें नष्ट धर्मकी स्थापना करते हैं। स्मृतिका उपदेश करते हैं।

मनुपुत्र समाजमें उस मनुके द्वारा उपदिष्ट धर्मकी स्थापना अपने शासनके द्वारा करते हैं। इस प्रकार ऋषियोंके सहयोगसे सतयुगमें पुनः वर्ण व्यवस्था और सनातन धर्मकी स्थापना होती है।

देवगण अपने अधिकारोंके अनुसार प्रजाको पुष्ट करते हैं और स्वयं मनुष्यों द्वारा किये गये यज्ञोंके भागसे पुष्ट होते हैं। इन्द्रका काम त्रिलोकीकी आधिदैवत रूपसे रक्षा करना, वृष्टिका नियन्त्रण करना और स्वर्गीय भोगोंको भोगते हुए स्वर्गको सुव्यवस्थित रखना है।

सतयुगके प्रारम्भसे ही मनुष्य सत्कर्म करके स्वर्ग पहुँचने लगते हैं। सृष्टिके संचालनका आधिदैवत दायित्व तो थोड़े-से कारकपुरुषके समान देवताओंका है। ये लोकपाल अथवा दिक्पाल कहे जाते हैं। इन्द्रादि देवमाता अदितिके बारह पुत्रोंके अतिरिक्त अग्नि, मरुत्, वसुगण, रुद्रगण जैसे देवता हैं। कुछ लोग इनकी संख्या तैंतीस मानते हैं। स्वर्गमें जो पुण्यात्मा जीव पहुँचते हैं, वे अपने पुण्योंका भोग करने वहाँ आते हैं। उनका वहाँ कुछ करणीय नहीं होता। उनकी व्यवस्था बनाये रखना इन्द्रका दायित्व है। इन्द्र इसीलिए देवराज हैं।

वर्तमान मन्वन्तरके मनु सूर्यपुत्र श्राद्धदेव हैं। इनको वैवस्वत भी कहते हैं। इक्ष्वाकु आदि दस पुत्र इनके हुए थे। इस मन्वन्तरके सप्तर्षि हैं—१. कश्यप, २. अत्रि, ३. वसिष्ठ, ४. विश्वामित्र, ५. गौतम, ६. जमदग्नि और ७. भरद्वाज। इस मन्वन्तरके इन्द्रका नाम पुरन्दर है।

आगामी मन्वन्तरमें सूर्यकी ही छाया पत्नीसे उत्पन्न सावर्णि मनु होंगे। अतः उसे सावर्णि मन्वन्तर कहा जायगा। इन सावर्णि मनुके पुत्र निर्मोक, विरज आदि होंगे। इस मन्वन्तरमें सप्तर्षि होंगे—१. गालव, २. दीप्तिमान, ३. परशुराम, ४. अश्वत्थामा, ५. कृपाचार्य, ६. ऋष्यश्रृङ्ग और ७. भगवान श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यासजी। ये सब ऋषि अमर हैं और वर्तमान मन्वन्तरमें ही त्रेता तथा द्वापरमें उत्पन्न हुए हैं। वे सामान्य मनुष्योंके लिए अदृश्य हैं।

सावर्णि मन्वन्तरके आरम्भमें ही भगवान वामन वर्तमान इन्द्र पुरन्दरसे इन्द्रपद छीनकर बलिको इन्द्र बना देंगे और स्वयं उपेन्द्र होकर बलिकी रक्षा करेंगे। उस समय देवताओंके गण सुतपस, विरज और अमृतप्रभ कहे जायँगे।

वस्तुतः बलिके साथ जो दैत्य इस समय सुतलमें हैं, भगवान वामनके नित्य सान्निध्यमें रहनेसे उनका आसुर भाव क्षीण होकर क्षय हो रहा है।

उनमें तपस्या, ध्यान और योगकी प्रवृत्ति जागनी स्वाभाविक है। अपने अधिपति बलिके प्रति उनकी पहिलेसे प्रीति और दृढ़ आस्था है। वे बलिका त्याग नहीं करना चाहते और बलि भी उनका त्याग कर नहीं सकते। भगवानका स्वभाव—

प्रनत कुटुंबपाल रघुराई।

अतः बलिके आश्रित दैत्योंको बलिके साथ ही देवत्व प्राप्त होना है। उनमें जो तपस्वी हैं वे सुतपस, जो ध्यान तत्पर हैं वे विरज और जो योग अथवा भक्तिमें लगे हैं, वे अमृतप्रभ नामके देवगण बन जायँगे।

बलि जब बलपूर्वक अमरावतीके अधिपति हो गये थे, तब भी उनका स्वभाव विलासी नहीं बना था। अब तो उन्हें पूरे मन्वन्तर भगवान वामनके श्रीचरणोंका सान्निध्य तथा अर्चा मिल रही है। पुरन्दर केवल शतक्रतु हैं, अतः स्वर्गाधिप होकर वे स्वर्गके सुखोंमें डूबे रहते हैं। इन्द्र पदकी समाप्तिके पश्चात् क्या होगा, इसकी उन्हें चिन्ता नहीं। असंख्य जीव इन्द्रत्व प्राप्त करके पुनः धरापर जन्म लेते हैं। पुरन्दरका क्या होगा, कोई कैसे कह सकता है।

बलिका क्या होगा इन्द्रत्वके पश्चात् यह अवश्य सुनिश्चित है। श्रीहरिका जो हो गया, उसका परिणाम कभी अनिश्चित नहीं रहता। वह तो अपने आराध्यके समीप ही पहुँचेगा। अपनाकर त्यागना उन सर्वेशका स्वभाव नहीं है।

बलि सुतलमें हैं तो अपने परिकरोंके साथ भगवान वामनके समीप हैं। सावर्णि मन्वन्तरमें स्वर्गाधिप इन्द्र होंगे तो भी सपरिकर अपने आराध्यके समीप रहेंगे। स्वर्गका सुख उन्हें सम्मोहित कर ले, यह सम्भव नहीं। उस इन्द्र पदकी अवधि पूर्ण होनेपर परिकरोंके साथ उन्हें अपने अधीश्वरके नित्यधाम ही जाना है। उनके इन्द्रत्व कालमें स्वर्ग विलास भूमिके स्थानपर विश्वेशकी लीला-संकीर्तन-स्थली ही अधिक रहना है।

सिंहावलोकन—

अधिकारी होना चाहिये किसी कर्म या पदका। अनधिकारी असफल होगा यदि किसी पदपर पहुँच जाय या कोई कार्यारम्भ करे। इन्द्रपद देवराज तथा त्रिभुवनके संरक्षकका पद है। यदि इन्द्रको बहुत अधिक सुख, सम्मान उपलब्ध है, वह स्वर्गका सम्राट् है तो उसका उत्तरदायित्व भी उतना ही बड़ा है। वह वर्षाका नियन्त्रक तो है ही, हाथोंका अधिदेवता है। इसका अर्थ हुआ कि वह समस्त मनुष्योंकी क्रियाशक्तिका प्रेरणा स्रोत है।

नियम है कि शतक्रतु ही इन्द्र हो सकता है। शक्र शब्द शतक्रतुका ही संक्षिप्त रूप है। सौ अश्वमेध यज्ञ जो पृथ्वीपर कर सका है, उसमें कितनी विशेषताएँ होंगी ? अश्वमेध यज्ञके लिए दिग्विजय करना आवश्यक है। एक अश्वमेध यज्ञमें अश्व ही कम-से-कम एक मास घूमना चाहिये। वैसे तो अश्व अनियन्त्रित रहता है। वह केवल मन्त्रप्रेरित होता है और वहाँ अवश्य जाता है, जहाँ उसे रोका जा सकता हो। केवल पृथ्वीके नरेश ही नहीं, असुर और देवता भी उस अश्वका अपहरण कर सकते हैं। अत: अश्वमेध यज्ञ करनेवाला इतना प्रतापी अवश्य चाहिये, जिसके स्वयं युद्धमें गये बिना ही उसका अश्व सर्वत्र जययात्रा करके लौट सके। कहीं कोई अवरोध न हो तो अश्व तीस दिनमें लौट सकता है।

एक अश्वमेध यज्ञमें कम-से-कम दो मास लगेंगे। ऋषियोंने सौ दिन माने हैं, यदि अश्व कहीं न रोका जाय। इसका अर्थ है कि क्रम बराबर चलता रहे, कोई बाधा न पड़े तो वर्षमें तीन अश्वमेध यज्ञ हो जाने सम्भव हैं। अर्थात् सौ अश्वमेध यज्ञ कम-से-कम तैंतीस वर्षमें होंगे।

ऐसा सम्भव नहीं होता। अश्व प्राय: रोका जाता है और संघर्ष करना पड़ता है। उस समय जो इन्द्र होगा, वह भी अपनी शक्तिभर किसीको सौ अश्वमेध यज्ञ करने नहीं देगा। महाराज सगर तथा आदिराज पृथुके यज्ञीय अश्वका अपहरण इन्द्रने ही किया था। इससे अनुमान किया जा सकता है कि सौ अश्वमेध यज्ञ करनेवाला कितना प्रतापी, शक्तिशाली चक्रवर्ती सम्राट् होगा।

एक अश्वमेध यज्ञमें दिग्विजयके पश्चात् दूसरेके समय या किसी अन्यके समय कहीं भी कोई विद्रोह कर सकता है। कहीं कोई अन्य समर्थ उत्पन्न हो सकता है। अपने सैनिक, सेनापति ही आहत, रुग्ण, मृत या असन्तुष्ट हो सकते हैं। ऐसी कोई बाधा न आवे तो तैंतीस वर्ष लगेंगे। यह कभी सम्भव नहीं होता। बहुत समय लगता है—वर्षों लग सकते हैं अश्वमेध यज्ञ करनेमें। युधिष्ठिरके सहायक स्वयं श्रीकृष्ण थे। अर्जुन जैसा धनुर्धारी अस्त्रज्ञ तथा भीमसेन जैसे प्रचण्ड वीर भाई थे। महाभारतके युद्धमें पृथ्वीके अधिकांश वीर मारे जा चुके थे; किन्तु तब भी युधिष्ठिर केवल तीन अश्वमेध यज्ञ कर सके। महाभारतके यज्ञके बाद युधिष्ठिरने तीस वर्ष राज्य किया। इसमें-से कम-से-कम बीस वर्ष अश्वमेध यज्ञोंमें लगे। एक यज्ञमें लगभग सात वर्ष। यह बात केवल इसलिए कही गयी, जिससे आप यह अनुमान कर सकें कि सौ अश्वमेध यज्ञ करनेवाला कितना पराक्रमी और अथक उद्योगी होता होगा।

स्वाभाविक बात है कि उसका शरीर और स्वास्थ्य इतना सुदृढ़ चाहिये कि वह इतने दीर्घकालका संयम सतत सह सके और श्रमशील रहे। जिन्होंने कोई यज्ञ स्वयं यजमान रहकर कराया है, वे जानते हैं कि यजमानको कितना संयम और श्रम करना पड़ता है।

अश्वमेध यज्ञमें दीक्षित यजमानको बहुत-से नियम स्वीकार करने पड़ते थे। कठोर तपस्याका जीवन उसे और उसकी पत्नीको व्यतीत करना पड़ता था। ब्रह्मचर्यका पालन तो अनिवार्य था ही, अलंकार, तैलादि सब त्याज्य हो जाते थे। वेदीपर कुशके आस्तरणपर शयन, केवल एक बार दिनरातमें हविष्यान्न भोजन, मृगचर्मका उत्तरीय और धोती मात्र वस्त्र और त्रिकाल सन्ध्या-स्नान। शयन-विश्रामके लिए कठिनाईसे दिन-रातमें चार घण्टे उसे मिलते थे। उसमें भी उसे प्रायः अतिथि-सेवा करनी पड़ती थी। बराबर अग्निके समीप बैठे रहकर आहुति देनी थी। अश्वमेध यज्ञके पूरे समयमें उसे और उसकी पत्नीको यह अत्यन्त कठोर तपस्याका जीवन व्यतीत करना था।

उसे कितना सावधान, सेवा-तत्पर रहना चाहिये, यह भी ध्यान देनेकी बात है। अश्वमेध यज्ञमें सैकड़ों ऋषि-मुनि यज्ञ करानेवाले होंगे, सेवक, सहायक, अतिथियोंकी संख्या पृथक। इतने दीर्घकालमें किसी ऋत्विक

या सदसस्पतिको रुष्ट होकर यज्ञका त्याग नहीं करना चाहिये। सबको पूर्णतः सन्तुष्ट रखा जाना चाहिये।

यजमान यज्ञकालमें—इतने दीर्घकालमें न क्रोध कर सकता, न किसीको दण्ड दे सकता। उसे अत्यन्त विनम्र बने रहना चाहिये। इतना अधिक सम्पन्न और उदार होना चाहिये कि अतिथियों, अभ्यागतों, सेवकोंको बराबर सन्तुष्ट रखें। स्वाभाविक है कि इतने दीर्घकालीन यज्ञका व्यापक प्रचार स्वतः होगा। फलतः दूर-दूरसे दर्शक, याजक आदि बड़ी संख्यामें आते ही रहेंगे। उन सबकी सुव्यवस्थाका दायित्व भी यजमानपर ही है।

इस सबका अर्थ है कि अश्वमेध यज्ञ करनेवालेको बहुत शक्तिशाली, अत्यन्त सुदृढ़ शरीर, तप-तितीक्षाका अभ्यस्त, मनोजयी, स्वभावसे विनम्र, निर्लोभ, दानशील, बहुत सम्पन्न, बहुत उदार होना चाहिये। वह लोकोत्तर शक्तिशाली एवं सम्पन्न तो हो ही, लोकोत्तर सद्‌गुण सम्पन्न भी हो। सबका हृदय जीतकर उनका स्नेह, सहयोग पा सके तभी अश्वमेध यज्ञ करनेमें सफल होगा।

परीक्षित-पुत्र जनमेजयके पश्चात् अश्वमेध यज्ञ करनेका मन केवल सम्राट् समुद्रगुप्तने किया था; किन्तु वह भी उनका आत्मसन्तोष ही था। उनकी दिग्विजय भारततक ही सीमित थी। शकारि विक्रमादित्य समर्थ थे। वे चाहते तो अश्वमेध यज्ञ कर सकते थे; किन्तु उन परपीड़ा-कातर महापुरुषको दूसरोंके कष्ट दूर करनेसे अवकाश ही नहीं मिलता था।

नेपोलियन और हिटलरका नाम लेना भी इस विषयमें अपराध है। अश्वमेध यज्ञका संकल्प अत्याचारी, आततायी, अहंकारी विश्व-विजेता बननेकी कलुषित कामनावाला कर नहीं सकता। वह तो सर्वथा अनधिकारी है।

'आपके अनुग्रहसे प्रजा-परिजन हमारे अनुकूल हैं। हमारा कोष भली प्रकार भरा पूरा है। हमारे विरोधी भी हमारा अहित करनेमें संकोच करने लगे हैं।' युधिष्ठिरने राजसूय यज्ञसे पूर्व श्रीकृष्णसे कहा था—'आपकी आज्ञा हो तो महायज्ञ राजसूय यज्ञका संकल्प हम करें। एकत्र कोष तथा शक्तिसे ब्राह्मणोंकी, दीन एवं अभावग्रस्तोंकी सेवा तथा विद्वानों, कलामर्मज्ञों, सुहृद-सम्बन्धियोंके सत्कारका सुअवसर प्राप्त हो।'

यह उदारता, इतनी उदात्त दृष्टि न हो तो सैन्य बलसे अश्वमेध यज्ञ सम्भव होगा ? आजके विश्व-विजयके स्वप्नदर्शी तो तप, त्याग, तितीक्षाके नामसे हाथ जोड़ लेंगे।

इन्द्रका पद त्रिभुवनमें एक ही है और वह है देवराजका पद। जहाँ वह अत्यन्त दुर्लभ है, वहीं उसका अधिकारी होना भी अत्यन्त दुष्कर है। मनुष्य रूपमें ही शक्ति, साधन, सद्‌गुणसे लोकोत्तर देवतात्मा हुए बिना उस पदका अधिकारी कोई हो नहीं सकता।

इतनेपर भी भारत भूमि वह पुण्यभूमि, दिव्यभूमि है कि यहाँ इन्द्र पदकी अवहेलना करके परम पदकी प्राप्तिके अधिकारी प्रायः होते ही रहे हैं। परम पुरुष भी भारतमें अवतीर्ण होनेको बार-बार प्रलुब्ध होते हैं। भारत ही इन्द्र पदके योग्य अधिकारी सदा देता आया है। अनेक बार इन्द्रके रहते, विरोधी-प्रयत्न पूरी शक्तिसे करते रहनेपर भी भारतके प्रतापी सम्राट् शतक्रतु होनेमें सफल हुए हैं। अवश्य ही तब उन्हें शरीरान्तके पश्चात् तबतक ब्रह्मलोकमें रहकर प्रतीक्षा करनी पड़ी है, जबतक उस समय विद्यमान इन्द्रका समय पूरा न हो जाय; क्योंकि एक बार जो इन्द्र हो गया, एक मन्वन्तरका समय उसका शासनकाल होता है।

इस व्यवस्थामें असुर व्यवधान डालते हैं। वे तपस्या करके शक्ति अर्जित करते हैं और तब बलपूर्वक स्वर्गपर अधिकार कर लेते हैं। सुरोंके साथ सुरेन्द्रको भी स्वर्गसे भागनेपर विवश करते हैं। ऐसी अवस्थामें विश्वेशको हस्तक्षेप करना पड़ता है। वे सुरोंको और शक्रको उनका स्थान न दिलायें तो धर्मकी, यज्ञकी, शास्त्रकी मर्यादा और स्वयं विश्वेशके विधानकी मर्यादा कैसे सुरक्षित रह सकती है। धर्मके वही प्रभु हैं, अतः धर्मका जो फल जिसके लिए विहित है, उसे उसके लिए सुनिश्चित भी तो उन्हें ही रखना है।

बलि मनुष्य नहीं थे। यद्यपि मृत्युलोक पृथ्वीपर आकर देवता और असुर भी कोई कर्म करें तो मनुष्योंके समान ही वे उस कर्मके फलभोक्ता बन जाते हैं। सुर-असुर दोनों भोग योनियाँ हैं। उनके देह दिव्य हैं। लेकिन वे मानव देह चाहे जब, चाहे जितने समयको धारण कर सकते हैं। ऐसा देह धारण करके यदि वे पृथ्वीपर आकर कोई कर्म करते हैं तो उतने समयके लिए वे कर्मयोनिके ही प्राणी माने जाते हैं।

बलि या दूसरे कोई असुर पृथ्वीपर आकर अश्वमेध यज्ञ प्रारम्भ कर सकते हैं। बलि स्वर्गपर अधिकार करनेके स्थानपर पहिले पृथ्वीपर अश्वमेध यज्ञ ही करते तो पृथ्वीके कोई नरेश तो उनका अश्व रोकनेमें समर्थ थे नहीं और सुरोंसे अधिक सामर्थ्य तो वे प्राप्त ही कर चुके थे। तब उनके अश्वमेधमें बाधा पड़नेकी कोई सम्भावना नहीं थी। अवश्य ही उनको इन्द्र पदकी प्राप्तिके लिए सौ अश्वमेध यज्ञ पूर्ण कर लेनेपर भी प्रतीक्षा करनी पड़ती। बलपूर्वक इन्द्रको हटाया जाय तो विश्वेश हस्तक्षेप करेंगे ही।

असुरोंमें प्रतीक्षा करनेका धैर्य ही हो तो वे असुर कहे ही क्यों जाय ? उनमें शक्ति, तप, तितीक्षा, उदारता आदि सद्गुण सुरोंसे भी अधिक हैं। कम-से-कम बलिमें तो थे ही, लेकिन प्रतीक्षा करनेका धैर्य नहीं था। शक्ति प्राप्त होनेपर उन्हें दूसरे स्वर्गजयी असुरोंके समान, अपने कुलपुरुष हिरण्याक्षके समान सबसे पहिले स्वर्गपर अधिकार करनेकी सूझती थी। पहिले साधन न सूझकर शत्रुताका परिशोध सूझे तो परिणाम अच्छा नहीं हुआ करता।

बलिने भले विचार न किया हो; किन्तु शुक्राचार्यजीने यह विचार कर लिया था। शक्तिके पानेके अनेक मार्ग सम्भव हैं। यज्ञसे जो शक्ति प्राप्त होती है, उससे अधिक शक्ति तप, मन्त्रादिसे पायी जा सकती है। हिरण्यकशिपुने तपस्यासे शक्ति प्राप्त की थी। बलिको शुक्राचार्यकी कृपासे उनके मन्त्र-प्रयोगसे शक्ति मिली थी। कहना चाहिये कि बलिको उनकी श्रद्धा और गुरु-भक्तिसे शक्ति प्राप्त हुई। लेकिन केवल शक्ति पर्याप्त नहीं है। जिस पदके लिए जिस प्रकारसे जो शक्ति पाना विहित है, उस प्रकारसे वह शक्ति न पायी जाय तो उस पदके लिए जो अनुभव अपेक्षित है, वह अपूर्ण रह सकता है। अतः उस पदकी प्राप्तिके लिए वही पद्धति अपनायी जानी चाहिये।

शुक्राचार्यने बलिको जो सम्मति स्वर्गपर अधिकारके पश्चात् दी, वह पहिले भी दे सकते थे; किन्तु वे असुर गुरु हैं और सुरगुरु बृहस्पतिको नीचा दिखानेकी उत्कण्ठा उनमें भी तीव्र है। इसी उत्कण्ठाके कारण स्वर्गपर आधिपत्यकी त्वरा उनमें भी जागी। बलि सौ अश्वमेध यज्ञ करके इन्द्रत्वकी काल-प्रतीक्षा करें, इससे शुक्राचार्य अपने वैशिष्ठ्यकी स्थापना नहीं कर सकते थे। व्यक्ति चाहे जितना, बुद्धिमान, तपस्वी हो, जब अपने व्यक्तित्वके अहङ्कारको अलंकृत करनेकी धुन उसपर चढ़ती है, तब उससे विश्वेश एवं

उनके विधानकी उपेक्षा होती ही है। यही उपेक्षा उसकी असफलताको आकर्षित करती है।

बलिकी परम्परा अत्यन्त शुद्ध थी। सृष्टिकर्ताके पौत्र कश्यपजीका पुत्र हिरण्यकशिपु प्रशप्त भगवत्पार्षद ही था और प्रह्लादजीकी भक्तिने तो पिताके आसुर भावको सम्पूर्ण समाप्त कर ही दिया था। प्रह्लादके पुत्र विरोचन लोकोत्तर धर्मात्मा एवं दानी हुए। दैत्यकुलमें वे एक मात्र ऐसे हुए कि इन्द्रके साथ ब्रह्मलोक जा सके ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिए। सृष्टिकर्ताके उपदेशसे उनमें ब्रह्मज्ञान आया नहीं, यह भिन्न बात है; किन्तु वे जिज्ञासु तो थे ही और उन्हें ब्रह्माने भी उपदेशका अनधिकारी नहीं कहा था। इसका अर्थ ही है कि वे साधन चतुष्टय सम्पन्न तो थे ही।

विरोचनके पुत्र बलिमें आसुरभाव पितृपरम्परासे नहीं आया था। यह आया था संग-दोषसे। उनके सब परिकर दैत्य थे। अतः इस आसुर-भावका निराकरण भी संगके द्वारा ही होना था। भगवान वामनका संग उन्हें अन्तमें प्राप्त हो गया। अत: वे संगदोषसे शुद्ध होकर शक्र बन जायँगे।

बलिमें धर्म था, दानशीलता थी, नम्रता थी, श्रद्धा थी। उनका सबसे बड़ा सद्‌गुण विवेक और सत्यनिष्ठा। उनमें इतनी दृढ़ता थी कि जिस गुरुकी कृपासे उन्हें सब कुछ प्राप्त हुआ था, जिस गुरुकी शक्तिमें उनका अटूट विश्वास था, यह जानते-मानते भी गुरुके रोषसे उनका सर्वस्व नष्ट हो सकता है, उस गुरुकी, उस गुरुकी सम्मति एवं स्पष्ट आज्ञाकी उन्होंने इसलिए उपेक्षा कर दी, क्योंकि वह आज्ञा सत्यके, विवेकके, धर्मके विपरीत लगी उन्हें। यद्यपि वह आज्ञा उनके ही स्वार्थको सुरक्षित रखनेके लिए दी गयी थी।

बलि तबतक भी भगवान वामनको शत्रु ही मानते रहे थे, जबतक वामनने उन्हें सुतल जानेका आदेश देकर स्वयं उनका दुर्गपाल बने रहनेको नहीं कहा था। वामनको शत्रु मानते भी अपने वचनकी रक्षाके लिए बलिने उन्हें अपना सर्वस्व और शरीरतक अर्पित कर दिया था। वामनने जब उन्हें बन्धनमें डलवा दिया—तब भी उन्होंने कोई विरोध नहीं किया। अपने समर्पण-दानके प्रति वे सच्चे बने रहे।

बलिका शासन बहुत उत्तम था। इन्द्र बनकर जो सुव्यवस्था उन्होंने सृष्टिमें स्थापित की थी, वैसी व्यवस्था फिर रामराज्यमें ही सम्भव हुई। धर्म

चतुष्पाद पूर्ण था। लोगोंके चित्त शान्त, संयमी हो गये। अभाव-असंतोष नहीं रह गया। लेकिन इस व्यवस्थाके बड़े दोषपर बलिका ध्यान ही नहीं गया। धर्म देवशक्तिके बलपर मनुष्यसे कराया नहीं जाना चाहिये। श्रीराम तो पृथ्वीपर शासक थे। अत: शासकका ठीक कर्तव्य-पालन करना था उन्हें। लेकिन बलि स्वर्गमें इन्द्र पदपर थे। एक इन्द्रके कालमें इकहत्तर बार चारों युग आते हैं। इन्द्रको सृष्टिकर्ताके विधानमें हस्तक्षेप करके युग-धर्मको रोकने या परिवर्तित करनेका अधिकार नहीं है। उसे पृथ्वीपर युगानुरूप धर्म रहने देना चाहिये। यदि युग आवश्यक न होते तो सर्व समर्थ विश्वनियन्ताके विधानमें उनकी सत्ता ही नहीं होती। किसी भी एक युगको बनाये रखनेसे सृष्टिका सन्तुलन नष्ट होता है।

कुछ ऐसे पुण्यात्मा जीव हैं जो सतयुगमें ही मनुष्य जन्म पाने योग्य हैं। त्रेता-द्वापरका वातावरण भी उनके योग्य नहीं होता। उस समय उन्हें स्वर्गमें ही रखना होता है। दूसरी ओर कुछ इतने अल्पपुण्य होते हैं कि सतयुग, त्रेता, द्वापरमें उन्हें स्थावरसे लेकर पशु-पक्षीकी योनि ही मिल सकती है। केवल कलियुगमें ही उन्हें मनुष्य योनिमें आनेका अवसर मिल सकता है।

यह ऐसा ही है जैसे हीरा रखनेको तिजोरी चाहिये और फल रखनेको शीतल आलमारी। फल तिजोरीमें और हीरा शीतल आलमारीमें सुरक्षित नहीं रहेगा। सृष्टिमें बबूल जैसे वृक्ष उपवनमें नहीं लगाये जा सकते। लेकिन वनोंको सर्वत्र उपवन भी नहीं बनाया जा सकता। उपवन बहुत सुन्दर होते हैं; किन्तु संसारमें सर्वत्र उपवन ही रहे, वन समाप्त ही कर दिये जायँ तो बहुत अधिक हानि होगी संसारकी।

इसलिए बलिकी व्यवस्था चाहे जितनी उत्तम थी, वह विश्वेशके विधानके अनुरूप नहीं थी। उसकी उत्तमताका हेतु भी आसुरी आवेश था। इसलिए विश्व-नियन्ता उसे अधिक समयतक चलने नहीं दे सकता था।

अनेक बार मनुष्यके लिए दो बुराइयोंमें-से एक अथवा दो अच्छाइयोंमें-से एकको चुनना अनिवार्य हो जाता है। अत: ऐसे अवसरपर छोटी बुराई अथवा बड़ी अच्छाई चुनकर दूसरी बुराई या अच्छाईकी उपेक्षा करनी पड़ती है। भगवान विष्णुके सम्मुख भी स्थिति ऐसी ही बन चुकी थी।

बलि धर्मात्मा थे। गुरुभक्त् थे। भले उन्होंने बलपूर्वक इन्द्रपद तथा स्वर्ग अधिकृत कर लिया था; किन्तु उनकी व्यवस्था संसारके लिए सुखद थी। अन्याय, अत्याचार, उत्पीड़न दैत्य भी कहीं नहीं कर रहे थे। सत्पुरुषोंको बलिका शासन सन्तुष्ट बनाये था।

दूसरी ओर देवी अदितिने भक्ति सहित विधिपूर्वक आराधना की थी। उनकी आराधना असफल हो जाय तो पूरा भक्ति एवं अनुष्ठान शास्त्र ही असफल हो जाता। इसलिए देवी अदितिका अभीष्ट पूरा किया जाना आवश्यक था और वह अभीष्ट ही था कि उनके पुत्रोंको उनका स्थान स्वर्ग ही दिलाया जाय। बलिको स्वर्गसे हटाये बिना देवमाताका अभीष्ट पूरा नहीं किया जा सकता था।

कर्मसे—धर्माचरणसे, दानसे तथा सत्यसे भी श्रीहरिकी आराधना श्रेष्ठ है। भक्ति सर्वोपरि है। यह बात शास्त्र और संत सभी स्वीकार करते हैं। अतः देवमाताकी आराधनाको, उनकी भक्तिको बलिके सत्य, दान, धर्मपर श्रेष्ठत्व दिया ही जाना चाहिये था। देवमाताकी आराधनाको बलिको स्वर्गसे हटाये बिना सफलता मिल नहीं सकती थी। अतः बलिको स्वर्गसे हटाना तो अनिवार्य हो गया था।

बलिने स्वर्गपर अधिकार किया था और सौ अश्वमेध यज्ञ पूरे कर लेते तो उनका अधिकार वैध नहीं हो जाता। उसे करके भी उन्हें एक मन्वन्तर प्रतीक्षा ही करनी पड़ती। बलिने जो सुव्यवस्था स्थापित की थी, वह भी सृष्टि-विधानसे संगत नहीं थी। युगोंको अपने क्रमपर आने देना आवश्यक था और जो युग जैसा होता है, उसे वैसा ही होना चाहिये। इस दृष्टिसे भी बलिको इन्द्रपदसे हटाया ही जाना चाहिये था।

प्रश्न यही था कि बलिको हटाया कैसे जाय। नियम यह है कि जबतक किसीका पाप-प्रारब्ध न जागे, उसे दुःख मिलता नहीं। बलिका कोई पाप-प्रारब्ध नहीं था। वे कर्मयोनिके प्राणी नहीं थे कि उनका कोई नया प्रारब्ध बनता। पृथ्वीपर आकर उन्होंने मनुष्य रूप और कर्मयोनि स्वीकार भी की तो यज्ञ, दान आदि पुण्यकर्म कर रहे थे। इसलिए उनके साथ बल प्रयोग नहीं किया जा सकता था।

श्रीहरिने धर्मकी मर्यादाका पूरा सम्मान किया। बलिसे उन्होंने याचना की। बलिने उन्हें दान किया; किन्तु उसमें उसका त्रिलोकेश होनेका अहङ्कार था। इस अहङ्कारके कारण ही उन्हें अल्पकाल बन्धनमें रहना पड़ा।

बलिने अपना सर्वस्व दान किया। भले अपने पुण्योंसे उपार्जित लोक भी वामनको मापने दिया; किन्तु इस महादानका फल होना चाहिये। सुतलका एक मन्वन्तर तकका ऐसा निष्कण्टक साम्राज्य जिसमें कोई भय, शंका कभी न आवे, इस महादानका फल होकर मिला उन्हें।

बलिको सौ अश्वमेध यज्ञ पूरे कर लेनेपर भी इन्द्रपद तो इस मन्वन्तरके अनन्तर ही मिलना था। वह स्वत्व उनका सुरक्षित ही नहीं, सुनिश्चित हो गया है। ऊपरसे यह भी कि उन्हें उसे उपलब्ध करनेके लिए अब कुछ नहीं करना है। वामन भगवान ही उन्हें वह पद दे देंगे।

भगवानको भी बलिके सम्मुख याचक होकर जाना पड़ा, यह तो बलिके धर्मका सम्मान है; किन्तु बलिको भगवत्प्राप्ति हुई, बलिके द्वारपर भगवान वामन सदा गदापाणि उपस्थित रहते हैं, यह भगवानका भक्तवात्सल्य एवं अतिशय औदार्य है। भगवान किसी धर्मके फल नहीं हैं। किसीका कोई धर्म न भगवत्प्राप्ति करा सकता और न भगवानको विवश बना सकता। बलिने सम्पूर्ण समर्पण किया, भले यह समर्पण भगवानको शत्रु मानकर किया, श्रीहरि किसीकी शत्रुताको देखते कहाँ हैं। वे तो सदासे ही शत्रुता करनेवालोंको भी सद्गति देते आये हैं। उनके श्रीचरणोंतक प्राणी पहुँचे, किसी भी भावसे उनका स्मरण करे, मनमें वे किसी भी प्रकार आवें, सदा अपनाते ही हैं। मनमें आनेपर उसे अपना धाम ही देते हैं। अतः बलिके समर्पणको उन्होंने सम्यक् सेवाके रूपमें ही स्वीकार किया।

बलिके आसुरभावको नष्ट करके उन्हें देवत्व प्रदान करनेका दायित्व भी वामनने स्वयं ले लिया। यही उन शरणागत-वत्सलका स्वभाव है। अपने चरणोंमें पहुँचनेवालेकी त्रुटि वे देखते ही नहीं हैं। उस आश्रितकी समस्त त्रुटियोंको स्वयं सुधार लेते हैं। ऐसे सुधारते हैं कि जिसे सुधारा जा रहा है, उसे भी यह अनुभव नहीं होता कि उसमें कोई परिवर्तन हो रहा है।

बलिपर भगवानने अनुग्रह तब नहीं किया, जब बलिने उन्हें सर्वस्व समर्पण कर दिया। बलिपर उनका अनुग्रह तो तभी प्रकट हो गया, जब

बलिमें शुक्राचार्यके प्रति श्रद्धा जागी। भगवदनुग्रहके बिना सुदृढ़ गुरुभक्ति क्या किसीको मिल सकती है ?

'त्वमैवदत्तं पदमैन्द्रमूर्जितं' यह बात प्रह्लादजीने यों ही नहीं कही। निर्विघ्न, बिना संघर्ष बलिको इन्द्रपद जिस गुरुभक्तिके प्रसादसे प्राप्त हुआ, वह भक्ति स्वयं ही भगवत्कृपासे प्राप्त होती है।

ऐश्वर्य प्राप्त होकर भी कोई प्रमत्त न हो, उसमें संयम, सद्भाव एवं गुरुभक्ति बनी रहे, यह भगवानका ही अनुग्रह होगा, तभी सम्भव है। इन्द्रपद पाकर भी बलि विलासी नहीं बने और आचार्य शुक्रके प्रति विनीत बने रहे, आचार्यका आदेश मानकर अश्वमेध यज्ञ करने धरापर आये, दीर्घकालीन तपस्या-तितीक्षाका जीवन उन्होंने स्वीकार कर लिया, यह भी उनपर भगवत्कृपा ही थी।

आचार्य शुक्रने वामनके सम्बन्धमें बलिको पहिलेसे सावधान किया। जिस किसीपर श्रीहरि कृपा करते हैं; जिसे अपनाना चाहते हैं, उसे स्वार्थ एवं सुख प्रलुब्ध नहीं कर पाते। यह तो तभी बहुत स्पष्ट हो गया कि बलि भगवानके अनुग्रह-प्राप्तिके अधिकारी हो गये हैं, जब उन्होंने अपने उन आचार्यकी सम्मति तथा स्पष्ट आदेशकी भी उपेक्षा कर दी, जिन आचार्यमें उनकी प्रगाढ़ भक्ति थी।

वामनावतारका चरित धर्मकी महानतम शक्तिको समझाता है, भगवानके असीम अनुग्रहका स्वरूप स्पष्ट करता है।

भगवानके अनुग्रहका अनुभव करके बलि केवल प्रातःस्मरणीय ही नहीं हुए, वे द्वादश भागवताचार्योंमें-से एक हो गये। उन्हें भगवद्भक्ति तथा भगवानकी अहैतुकी कृपाका सम्पूर्ण स्वरूप अवगत हो गया।

कल्पान्तर-कथा

धुन्धुका इन्द्रत्व–

अनन्त नाम, अनन्त गुण, अनन्त रूप और अनन्त लीलाएँ श्रीहरिकी हैं। श्रीरामचरितमानसमें कहा गया—

कलप-कलप प्रति प्रभु अवतरहीं। चारु चरित नाना विधि करहीं॥

हम जितने अवतारोंसे परिचित हैं, वे प्रत्येक कल्पमें होते हैं। युगावतार तो प्रत्येक युगमें होते हैं। इन कल्प-कल्पमें होनेवाले अवतारोंके चरितोंमें कुछ अन्तर भी होता है। अत: एक ही अवतारके चरित जब दो ग्रन्थोंमें भिन्न-भिन्न मिलते हैं तो उन्हें कल्प-भेद समझना शिष्ट परम्परा है।

भगवान वामनका चरित वामन पुराणमें ही दो कल्पका वर्णित है। उसमें-से मुख्य चरित तो वही है जो श्रीमद्भागवतके अष्टम स्कन्धमें है और अबतक इस पुस्तकमें वर्णित हुआ है। किन्तु उससे पृथक भी एक कल्पके वामन-चरितका वर्णन वामनपुराणके ही अध्याय ७५ में है। इस चरितका उल्लेख संस्कृतके प्राचीन कोष शब्द-कल्पद्रुममें भी हुआ है।

भगवान वामनका यह दूसरा चरित कूर्म कल्पका है। जबकि श्रीमद्भागवतमें वर्णित वामन-चरित पाद्म कल्पका है। इस कल्प-भेदके अतिरिक्त भी इस चरितकी अनेक विशेषताएँ हैं। इस वामनावतारका दैत्यराज बलिसे कोई सम्बन्ध नहीं है। यह चरित कूर्म कल्पके चतुर्थ कलिके प्रारम्भका है।

ब्रह्माजीके एक दिनका नाम एक कल्प है। ब्रह्माजीकी आयुके ५० वर्ष बीत चुके हैं। अत: अबतक अठारह हजार कल्प बीत चुके हैं—यह बात हम स्मरण रखें तो कल्प-भेदकी कथाओंसे हमें कोई मतिभ्रम नहीं होगा।

कल्प-भेदके अतिरिक्त भी इस कथामें जो विशेषताएँ हैं, उन्हें ध्यानमें रखे बिना कथाको समझनेमें कठिनाई होगी। यह वामनावतार उस समय हुआ, जब हिरण्यकशिपु तपस्या करनेमें लगा था। इसका अर्थ हुआ कि उस समय तक प्रह्लाद उत्पन्न ही नहीं हुए थे। वे माताके गर्भमें थे; क्योंकि हिरण्यकशिपु तप करने गया तो प्रह्लाद गर्भस्थ थे।

उस समयतक देवता अमर नहीं हुए थे। उनको मारा जा सकता था। अमर तो वे अमृत पीकर हुए। अमृत निकला समुद्र-मन्थनसे। समुद्र-मन्थनके समय दैत्योंके नायक प्रह्लादके पौत्र बलि थे।

अवश्य ही उस समयतक हिरण्याक्ष-वध हो चुका था; क्योंकि हिरण्याक्षके वधसे ही क्रुद्ध होकर हिरण्यकशिपुने अपने भाईको मारनेवाले विष्णुसे बदला लेनेका निश्चय किया था। इस निश्चयको सफल बनानेके लिए शक्ति प्राप्त करना आवश्यक था। इसीलिए वह तपस्या करने गया।

दैत्यराज हिरण्यकशिपु जब तपस्या करने चला गया, तब देवताओंको अवसर मिला। उन्होंने दैत्योंके शिविरपर आक्रमण कर दिया। दैत्योंने उस समय पृथ्वीपर अपना शिविर स्थापित कर लिया था; क्योंकि हिरण्यकशिपुको कर्मलोकमें ही तप करना था। दैत्योंने उसकी प्रतीक्षाका निर्णय किया था। परन्तु देवता धरापर दैत्योंका निवास अच्छा नहीं मानते थे।

नायकरहित दैत्य युद्धमें देवताओंका सामना नहीं कर सके। पराजित होकर उन्हें पलायन करना पड़ा। सब ऐसे समय साथ रह नहीं सकते थे। पराजित सेना जब भागती है तो तितर-बितर होकर भागती है। यह अच्छा भी होता है; क्योंकि पीछा करनेवाला शत्रु भागते लोग यदि साथ हों तो उनपर आघात करेगा। जब लोग बिखरकर चारों ओर भागें तो उनका पीछा करना सरल नहीं रह जाता।

दैत्योंमें सब इधर-उधर भागे। जिसे जहाँ भी शरण मिल सकी, छिप गया। देवताओंने उनके शिविरको लूट लिया। इसी समय इन्द्र हिरण्यकशिपुकी गर्भवती पत्नी कयाधूको बन्दिनी बनाकर ले चले थे; किन्तु देवर्षि नारदने इन्द्रको रोक दिया। कयाधूके इसी गर्भसे प्रह्लादकी उत्पत्ति हुई।

दैत्य शीघ्र संगठित नहीं हो सके। उनका साहस नष्ट हो गया था। उनका नायक हिरण्यकशिपु घोर तप करने चला गया था। उसे समाचार भी नहीं दिया जा सकता था। ऐसा करनेसे उसके तपमें विघ्न पड़ता। कुछ पता नहीं था कि उसे लौटनेमें कितने वर्ष लगेंगे। वह अपने सुहृदोंको कह ही गया था कि चाहे जितना समय लगे, वह सृष्टिमें अजेय होकर ही लौटेगा। अतएव यह सुनिश्चित था कि उसे बहुत अधिक समय लगेगा।

दैत्योंके लिए दूसरा कोई उपाय नहीं था। हिंरण्यकशिपु ही उनकी आशाका केन्द्र था। इसलिए समय चाहे जितना लगे, उन्हें प्रतीक्षा ही करनी थी।

उस समय तक दैत्योंकी मंख्या भी सीमित ही थी। दैत्यमाता दितिके दो ही पुत्र थे—हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु। इनमें-से एकको वाराहने मार दिया था और दूसरा तप करने चला गया था। अब तो इन दोनोंके पुत्र बच गये थे। अभी उन पुत्रोंके पुत्र हुए नहीं थे। केवल सेवक, सहायक कुछ और थे। अतः अपनी अल्प संख्याके कारण भी दैत्य देवताओंके विरुद्ध कुछ कर नहीं सकते थे।

हिरण्यकशिपु इतना अविवेकी नहीं था कि अपने परिवारको सर्वथा असहाय त्यागकर अनिश्चित दीर्घकालतकके लिए तप करने चला जाय। वह अपने शत्रु देवताओंसे सहानुभूतिकी भी आशा नहीं कर सकता था और न सुरोंके स्वभावसे अपरिचित था; किन्तु वह जानता था कि असुर कुल अल्प नहीं है और वे अनकहे भी परस्पर इतने सम्बद्धहैं कि एकको दूसरेसे सहायताकी याचना नहीं करनी पड़ती। दिति, दनु, कालका—ये कश्यप-पत्नियाँ परस्पर अत्यन्त घनिष्ठ सखियाँ हैं। उनकी सन्तान दैत्य, दानव, कालकेय परस्पर सगे भाईके समान ही रहते हैं। अतः हिरण्यकशिपुके न रहनेपर दानव और कालकेयोंका आश्रय दैत्योंको प्राप्त हो जायगा।

हिरण्यकशिपुकी आशा असफल नहीं हुई। हुआ केवल इतना कि सुरोंने शीघ्रता करली थी और दैत्य शिविर पृथ्वीपर था, अतः सुर अपने अभियानमें सफल हो गये थे। यदि हिरण्यकशिपु अपना परिवार अधोलोकोंमें छोड़ गया होता तो सुर इतना दुस्साहस नहीं कर सकते थे।

सुरोंके दुस्साहस और दैत्योंकी पराजयका समाचार पाकर दानवोंमें श्रेष्ठ धुन्धु क्रुद्ध हो उठा। यह कश्यपजीका दनुसे उत्पन्न पुत्र भले कलाकृति और मायाविद्यामें मयके समान न हो, बलमें मयसे वरिष्ठ ही था। उसने सुरोंको उचित शिक्षा देनेका निर्णय किया।

'समस्त सृष्टिसे अजेय होनेका संकल्प करनेकी आवश्यकता क्या है ?' धुन्धुने सुरोंसे संघर्ष करनेसे पूर्व तप करके शक्तिशाली बन जाना आवश्यक

माना; क्योंकि असाधारण शक्ति तो तपके बिना मिलती नहीं। लेकिन हिरण्यकशिपुके संकल्पको सुनकर उसने कहा—'संकल्प जितना व्यापक होगा, सृष्टिकर्ता उसे पूरा करनेमें उतना संकोच करेंगे, उतने बिलम्बसे आवेंगे। हम असुरोंमें तो विवाद है नहीं। मानव हमसे दुर्बल हैं ही। केवल सुरोंके अजेयत्वकी प्राप्तिका संकल्प पर्याप्त है।'

धुन्धुका गणित दुर्बल नहीं था, यह मानना पड़ेगा। उसने कठोर तप प्रारम्भ किया और सचमुच सृष्टिकर्ता शीघ्र सन्तुष्ट होकर उसके समीप वरदान देने पधारे। उसने उन हंसवाहनकी स्तुति की। ब्रह्माजीने उससे वरदान माँगनेको कहा।

'मैं समस्त सुरोंसे अजेय हो जाऊँ!' सीधा वरदान माँगा धुन्धुने। वह जानता था कि अमरत्वका वरदान अलभ्य है। वह सृष्टिकर्ता दिया नहीं करते हैं। घुमा-फिराकर कुछ माँगनेमें उसकी आस्था नहीं थी। वह शूर था, कूटनीतिज्ञ नहीं। उसका स्वभाव सीधी स्पष्ट बात कहना और शत्रुपर सीधी चोट करना था।

'एवमस्तु!' सृष्टिकर्ताको भी कुछ सोचना नहीं पड़ा। वे जानते हैं कि श्रीहरि, सदाशिव तथा महाशक्तिकी गणना सुरोंमें सम्भव नहीं। यदि वरदानसे कोई समस्या उत्पन्न भी हुई तो इनमें-से कोई उसे सुलझा देगा। अतः ब्रह्माजी प्रसन्नतापूर्वक वरदान देकर अपने लोक चले गये।

'सुरोंने असावधान दैत्यकुमारोंपर आक्रमण किया था।' धुन्धुने वरदान मिलनेके पश्चात् विलम्ब नहीं किया। उसने दानवोंको एकत्र करके आदेश दिया—'अमरावतीको अविलम्ब घेर लो। हम इन दुष्ट देवताओंको मार ही देंगे।'

धुन्धु जितना असावधान देवताओंको समझता था, उतने असावधान वे थे नहीं। धुन्धुकी तपस्याका उन्हें पता था। उसके वरदानको भी वे जान चुके थे। उसके आक्रमणकी योजना भी उनसे अविदित नहीं रही थी। रह सकती नहीं थी।

धुन्धु यह भूल ही गया था कि सबकी इन्द्रियोंके अधिष्ठाता तो देवता ही हैं। अतः कोई शरीरधारी ऐसा कोई काम कर कैसे सकता है, जो

देवताओंसे अज्ञात रह जाय। धुन्धु यह भी सोच नहीं सकता था कि इन देवताओंको मार भी दिया जा सके तो उसका परिणाम क्या होगा। नेत्रके देवता सूर्य नष्ट हो जायँ तो कोई प्राणी देख सकेगा ? हाथके देवता इन्द्रको नष्ट करके किसीमें क्रियाशक्ति बनी रह सकेगी ? लेकिन धुन्धु विचारक नहीं था, शूर था और अपनी धुनमें था।

'हम सबको क्या करना चाहिये ?' धुन्धुके आक्रमणसे पूर्व ही देवता देवगुरु वृहस्पतिके समीप पहुँच गये। उन्होंने उनसे पूछा—'सृष्टिकर्ताने धुन्धुको वरदान देकर भारी विपत्तिमें हमें डाल दिया।'

'सब लोग शीघ्र अमरावती छोड़ दो !' वृहस्पतिने सुरोंको समझाया—'यह दानव देवताओंसे अजेय तो हो ही गया है। क्रुद्ध है और बलवान है। ब्रह्मलोकके अतिरिक्त सुर जहाँ भी शरण लेंगे, वहीं आ धमकेगा। इस समय सुमेरुकी गुहाएँ भी सुरक्षित नहीं हैं। अत: सबको सृष्टिकर्ताके ही समीप शरण मिल सकती है।'

दानवोंका दल जब देवधानी पहुँचा तो उन्हें केवल द्वारपाल मिले और वे भी द्वार उन्मुक्त किये स्वागतको प्रस्तुत थे। अमरावतीको घेरना अनावश्यक हो गया।

'आजसे मैं त्रिभुवनका अधीश्वर इन्द्र हुआ।' धुन्धुने किसी औपचारिक अभिषेककी आवश्यकता नहीं मानी। उसने दानवोंको आदेश दिया—'सब अपने उन्मुक्त भवन स्वयं चुन लें; क्योंकि यहाँकी सम्पत्ति अब अपनी है, कुछ भी नष्ट नहीं करना है।'

पहिली बार दानवोंने स्वर्गपर अधिकार किया था। उन्हें अपने लिए उपयुक्त आवास निश्चित करना था; किन्तु उनमें परस्पर इतना सौहार्द था कि कोई विवाद या संघर्ष नहीं हुआ। वे शीघ्र वहाँ व्यवस्थित हो गये।

वैसे स्वर्गपर दानवोंका अधिकार व्यर्थ था। पृथ्वीके लिए भीषण विपत्ति था; क्योंकि धुन्धु और उसके अनुयायियोंको दैवत शासनका कोई अनुभव नहीं था और शासनमें उनकी कोई रुचि भी नहीं थी। यह तो कुशल हुई कि देवधानीमें उन्हें अधिक समय रहनेका अवकाश नहीं मिला। देवताओंका कार्यभार वे सम्हालनेकी स्थिति ही नहीं प्राप्त कर सके।

'देवता कहाँ गये ? अदितिके अधम पुत्र इन्द्रका पता लगाओ ।' धुन्धुने शीघ्र दानवोंको एकत्र होनेका सन्देश दे दिया था। सुधर्मा सभामें वह सबसे पहिले इन्द्रासनपर आ बैठा था। कोई औपचारिकता निभाना उसके स्वभावमें नहीं था।

'देवेन्द्र······ नहीं, दानवेन्द्रको सबके उपस्थित हो जानेपर सभागृहमें आना चाहिये।' स्वर्गके सेवकोंने डरते-डरते धुन्धुको वहाँका शिष्टाचार सूचित किया—'जिससे सबको उन्हें अभ्युत्थान देने, अभिवादन करने और अनुमति पाकर पुनः आसन-ग्रहणका अवसर मिल सके।'

'तुम सबोंको मन्त्रणा देनेका अधिकार किसने दिया ?' धुन्धुने डाँट दिया—'मैं यहाँका अधीश्वर हूँ। सुरोंकी कायरतापूर्ण प्रथाएँ मुझे नहीं रखनी हैं। दानव सब परस्पर भाई हैं। हम किसी कृत्रिम औपचारिकताको अपने मध्य नहीं आने देते। अबसे यहाँके नियम मेरी इच्छानुसार बनेंगे।'

'स्वर्गाधिपका जैसा आदेश !' बिचारे सेवक सिर झुकाकर हट गये। उन्होंने एक दूसरेकी ओर देखा और समझ गये कि इस उद्धत दानवसे दुबारा कुछ कहनेका साहस नहीं करना चाहिये।

'इन्द्रका मैं स्वयं वध करूँगा !' स्वर्गके सेवकोंको आज नवीन परम्पराएँ देखनेको मिल रही थीं। दानव शीघ्र आये; किन्तु किसी क्रमसे नहीं आये। वे प्रायः दौड़ते आये और जिसे जो आसन समीप रिक्त मिला, उसपर बैठ गया। जो प्रथम आये, वे दानवेन्द्रके समीप बैठे। किसीके लिए कोई सिंहासन सुरक्षित नहीं किया गया था।

स्वयं दानवेन्द्र धुन्धुने अपेक्षा नहीं की कि कोई दानव उनको अभिवादन करे अथवा आसन-ग्रहणके लिए उनके इंगितकी अपेक्षा करे। बहुत कमने उन्हें मस्तक झुकाया। उसका भी कोई अभिनन्दन उसे दानवेन्द्रकी ओरसे प्राप्त नहीं हुआ।

न कोई जयघोष, न स्वागत-गान। पहिली बार धुन्धु बैठे थे इन्द्रासनपर और वह भी अघोषित, स्वयं आकर बैठ गये थे। कोई उत्सव उन्होंने घोषित नहीं किया।

'शीघ्र सुरोंका पता लगाना चाहिये !' उत्सव, स्वागतादि तो दूर, दानवेन्द्रने यह भी अपेक्षा नहीं की कि सब दानव सभागृहमें आसनपर बैठ जायँ, तब वे अपना आदेश सुनावें। वे तो इन्द्रासनपर बैठते ही आदेश देने लगे थे। उनके बोलते समय भी दानव सभागृहमें आ रहे थे और स्वतः कहीं-न-कहीं बैठते जा रहे थे। यहाँ तक कि सबके बैठनेसे पूर्व स्वयं दानवेन्द्र यह कहते उठ खड़े हुए—'यहाँके सब सेवकोंको एकत्र करो। मैं स्वयं इनसे पूछता हूँ कि देवता और इन्द्र कहाँ छिपे हैं। इनको अवश्य पता होना चाहिये। ये छिपानेका प्रयत्न करें तो इन्हें कठोर दण्ड देना होगा।'

'सुरोंकी यह सभा कुछ अधिक उत्तम नहीं है।' धुन्धुने सुधर्मा सभासे निकलते समय कहा था। इस सभाके प्रभावमें जो चित्तको शान्त रखनेकी शक्ति है, दानवको वह रुची नहीं थी। उसके शत्रु सुर कहीं भाग छिपे थे। वह उनपर पूरा क्रोध उतारना चाहता था। इस समय उसे शान्ति, आह्लाद अरुचिकर था। उसे तो इस समय कठोर, उत्साहजनक वातावरण अपेक्षित था। अतः वह उस सभागृहसे शीघ्र निकल गया।

'देवमाता अदितिके अधिकांश पुत्र अपने मुख्य गणोंके साथ ब्रह्मलोक चले गये हैं।' स्वर्गके सेवकोंने पूछते ही बतला दिया। उन्हें धुन्धु और दानवोंसे वितृष्ण हो गयी थी। ये लोग इतने अशिष्ट और उजड्ड होंगे, यह आशा उन्हें नहीं थी। वे सदासे सुरोंके शिष्ट व्यवहारको देखने-भोगनेके अभ्यासी थे। इसलिए उनका व्यवहार विनम्र बना रहा। वे यह भी समझ गये कि ये नये स्वर्ग-विजेता कठोर और क्रूर हैं। ये कोई भी दण्ड देनेमें संकोच नहीं करेंगे। अतः उन्होंने कुछ छिपानेका कोई प्रयत्न नहीं किया।

'हम लोग अभी ब्रह्मलोक चलेंगे।' धुन्धुने तत्काल आदेश दे दिया। स्वर्गकी कोई व्यवस्था भी करनी है, यह बात उसके मनमें ही नहीं आयी। 'इद्रको मार दूँ तो आशंकाका कारण समाप्त हो जाय; अन्यथा दुष्ट देवता हमारे विरुद्ध षड्यन्त्र करते ही रहेंगे।'

'हम लोग ब्रह्मलोक कैसे जा सकते हैं।' दानवोंमें-से अनेक एक साथ बोल बड़े—'यह तो अशक्य है।'

'क्यों ? देवता वहाँ जा सकते हैं तो हम क्यों नहीं जा सकते ? हमारे जानेमें क्या बाधा है ?' धुन्धुने अब आश्चर्यसे अपने साथियोंसे पूछा।

'ब्रह्मलोक जानेका एक ही मार्ग है। उसमें मार्गमें ही महर्लोक, जनलोक और तपोलोक पड़ते हैं।' दानवोंने धुन्धुको समझाया—'इन लोकोंमें तपस्वी ऋषियोंका समुदाय रहता है। उनकी श्वास हमारे लिए असह्य है। हमारे शरीर उनकी श्वास लगते ही भस्म हो जायँगे।'

'आपने कठोर तप किया है। ब्रह्माने आपको दर्शन दिया है। सम्भव है, इससे आपका शरीर ऐसा हो गया हो कि इन ऊपरके लोकोंमें रहनेवाले ऋषियोंकी श्वासका ताप सहन कर ले।' दानवोंने विनम्रतापूर्वक ही कहा—'लेकिन हम आपसे भी अनुरोध करते हैं कि परीक्षणमें आशंका है। आप एकाकी भी न जावें, यही उत्तम है।'

धुन्धुको मरनेकी कोई शीघ्रता नहीं थी। ऋषि-मुनियोंसे वह भी दूर रहनेके ही पक्षमें था। अभी देवसभाका ही वातावरण उसे प्रतिकूल प्रतीत हुआ था। ऐसी स्थितिमें एकाकी जाकर वह क्यों संकटको आमन्त्रित करे। उसने दानवोंसे ही पूछा—'हम सब ब्रह्मलोक पहुँच सकें, इसका कोई उपाय है ?'

'हममें-से किसीको ऐसा कोई उपाय ज्ञात नहीं है।' दानवोंने दो क्षणमें परस्पर सम्मति करके कहा—'कोई उपाय होगा भी तो उसे शुक्राचार्य जानते होंगे। दूसरे किसीको ज्ञात भी हो तो वह सुरोंसे सहानुभूति रखनेवाला होगा। वह हमें वह उपाय नहीं बतलावेगा।'

'दानवेन्द्र ! मुझे दुःख है कि मैं आपका पौरोहित्य स्वीकार नहीं कर सकता।' धुन्धु जब दानवोंके साथ शुक्राचार्यके समीप पहुँचा तो उसकी प्रणति स्वीकार करके पहिले शुक्राचार्य ही बोले—'हिरण्यकशिपुका अनुरोध मानकर मैंने दैत्यकुलका पौरोहित्य स्वीकार लिया; किन्तु समस्त असुरकुलका आचार्यत्व करनेमें मैं अपनेको अक्षम पाता हूँ। मुझे अभी तो तप करने जाना है।'

'आचार्य, हमने अपने पराक्रमसे अमरपुरीको अधिकृत कर लिया है। अब इन्द्र हो जानेपर मुझे एक योग्य आचार्यकी आवश्यकता तो है और हम असुरोंकी आपके अतिरिक्त किसी अन्यमें आस्था नहीं है।' धुन्धुने नम्रतापूर्वक निवेदन किया—'लेकिन इस समय मैं अन्य प्रयोजन लेकर उपस्थित हुआ हूँ सुरोंके साथ शक्र ब्रह्मलोकमें जा छिपा है। मैं किस उपायसे

वहाँ पहुँच सकता हूँ। इन्द्रको मारे बिना अमरपुरीका अधिकार निष्कण्टक नहीं हो सकता।'

'ब्रह्मलोक पहुँचनेके उपाय तो कई हैं। योगमें तुम्हारी रुचि है ? ज्ञानके अधिकारी बनो तो भी वहाँ पहुँच सकते हो।' शुक्राचार्यने कहा— 'अश्वमेध यज्ञ करनेवाला भी ब्रह्मलोक जा सकता है। तुमने अमरावतीपर अधिकार कर लिया तो भी स्थायी इन्द्रत्वकी प्राप्तिके लिए तुम्हें सौ अश्वमेध यज्ञ कर ही लेने चाहिये। इन्द्र शतक्रतु ही रह सकता है।'

'आप मुझपर अनुग्रह करें। हम अश्वमेध यज्ञ करेंगे। आप उसका आचार्यपद स्वीकार कर लें।' स्वर्गजयी धुन्धुको योगी बनना अच्छा नहीं लग सकता था। ज्ञानकी बात ही उसके गले उतरनेवाली नहीं थी। शतक्रतु बनना यदि आवश्यक है तो वह यज्ञ करेगा। उसके समीप सम्पत्तिका कोई अभाव नहीं। उस सुरजयीके लिए पृथ्वीपर दिग्विजय कोई समस्या नहीं। अतः अश्वमेध यज्ञ करनेमें उसने उत्साह दिखलाया।

दानव, कालिकेय आदि असुरोंमें कोई कभी ही आचार्य शुक्रके समीप आते थे। उन्हें पुरोहितकी आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती थी। दैत्यकुलमें जो विनम्रता, आचार्यके प्रति आस्था थी, वह अन्य असुर वर्गमें दुर्लभ थी। केवल दानवेन्द्र मय इसके अपवाद थे।

धुन्धुने तो अबतक सोचा भी नहीं था कि किसी पुरोहितकी आवश्यकता है। अब यज्ञ करना आवश्यक हुआ तो आचार्यके बिना यज्ञ तो सम्भव नहीं था। शुक्राचार्यको भी लगा कि धुन्धुकी प्रार्थना अस्वीकार करने योग्य नहीं है। अतः उन्होंने उसके अश्वमेध यज्ञका आचार्यपद स्वीकार कर लिया।

अश्वमेध यज्ञ तो पृथ्वीपर ही होना सम्भव था, अतः आचार्य शुक्र भी दानवोंके साथ पृथ्वीपर आ गये।

देव-संकट–

आचार्य शुक्र जानते थे कि इन्द्रको मार देना सम्भव नहीं है। आचार्य शुक्र जानते थे कि सुरोंके पलायनके पश्चात् त्रिलोकी तथा स्वर्गकी व्यवस्था किये बिना यज्ञ-दीक्षा लेना उचित नहीं है। आचार्य शुक्र सम्भवतः यह भी जानते थे कि धुन्धुका यज्ञ निर्विघ्न पूर्ण नहीं हो सकता।

शुक्राचार्य दैत्य-गुरु थे और हिरण्यकशिपु सफलकाम होकर लौटेगा, इसमें उन्हें कोई सन्देह नहीं था। हिरण्यकशिपु सफल होकर लौटनेपर सुरासुरजयी होगा। अतः शुक्राचार्यकी दृष्टिमें धुन्धु एक उतावला मल्ल मात्र था। यदि उसे किसी प्रकार सुर स्वर्गसे हटा नहीं पाते तो भी हिरण्यकशिपुके लौटनेपर उसकी कोई स्थिति नहीं थी। उसे सुरोंसे अजेय रहनेका वरदान प्राप्त था, दैत्यकुलसे तो अजेय था नहीं।

शुक्राचार्यकी समस्या यह थी कि हिरण्यकशिपु कबतक लौटेगा, इसका कोई अनुमान किया नहीं जा सकता था। उसकी अनुपस्थितिमें स्वर्गपर सुरोंका अधिकार बना रहे, यह शुक्राचार्यको प्रिय नहीं था। हिरण्यकशिपुकी अनुपस्थितिमें दैत्य-शिविर आक्रमण करके अदिति पुत्रोंने लूट लिया था। इससे शुक्राचार्य रुष्ट हुए थे। अतः सुरोंको पराजित करके देवधानीपर दानवोंने अधिकार कर लिया, यह प्रयास शुक्राचार्यको सन्तोष ही देनेवाला था।

लेकिन शुक्राचार्य हिरण्यकशिपुके पुरोहित थे। वे उसके लिए परिस्थिति प्रशस्त रखना चाहते थे। धुन्धुको सुरोंसे अजेयत्व प्राप्त है, यह उन्हें पर्याप्त लगता था। धुन्धुको अधिक शक्ति सम्पन्न करने अथवा स्वर्गका वैधानिक स्थायी सम्राट् बना देनेमें उनकी कोई रुचि नहीं थी। वे नीतिशास्त्रके परमाचार्य हैं। अतः उनकी यह नीति ही थी कि उन्होंने दानवोंके अश्वमेध यज्ञका आचार्यपद स्वीकार कर लिया। उनके साथ हो गये; किन्तु अपनेको यज्ञके आचार्यके दायित्वतक सीमित रखा।

धुन्धुका नीतिशास्त्रसे परिचय ही नहीं था। वह श्रद्धा-विनय भी नहीं जानता था। उसको आवश्यक निर्णय स्वयं करनेका अभ्यास था। वह केवल वहीं किसीसे सम्मति लेता था, जहाँ उसे कुछ न सूझता हो। शारीरिक बलसे सम्पन्न और अब इन्द्रका वैभव पाकर वह समझने लगा था कि वह स्वयं सभी विषयोंमें निर्णय कर सकता है। दूसरोंको उसके निर्णयके अनुसार व्यवहार करना चाहिये।

आचार्य शुक्र जानते थे कि ऐसे व्यक्तिकी श्रद्धा और विनयकी सीमा बहुत छोटी है। वह किसी भी समय आचार्यकी सम्मतिका अनादर कर सकता है। अतः आचार्यने बिना पूछे सम्मति देने और सतर्क करनेसे अपनेको पृथक ही रखा। वह दानवके निर्णय ठीक न हों, तब भी मौन रहनेका नियम करके व्यवहार करने लगे। उनसे जबतक कोई बात पूछी न जाय, वे नहीं बोलेंगे, यह उनका तटस्थ भाव ही अन्तमें दानवोंके पतनका-कारण बना; किन्तु धुन्धुको यह कभी अस्वाभाविक नहीं लगा। वह तो इससे अधिक प्रसन्न था। उसे कोई बार-बार सम्मति दे या उसकी भूल सुझावे, ऐसा व्यक्ति उसे स्वीकार नहीं था। भले वह व्यक्ति कितना भी योग्य क्यों न हो। इसीलिए तो उसने अबतक कोई पुरोहित नहीं बनाया था।

स्वर्गसे भूमितक आते हुए धुन्धुको बहुत विस्तृत मरुस्थल दीख पड़ा। उसके मध्यमें देविका नदी*की धारा थी और उस धाराके दोनों ओर हरे वृक्षोंकी पंक्ति थी। धुन्धुने कहा—'हम यहीं यज्ञ करेंगे। यहाँ बहुत विशाल स्वच्छ भूमि है और जल भी है।

दानव धुन्धुके मनमें स्थलकी पवित्रताका कोई संस्कार नहीं था। वह ऋषियोंके संसर्गमें रहा नहीं था। दानव अपने अधिपतिका समर्थन ही करनेवाले थे। शुक्राचार्य इस सम्बन्धमें मौन बने रहे।

दानवोंके लिए पृथ्वीकी दूरी नगण्य थी। वे आकाशगामी थे। देविकाके किनारे दूरतक यज्ञ-मण्डप और आवास-मण्डपादि बनानेमें दानवोंको

---

*देविका नदी अब कहाँ है, मुझे पता नहीं। कूर्मकल्पमें कहाँ रही होगी, अनुमान करना भी कठिन है। श्रीमद्भागवतके पञ्चम स्कन्धमें भारतीय नदियोंके नाममें यह नाम नहीं है। वर्णनसे लगता है, इस नदीके समीप मरुभूमि थी। ईरानकी दजला ही देविका हो तो आश्चर्य नहीं।

कुछ श्रम नहीं जान पड़ा। आवश्यक सामग्री उन्होंने शीघ्र एकत्र कर ली। धुन्धुने अश्वमेध यज्ञकी दीक्षा ली। उसका यज्ञ प्रारम्भ हो गया।

मरुस्थलमें जल होनेपर उसके समीप जनपद होते ही हैं। कहीं कोई बड़ा कार्य प्रारम्भ हो तो समीप ही नहीं, दूर-दूरतकसे लोग आजीविका पानेके लिए अथवा कुतूहलवश भी वहाँ आने लगते हैं। भीड़ जुटती है तो व्यापारी भी वस्तुएँ लेकर पहुँचने लगते हैं। इसलिए दानवोंको सेवकों तथा वस्तुओंका अभाव नहीं होना था। वे रूक्ष थे; किन्तु उदार थे और धन उनके पास प्रचुर था। इसलिए उन्हें कोई अभाव नहीं होना था।

ब्रह्मलोक जाकर भी देवता निश्चिन्त या असावधान नहीं थे। स्वयं सृष्टिकर्ता सचिन्त हो गये थे। दानवोंने स्वर्ग एवं मर्त्यलोकमें कोई सुव्यवस्था स्थापित नहीं की थी। अब ऐसे उद्धत असंयमी लोग अश्वमेध यज्ञ करने लगे थे। यज्ञोंसे इनकी शक्ति बढ़ने ही वाली थी। कहीं इन्होंने सौ अश्वमेध यज्ञ पूरे कर लिये तो इनका पराभव अत्यधिक कठिन हो जायगा; किन्तु इनके यज्ञको रोकनेकी शक्ति कहाँ थी। यज्ञमें विघ्न असुर करते हैं या सुर। असुर उनके अपने थे और सुर पराजित हो चुके थे। मर्त्यलोकके प्राणी तो दानवोंके लिए नगण्य थे।

'दानवोंका यज्ञ-ध्वंस होना चाहिये।' सुरोंकी इस प्रार्थनासे सृष्टिकर्ता सहमत थे; किन्तु 'यह कैसे हो ?'

ब्रह्माजीने सुरोंको साथ लिया। भगवान शङ्करको भी साथ लिया और क्षीरसागरके तटपर जाकर श्रीहरिकी स्तुति करने लगे। भगवान गरुड़ध्वज प्रगट हुए। उन्होंने सुरोंकी समस्या सुनी। आश्वासन दिया—'यह यज्ञ मैं नष्ट कर दूँगा।'

'आपको मेरी थोड़ी सहायता करनी है।' सुरोंको तथा सृष्टिकर्ताको आश्वासन देकर श्रीहरि भगवान शिवसे बोले—'आप मेरे साथ देविका नदी तक चलें।'

भोलेबाबा तो भोलेबाबा ही हैं। उन्होंने यह भी नहीं पूछा कि वहाँ चलकर उन्हें करना क्या है। वे झटपट अपने बैलपर बैठे और चलनेको

प्रस्तुत हो गये। ब्रह्माजी और देवताओंको वहीं विदा कर दिया गया। वे ब्रह्मलोक चले गये।

हरि और हर दोनों मरुभूमिमें देविका नदीके तटपर पहुँचे; किन्तु जहाँ दानवोंका यज्ञ हो रहा था, उससे बहुत दूर नदीके उद्गमकी ओर पहुँचे थे। वहाँ समीप कोई जनपद नहीं था। गरुड़से उतरकर विष्णु भगवानने अपना वाहन विदा कर दिया।

'मैं भी वृषभ विदा करूँ?' शङ्करजीने पूछा। इसलिए पूछा कि उस निर्जन सरिता तटपर कुछ करना है, यह अभी उन्होंने अनुमान नहीं किया था।

'नहीं!' भगवान विष्णु उसी समय वामन बन गये और बोले—'आप मुझे इस सरितामें डाल दें और कैलास पधारें!'

'क्या?' अब भगवान शिव चौंके—'मैं तुम्हें सरितामें डाल दूँ? सरितामें कूदना हो तो तुम स्वयं नहीं कूद सकते? किसीका जलमें विसर्जन ही आवश्यक हो तो मैं अपना करूँगा। वैसे भी मेरे पार्थिव लिंग भक्तजन जलमें विसर्जित करते हैं। मैं अपने हाथसे तुम्हें जलमें डालूँ और चला जाऊँ, यह तुम कह कैसे सके? रुद्र प्रलय करनेवाला है, निष्ठुर है, उग्र है; किन्तु तुम मेरे प्राण हो, हृदय हो। तुम्हारे लिए अविनाशी शिव अपनी सत्ता भी समाप्त कर ले सकता है। तुम मुझसे कराना क्या चाहते हो, यह परिहास त्यागकर स्पष्ट कहो।'

'आप प्रसन्न हों। मैं कोई परिहास नहीं कर रहा हूँ।' भगवान वामनने विनम्रतापूर्वक कहा—'मुझ सिन्धुशायीको जलमें शयनका व्यसन है, यह आप जानते हैं। सुरोंका कार्य सम्पन्न करना है। मैं स्वयं सरितामें कूदूँ तो बहुत अधिक असत्य बोलना पड़ेगा। अतः आपको थोड़ी अपकीर्ति देना चाहता हूँ कि आपने मुझे जलमें फेंक दिया है।'

'अच्छा आओ! सुखपूर्वक जलमें शयन करो।' शङ्करजी खुलकर हँसे। बहुत स्नेहसे वामनको अपने करोंपर उठाया और ले जाकर सरिताके जलके ऊपर रख दिया। वामनका शरीर जलके ऊपर नीलकमलके समान सुशोभित हुआ।

'अब आप कैलास पधारो !' वामनने जलपर पड़े-पड़े ही दोनों हाथ जोड़े।

'लीलामय ! मैं अन्तर्हित रहकर तुम्हारी लीलाका दर्शन करूँगा।' भगवान शङ्कर अदृश्य हो गये; किन्तु वामन इस प्रकार नदीके प्रवाहमें निश्चेष्ट बहते रहें, यह देखकर उनसे कैलास जाना नहीं हो सकता था। अदृश्य रहकर वे उन श्रीहरिके साथ ही बने रहे।

वामनको अभी कुछ करना नहीं था। सरिता उनके शरीरको उनकी इच्छानुसार ही बहाकर ले जा सकती थी। जलकी धारा उन सर्वेशकी सेवा ही कर सकती थी, उन्हें कोई कष्ट तो होना नहीं था।

जब धुन्धुके यज्ञ-स्थलके समीप वामन पहुँचे तो उन्होंने हाथ-पैर हिलाने प्रारम्भ कर दिये। शरीर भी ऐसा बना लिया, जैसे बहुत समयसे जलमें बहते आये हों। उनके चिद्घन दिव्य देहमें तो उनकी इच्छानुसार ही परिवर्तन होना था।

प्रात:कालके प्रकाशमें दानवोंमें-से किसीकी दृष्टि पड़ी प्रवाहमें पड़े बहते शरीरपर। वह चिल्लाया—'कोई बच्चा धारामें बहता जा रहा है।'

'वह जीवित जान पड़ता है।' दूसरेने हाथ कुछ हिलता देखा और कहकर घुस पड़ा धारामें।

दानवोंके अतिदीर्घाकार शरीरके लिए देविकाकी धारा अत्यन्त क्षीण थी। धरापर आकर दानव यद्यपि मानवाकार धारण कर चुके थे; किन्तु सामान्य मानवसे फिर भी बहुत दीर्घाकार और सुपुष्ट थे। उस दानवने दो-चार पद धरे और लपककर वामनको उठा लिया।

उन्हें लाकर तटपर भूमिपर रखा तो आसपाससे दूसरे दानव भी देखने एकत्र हो गये। भली प्रकार देखकर एकने कहा—'यह बच्चा है या तेरा चच्चा है।'

'इतना नन्हा चच्चा !' कोई हँसा—'लक्षण तो ऐसे हैं कि दद्दा भी हो सकता है।'

वामन तटकी भूमिपर ऐसे पड़े थे—जैसे मूर्छित हों। दानव उन्हें उलट-पलटकर उपचार करनेमें लगे थे। वामनने जान-बूझकर नदीका बहुत-सा जल पी लिया था। उन्हें पेटके बल लिटाकर दानवोंने उनकी पीठ दबायी तो वह जल उन्होंने मुखसे निकाल दिया।

धीरे-धीरे वामनने श्वास ली और नेत्र खोले। नेत्र खोलकर फिर बन्द कर लिये। वे पानीमें डूबे व्यक्तिका पूरा अभिनय करनेमें कुछ देर लगे रहे। अन्तमें धीरेसे इधर-उधर सिर हिलाया। इस प्रकार चारों ओर देखा, जैसे बड़े आश्चर्यसे देख रहे हों।

'दद्दा, इतना दीर्घाकार तुमको कहाँसे मिल गया ?' दानवोंने वामनके साथ परिहास प्रारम्भ किया—'तुम्हारे पूर्वज ऐसे ही महाकाय होते आये हैं या तुम्हीं ऐसे महापुरुष प्रकट हुए हो ?'

'तुम्हारी जातिके ऐसे ही लोग होते हैं ?' दानवोंके लिए वामनका आकार अत्यन्त कुतूहलका कारण था। इतने छोटे आकारका भी मनुष्य हो सकता है, वे कल्पना भी नहीं करते थे। उनमें कई वामनको उठाकर अपनी हथेलीपर रख चुके थे।

'तुम्हारे संगी-साथी कहाँ हैं ?' यह पता लगानेका प्रयत्न था कि इस सरिताके उद्गमकी ओर कोई ऐसी ही खर्वाकार मानवजाति तो नहीं रहती है।

'महाराज, हमने पानीमें बहते एक पिपीलिका पुरुषको बाहर निकाला है।' एक दानव धुन्धुके समीप दौड़ा गया। उसने सूचना दी—'वह डूब रहा था; किन्तु बच गया। अब चेतनामें आ गया है।'

'पिपीलिका पुरुष ?' धुन्धुने ऐसा अटपटा नाम पहिले कभी नहीं सुना था।

'वह मेरी हथेलीपर खड़ा रह सकता है। केवल मेरी अँगुलियों सहित हथेलीके बराबर है।' दानवने बतलाया—'अभी बोल नहीं रहा है। शिशुके समान आकार होनेपर भी शिशु नहीं है। उसकी आयुका अनुमान नहीं किया जा सकता।'

धुन्धु तत्काल उठ खड़ा हुआ। यज्ञशालासे बाहर जानेके लिए शुक्राचार्यसे अनुमति लेना उसने आवश्यक नहीं माना। शुक्राचार्य अपने आसनसे नहीं उठे। उन असुरगुरुमें कौतूहल नहीं जागा करता।

धुन्धु पहुँचा तो दानव उसके सम्मानके कारण एक ओर हट गये। उसने उठाकर वामनको अपनी हथेलीपर धर लिया। उन्हें देखकर अट्टहास करके हँसा। आगे-पीछे, पार्श्वसे भली प्रकार वामनका कुछ क्षण निरीक्षण करता रहा।

'पिपीलिका पुरुष !' धुन्धु फिर खुलकर हँसा—'तुम्हारा नामकरण मेरे अनुचरने ठीक किया है। तुम स्वयं सरितामें गिर गये थे या किसीने तुम्हें जलमें डाल दिया था ? डरो मत ! हम तुम्हारा कोई अनिष्ट नहीं करेंगे। तुम कौन हो ? सरितामें कहाँ पड़े ? कबसे पड़े रहे हो ?'

'मेरा नाम भास है।' वामनने अपने आकारके ही अनुरूप बहुत कोमल, बच्चे जैसे स्वरमें कहा। उनकी बात सुननेको दानवेन्द्रको झुकना पड़ा। दूसरे दानव भी समीप सिमट आये। अबतक वामनके आकारका और उनके मिलनेका समाचार पूरे दानव-शिविरमें फैल गया था। सब दानव और उनके सेवक भी दौड़ आये थे। यज्ञशालामें अकेले शुक्राचार्य भले नहीं रहे; किन्तु रह गये उनके सहायक ब्राह्मण ही। शेष सब सरिता तटपर आ गये थे। वहाँ भारी भीड़ एकत्र हो गयी थी।

'वह पिपीलिका पुरुष बोलने लगा है।' लोगोंमें काना-फूसी चलने लगी। वामनका यह नवीन नाम शीघ्र प्रचलित हो गया था। लेकिन दानवेन्द्र धुन्धुके आस-पास सब शान्त थे। सब झुके-उझके वामनके शब्द सुन लेनेके प्रयत्नमें थे।

'भास—बुद्धिमान हैं तुम्हारे पिता।' धुन्धु फिर हँसा—'उन्होंने तुम्हारा उचित नाम रखा। तुम्हारा आकार ही ऐसा है कि तुम आकारका मात्र भास कराते हो।'

'मेरे पिताका नाम प्रभास है। वामनने परिचय दिया।

'वे भी तुम्हारे जैसे आकारके हैं ?' धुन्धुने पूछा।

'अब हैं कहाँ ? वे होते तो मेरे बड़े भाई भाललोचन क्या मुझे ऐसे सरितामें फेंक सकते थे ?' वामनने कुछ रोते-से स्वरमें कहा--'मेरे पिता आप जैसे दीर्घाकार तो नहीं थे; किन्तु अपने नामके समान प्रकृष्ट थे। उनके दो ही पुत्र हुए। बड़ेका नाम उन्होंने भाललोचन रखा। वे आकारमें और बलमें भी बहुत बड़े हैं।'

'तुम्हें तुम्हारे अग्रजने जलमें क्यों फेंक दिया ?' धुन्धुने पूछा। वह समझ गया कि पिता और बड़े भाई सामान्य मानवके आकारके ही होंगे। केवल यही इतना अल्पाकार है।

'पिता परलोकवासी हो गये तो मैंने अग्रजसे पैतृक सम्पत्तिमें-से अपना भाग माँगा।' वामनने फिर रुदन जैसा स्वर बना लिया। 'अग्रजने कह दिया कि कुब्ज, खंज, वामन, क्लीव, उन्मत्तका पैतृक सम्पत्तिमें कोई भाग नहीं होता।* अतः तुम्हारा कोई भाग नहीं है।'

'यह विधान अनुचित है। पिताकी सब सन्तानोंको पिताकी सम्पत्तिमें समानाधिकार होना चाहिये।' दानवका तर्क भी आजके विद्वानोंके समान ही था। सम्पत्तिका श्राद्धसे सम्बन्ध उसे भी आजके विचारकोंके समान महत्त्वपूर्ण नहीं जान पड़ता था। उसने आश्वासन दिया—'मैं अब त्रिलोकीश्वर हूँ। अतः इस उत्तराधिकार-नियमको उचित रूप दे दूँगा।'

'मैंने भी अग्रजकी बात उचित नहीं माना। मैं अपना भाग लेनेपर अड़ा रहा।' वामनने बड़े हताश स्वरमें कहा—'वहाँ आपके समान कोई

---

*स्मृतियोंके अनुसार सम्पत्तिमें भाग केवल उसका होता है, जो पिण्डदानका अधिकारी हो। कुब्ज, खंजादि पिण्डदानके अधिकारी नहीं हैं, अतः उनका पैतृक-सम्पत्तिमें अधिकार भी नहीं है। इसका अर्थ है कि हिन्दू शास्त्र किसीकी उपार्जित सम्पत्तिमें उसका पुत्र होनेसे किसीका उत्तराधिकार नहीं मानता। मरनेपर भी सम्पत्ति उसीकी रहती है, जिसने उसे उपार्जित किया है। वह उत्तराधिकारीको इसलिए दी जाती है कि मृतात्माके श्राद्धादिमें उसका व्यय किया जाय। उत्तराधिकारीके उपभोगके लिए वह नहीं दी जाती।

विवेकशील पुरुष मेरा समर्थन करनेवाला नहीं था। सच तो यह है कि उस समय वहाँ कोई तीसरा व्यक्ति था ही नहीं। मेरी हठसे मेरे अग्रज क्रोधमें आ गये। वे सदासे बहुत क्रोधी स्वभावके हैं। उन्होंने उठाकर मुझे नदीमें फेंक दिया।'

वामन हिचकियाँ लेकर रोने लगे। बहुत समझाने, आश्वासन देनेपर बोले—'मुझे पता नहीं, मैं कितने समय जलमें पड़ा रहा और कितनी दूर आ गया हूँ। आप सब सत्पुरुष हैं। आपने मुझे दया करके जलसे निकालकर प्राणदान किया है। मैं आप सबका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।'

'तुम दुःखी मत हो।' धुन्धुको दया आ गयी। उसने आश्वासन दिया—'तुम जो चाहोगे, मैं तुम्हें दूँगा। तुम्हारे पिताकी पूरी सम्पत्ति जितनी थी, उससे बहुत अधिक तुम मुझसे माँग ले सकते हो।'

'आप सबने वैसे ही मुझपर बहुत उपकार किया है।' वामनने दानवकी प्रशंसा की—'मैं अपने आप जलसे निकल नहीं सकता था। आप सब बहुत शक्तिशाली हैं। बहुत उदार हैं।'

प्रशंसा भला किसे अप्रिय लगती है। दानवने वामनकी प्रशंसासे प्रसन्न होकर कहा—'तुम अब कोई चिन्ता मत करो। तुम्हारे सौभाग्यने तुम्हें मेरे पास पहुँचा दिया है। मैं त्रिलोकीका स्वामी हूँ। तुम जी खोलकर जो कुछ भी माँगना हो, मुझसे माँग लो।'

वामनके कहनेपर दानवने उन्हें हथेलीपरसे उतार दिया था। अब वामनने कहा—'धनके लिए मुझे सगे भाईने सरितामें फेंक दिया। अब यदि मैं आपसे धन लूँगा तो कोई दूसरा उस धनके लोभसे मुझे मार ही डालेगा। अतः मैं धन लेनेका साहस नहीं कर सकता। मेरे पास प्राप्त धनको सुरक्षित रखनेकी शक्ति नहीं है।'

'तुम हो तो बहुत छोटे; किन्तु बुद्धिमान लगते हो। दानवने वामनकी प्रशंसा की—'फिर भी तुम अपने निर्वाहके लिए यथेच्छ धन-भूमि, जो तुम्हें ठीक लगे, माँग लो।'

जब असमर्थ व्यक्ति लोभमें आकर धन-संग्रह करता है, तो वह अपने लिए विपत्ति ही बुलाता है। समाजमें चोर, डाकू, लुटेरे सदा रहे हैं, सदा

रहेंगे। यह वर्ग उसीपर आक्रमण करता है, जो सम्पन्न हो और असुरक्षित लगता हो। अतः जिसके समीप रक्षाकी शक्ति और साधन नहीं हैं, उसे सदा अपरिग्रही रहना चाहिये। उसीमें उसकी बुद्धिमत्ता है।

'आप अतिशय उदार पुरुष हैं। बिना किसी स्वार्थके आप मुझ वामन अल्पशक्तिकी सहायता करना चाहते हैं।' वामनने बातको और दृढ़ करनेके लिए कहा—'अतः अवश्य आप अपने वचनका पालन करेंगे। मुझे विश्वास है कि आप मुझसे कोई परिहास नहीं कर रहे हैं। मेरी वञ्चना आप नहीं करेंगे।'

'सचमुच मैं तुम्हें सन्तुष्ट करना चाहता हूँ।' दानवराजने आश्वासन दिया तीसरी बार—'तुम जो माँगोगे, वह तुम्हें दूँगा। तुम्हारा परिहास नहीं कर रहा हूँ। तुम्हारी वञ्चना नहीं करूँगा। वचन देकर दानवेन्द्र धुन्धु उसे मिथ्या नहीं कर सकता।'

'तब मैं अपने पदोंसे मापी गयी तीन पद भूमि आपसे माँगता हूँ।' वामनने बहुत गम्भीरतासे कहा—'मुझे अपनी शक्तिभर पूरे बड़े डग भरनेकी स्वतन्त्रता रहेगी।'

दानवेन्द्र धुन्धु खुलकर हँसा। उपस्थित दूसरे दानव भी अट्टहास कर उठे। अनेकने हँसते-हँसते कहा भी—'दानवेन्द्रसे पिपीलिका पुरुष अपने पदोंसे मापी गयी तीन पद पृथ्वी माँग रहा है। वह डर रहा है कि दानवेन्द्र अपनी बात अस्वीकार न कर दें, अतः वचन देनेको कह रहा है।'

'तुम जितने छोटे हो, उतने ही अल्पबुद्धि हो।' जीभर हँस लेनेके पश्चात् धुन्धु बोला—'तुम अपने लिए पर्याप्त भूमि और धन ले लो।'

'आप पता नहीं मेरी बात क्यों नहीं समझते हैं।' वामनने भी रूठनेके स्वरमें कहा—'भूमि बड़ी होगी तो उसमें कोई दूसरा कभी भी आ घुसेगा। वह मुझे मार देगा या निकाल देगा। आप मेरी रक्षा करनेके लिए सदा मेरे समीप तो बने नहीं रहेंगे। मुझमें अपनी रक्षा करनेकी शक्ति है नहीं। मेरी रक्षाके लिए आप सदा मेरे पास अपने सैनिक रखेंगे?'

'ऐसा वचन मैं नहीं दे सकता।' धुन्धुने स्वीकार किया—'मुझे दूसरे बहुत काम करने हैं। तुम्हें अपने ही साथ रख लेना भी सम्भव नहीं है। हम

सब तो यहाँ यज्ञ करने आये हैं। यज्ञ पूरा करके स्वर्ग जायँगे। वहाँसे ब्रह्मलोक जायँगे।'

'स्वर्ग जायँ आपके शत्रु !' वामनने झुँझलाकर कहा—'आपको अधिक सुस्थिर आयु मिले।'

'तुम समझते नहीं हो। हमको मरकर स्वर्ग नहीं जाना है। स्वर्गपर हमारा ही अधिकार है। हम सब वहींसे इस धरापर आये हैं।' दानवने समझानेके पश्चात् कहा--'लेकिन तुम यह ठीक कहते हो कि तुम्हारी रक्षाके लिए मैं सदा तुम्हारे पास कोई सैनिक नहीं नियुक्त कर सकता। यहाँ ये सब मेरे स्वजन हैं। इन्हें मेरे साथ ही रहना है। इनको इस धरापर सदाके लिए नियुक्त नहीं किया जा सकता।'

'इसीलिए मैं अपने पदोंसे मापी तीन पद पृथ्वी आपसे माँगता हूँ। मैं इतनेमें रह लूँगा और दूसरे किसीके लिए वह इतनी अल्प होगी कि वह उसका लोभ नहीं करेगा। मेरे रहते उसमें दूसरेको खड़े होनेको भी स्थान नहीं रहेगा तो कोई मुझे निकालने नहीं आवेगा।' वामनने फिर अपनी बात दुहरायी—'लेकिन मुझे अपनी शक्तिभर पूरे डग भरनेकी स्वतन्त्रता रहेगी।'

'बेचारा पिपीलिका पुरुष बहुत डरा हुआ है।' दानवोंमें चर्चा चलने लगी—'साथ ही अपनी यह माँग उसे बहुत बड़ी लग रही है।'

'अच्छी बात, तुम तीन पद पृथ्वी ले लो।' धुन्धुने हँसकर कहा--'तुम्हें पूरे डग भरनेकी—उछलकर भी पद रखनेकी स्वतन्त्रता है। जहाँ तुम्हारी इच्छा हो, वहींसे पृथ्वी मापना प्रारम्भ करो।'

वही भूमि-दान--

'आप अच्छे दानवेन्द्र हैं। आपको दान करना नहीं आता है? आपने ऐसे ही कह दिया। अब मैं भूमि भी लूँ तो वह मेरी कैसे हो जायगी? आपका कोई सेवक कभी आकर मुझे निकाल देगा। उस भूमिपर मेरा स्वत्व होना चाहिये या नहीं?' वामनने तुनकनेका अभिनय किया—'आपको अपना स्वत्व दूर करके दूसरेका स्वत्व उसपर स्थापन करना नहीं आता?'

धुन्धुको इस अल्पकाय वामनकी बातोंमें आनन्द आ रहा था। यह इतना छोटा दीखनेवाला मनुष्य उस दानवेन्द्रकी सहानुभूति पाकर उससे निर्भय बोल रहा है और बहुत भोला है। अत्यल्प भूमिके सम्बन्धमें भी कितना सशंक है।

'तब तुम क्या चाहते हो?' धुन्धुने वामनसे ही पूछा। सचमुच उसे विधि-विधानका कोई विशेष ज्ञान नहीं है और इतनी अल्प भूमि देनेके लिए कोई विधान भी आवश्यक है, यह बात उसके ध्यानमें ही नहीं आती है।

'आप यज्ञ कर रहे हैं। यह बिना दानके हुआ नहीं करता। दान कैसे किया जाता है—आप जानते होंगे। भूमि-दान सबसे महत्त्वपूर्ण दान है। उसके पुण्यसे आपको वञ्चित नहीं रहना चाहिये।' वामनने इस बार गम्भीर बनकर कहा—'आप कुश, अक्षत, पुष्प मँगाइये। इस सरितामें जल है। मैं ब्राह्मणका बालक हूँ। संकल्प मैं करा दूँगा। विधिपूर्वक संकल्प करके मुझे भूमि-दान कीजिये।'

'जब मुझे भूमिदान ही करना है, संकल्प कराके तुम दान लोगे तो अधिक भूमि लो।' दानवने पुनः आग्रह किया। 'साथमें धन, अन्न, गौ आदि भी जो चाहो लो।'

'यह नहीं कहते कि अपनी विपत्ति बुलाओ! मृत्युका भय भी आमन्त्रित अरो।' वामनने अब दृढ़तापूर्वक कहा—'मैं इतना मूर्ख नहीं हूँ। तीन पद पृथ्वी मेरे लिए पर्याप्त है। मैं अधिक कुछ नहीं लूँगा। आप देखते

नहीं कि मैं गाय तो दूर, उसके बछड़ेको भी सम्हाल नहीं सकता। वह भी मुझे घसीट सकता है।'

'अपनी इच्छानुसार भूमि लो।' दानवेन्द्र धुन्धुने संकेत किया। एक दानव यज्ञशालामें-से कुश,अक्षत, पुष्पादि ले आया। अपने हाथमें संकल्प-द्रव्य लेकर धुन्धु बड़े आडम्बरपूर्वक बैठ गया वहीं। वामन उसके सामने जा खड़े हुए। उन्होंने जल डाला दानवेन्द्रके हाथपर और पूरी गम्भीरतासे, पूरे विस्तारसे—उस विस्तारसे जिससे आचार्य शुक्रने अश्वमेध यज्ञका संकल्प कराया था, संकल्प कराया। संकल्प करके दानवेन्द्रने वह अक्षतादि वामनके करोंमें दिया। वामनने भी वह संकल्प-द्रव्य बड़ी सावधानीसे दाहिने हाथमें ले लिया।

सब दानव कुतूहलपूर्वक यह सब देख रहे थे। उन्हें यह बहुत मनोरञ्जक विनोद लग रहा था।

यज्ञशालामें शुक्राचार्य कुछ खीझ रहे थे। यजमान अपने सब सहायकोंके साथ अचानक यज्ञशालासे उठकर चला गया था और अबतक लौटा नहीं था। यज्ञीय कार्य अवरुद्ध पड़ा था। आचार्य उठकर न कहीं जा सकते थे और न उनका कार्य ही हो रहा था। उनको यह प्रतीक्षा असुविधाजनक और अपमानपूर्ण भी प्रतीत हो रही थी।

'वह किसी पिपीलिका पुरुषके आनेका समाचार आया था।' आचार्यको अशान्त देखकर उनके एक सहयोगीने उनका ध्यान आकृष्ट किया—'यह पिपीलिका पुरुष क्या है?'

'दानवोंकी मूर्खता है।' शुक्राचार्य रुष्ट स्वरमें बोले—'सृष्टिमें कहीं कोई पिपीलिका पुरुष नहीं है।'

कहकर भी वे कूटनीतिके आद्याचार्य गम्भीर हो गये। उनकी बुद्धिने उन्हें सावधान किया। जैसे उनका अन्तःकरण आपत्तिका संकेत कर रहा हो। 'दानवेन्द्र धुन्धु और दूसरे दानवोंको भी इतने समयतक यज्ञशालासे बाहर ले जाकर अटकाये रखनेवाला यह कौन है? यह असाधारण व्यक्तित्व क्यों आया यहाँ? देवताओंका यह कोई षड्यन्त्र है? कोई देवमाया है?

शुक्राचार्य ध्यान न दें तो उन्हें सम्मुखका उत्पात् भी विचलित नहीं करता और वे सावधान हों तो बहुत दूरकी आशंकाको भी भाँप लेते हैं। दानवेन्द्र धुन्धुके प्रति उनकी सहानुभूति नहीं थी। वे उदासीन भावसे केवल आचार्यका यज्ञीय दायित्व निभा रहे थे। धुन्धु उनकी अनुमतिके बिना यज्ञशालासे अचानक चला गया था, इस व्यवहारसे भी आचार्यकी उदासीनता बढ़ी थी; किन्तु अब सहयोगीके संकेतने उन्हें सतर्क कर दिया था। जैसे उनके अन्तर्ज्ञानने आपत्तिकी गन्ध सूँघ ली हो।

यज्ञशालासे उठकर जाना आचार्यको उचित नहीं लगा। दूसरे सहयोगी ब्राह्मण भी कर्मव्यस्त थे और उनसे दूतका काम लेना भी उचित नहीं था। कोई सेवक वहाँ उपस्थित नहीं था। सब दानवोंके साथ ही चले गये थे। अतः शुक्राचार्यने ध्यान करके परिस्थिति जाननेकी इच्छा की। उन्होंने नेत्र बन्द कर लिये।

'विप्रो! यज्ञीयकार्य बन्द कर दो।' आचार्यने नेत्र खोलते ही उच्च स्वरसे आदेश देना आरम्भ किया—'दक्षिणा पानेकी आशा छोड़ो और शीघ्र यहाँसे पलायन करो!'

'मूर्ख धुन्धुने वामन बने विष्णुको भूमि-दान कर दिया है।' चौंककर विप्रोंने आचार्यकी ओर देखा। वे कुछ पूछें, इससे पहिले आचार्य स्वयं बतलाने लगे—'अब यहाँ धुन्धुकी रेणुका-समाधि बननेवाली है। दानवोंके दर्पका सूर्य अस्त हो गया है। मैं जा रहा हूँ। विष्णु-पार्षद पहुँचने ही वाले हैं। उनके द्वारा प्रताड़ित न होना हो तो शीघ्र पलायन करो।'

शुक्राचार्य उठे और यज्ञशालासे बाहर आकर आकाशमें अन्तर्हित हो गये। जब यज्ञके प्रमुख पदपर स्थित आचार्य ही स्थान त्यागकर चले गये तो वहाँ उनके सहयोगी भी किस आशा और आधारपर रहते? सब ब्राह्मण वहाँसे उसी समय अपने स्थानोंको चले गये।

दानवेन्द्र धुन्धु कहने ही जा रहा था—'अब भूमि माप लो। कहाँकी भूमि प्रिय लगेगी तुम्हें?'

यह कहनेका भी उसे अवसर नहीं मिला। वह और उसके साथी दानव अबतक जिसे पिपीलिका-पुरुष कह रहे थे, जो उनकी दृष्टिमें अत्यन्त दयनीय

और उपहासास्पद था, वह आधे क्षणमें ऐसा हो गया कि उसका मस्तक आकाशमें कहाँतक पहुँचा है, यह भी वे देख नहीं पा रहे थे। वे तो हक्के-बक्के रह गये।

'यह क्या हुआ ? यह कौन है ?' पूछनेका भी साहस कहाँ था किसीमें। उनके सामने जो सहस्र सूर्य संकाश तेजोमूर्ति विराट्-पुरुष प्रकट हो गये थे, उनके टखनोंके बराबर भी कोई दानव नहीं था। वे सब स्वयं उनके सामने पिपीलिका पुरुष सिद्ध हो गये थे।

उस दिव्य-विराट्का तेज असह्य था। उसकी ओर ठीक देखा नहीं जा पाता था और जो किसी प्रकार देखा जाता था, वह और भी भयङ्कर था। वह सर्वत्र व्याप्त लगता था। सम्पूर्ण सृष्टि उसीके भीतर प्रतीत हो रही थी।

जिस स्वर्ग-विजयपर धुन्धुको बड़ा अहङ्कार था, वह स्वर्ग तो इस विराट्-पुरुषके अनन्त विशाल भागका केवल निम्न भाग था।

धुन्धुने न ब्रह्मलोक देखा था और न महर्लोक, जनलोक अथवा तपोलोक; किन्तु आज इस विराट्-पुरुषके ललाट तथा शिरोभागमें उसने वे सब लोक देखे। उनके निवासियोंको देखा। देखा उसने ब्रह्मलोकमें कमलासन ब्रह्माको और उनके समीप समस्त शक्रादि सुरोंको भी।

उनके असह्य तेजके कारण दृष्टि झुकानी पड़ी तो उनकी नाभिसे नीचे उसे क्रमश: सब-के-सब अधोलोक दीखने लगे। अतल, वितल आदि सब लोक। तलातलमें दानवेन्द्र मयको उसने देखा। महातलका अपना निवास और पाताल देखा।

पातालमूलमें दुग्धश्वेत सहस्रफणा अत्यन्त भयानक शेषको देखकर उसका शरीर स्वेद स्नात हो गया। वह काँपने लगा था। ब्रह्मासे मिले वरदानका इन विराट्के सम्मुख कोई अर्थ नहीं था। दानवेन्द्र धुन्धु थर-थर काँपने लगा था।

'दानव ! भली प्रकार देख, मैं अब तेरी भूमि माप रहा हूँ।' कहीं बहुत ऊपरसे, सूक्ष्मतम जगतसे आती वह ऐसी भीषण ध्वनि जैसे ब्रह्माण्डमें विस्फोट हो गया हो।

दानव न भीरु होते और न कापुरुष; किन्तु पुरुषके साहस और पराक्रमकी भी एक सीमा है। किसीके भी मस्तकपर सहसा हिमालय आकाशसे गिरने लगे तो किसी भी विश्व-विजयीका साहस और पौरुष क्या कर लेगा ?

वामनसे जो विराट् बन गये थे, उनका देह ही ऐसा था कि उसका न आदि कहीं जान पड़ता था, न अन्त। उन्होंने अपना दक्षिण चरण उठाया तो लगा कि अब उसके नीचे पृथ्वीके सब पर्वत पिस जायँगे। भाग सकते तो सब दानव और धुन्धु भी भाग जाता; किन्तु सम्पूर्ण धरा जिस पादतलके लिए छोटी पड़ती लगती थी, उसके नीचेसे कोई भागना भी चाहे तो भागकर किधर जाये ?

इतना अकस्मात उठा था चरण और इतनी शीघ्रतासे आया था कि दानवोंको यह सोचनेका भी समय नहीं मिला कि वे पार्थिव देहधारी नहीं हैं। वे इच्छा करते ही अपने आग्नेय देहमें आ सकते हैं और चाहे जहाँ भूमिमें प्रवेश करके अपने महातलमें पहुँच सकते हैं। ऊपर जानेका तो अब प्रश्न ही नहीं उठता था। ऊपर तो पता नहीं ब्रह्मलोकसे भी आगे कहाँतक व्याप्त होकर ये ज्योतिपुरुष ही खड़े थे।

वामनसे विराट बने उन पुरुषने केवल पाद संकेत मात्र किया। इससे संसारमें सर्वत्र एक बार घोर अन्धकार छा गया। सभी प्राणी क्रन्दन कर उठे थे। वे पादक्षेप करते तो कोई प्राणी पृथ्वीपर जीवित बचता ? सबकी अस्थियाँ भी पिस गयी होतीं या बची रहतीं, कुछ कहा नहीं जा सकता। लेकिन उन्होंने चरण उठाया—धराके समीपतक ले आकर केवल संकेत कर दिया—'पूरी पृथ्वी मेरे पदोंके नीचे आ गयी। अब वह मेरी है।'

पृथ्वी कोई उस समय उनकी हुई। भूदेवीके तो वही शाश्वत स्वामी हैं। वही सच्चे भूपति हैं। वैसे तो केंचुए भी मिट्टीसे निकल कर पृथ्वीपर रेंगते हुए पृथ्वीको अपनी ही समझते होंगे। कोई भी अपनेको कभी भूपति मानता है तो उसके माननेका इससे भिन्न अर्थ क्या है।

भूमिको सम्पूर्ण माप लेनेका संकेत करके वह पद ऊपर उठा और उठता चला गया। दानवेन्द्र धुन्धुको तो क्या सृष्टिकर्ताको भी पता नहीं लगा

कि वे विराट् भगवान जिस वामपदपर खड़े हैं, वह कहाँ है और कितना विशाल है। उठे हुए दक्षिण पदके आकार और वेगने ही सबको आतंकग्रस्त कर दिया था। सबकी दृष्टि उसी ओर लगी थी। वह अनन्त अन्तरिक्षको आवृत करता चरण उठता जा रहा था पूरे वेगसे। समस्त लोक-लोकान्तर और अन्तरालको उसने माप लिया। दानवेन्द्र धुन्धु कभी ब्रह्मलोक पहुँचनेकी कल्पना भी करे, इसके लिए भी अवकाश नहीं रहा।

जयजयकार, अभिनन्दन, अर्चन कुछ नहीं हुआ और न सम्भव था। सृष्टिमें सर्वत्र एक आतंक भरा सन्नाटा। सुर और सृष्टिकर्तातक सन्न रह गये थे। उन्हें अपनी सत्ता ही संदिग्ध लगने लगी थी। विराट्-पुरुषका वह ऊपर आता पादतल—आप कल्पना करें तो करें कि पृथ्वीसे सोलह सौ गुना बड़ा सूर्य यदि स्थानच्युत होकर पृथ्वीपर गिरता लगे तो सौ योजन दूर उसके रहते भी पृथ्वीके प्राणियोंकी क्या दशा होगी ? विराटका वह चरण सूर्यसे सन्तुलित करने योग्य नहीं है। शतशत सूर्य उसमें समा सकते हैं और उसकी प्रचण्ड ज्योतिके सम्मुख वे खद्योत भी नहीं लगते।

जिस वेगसे वह चरण उठा था, उसी वेगसे वह अपना आकार समेटता भी लगा। सृष्टिकर्ता क्षणार्धके लिए आतंकित हुए होंगे कि समस्त ऊर्ध्वलोकोंको आच्छादित करता वह पादतल दूर जाता लगा।

भगवान विराटका वर्णन हम-आप भी पढ़ते-सुनते हैं। अनेक साधक अपने मनसे उसकी धारणा भी करते हैं। ऊपरके लोकोंके सिद्ध, मुनीन्द्र, महर्षिगणोंकी प्रबुद्ध प्रज्ञामें भी श्रुति-प्रतिपादित विराट्-पुरुष कुछ-न-कुछ प्रतिफलित हुआ ही होगा; किन्तु आज सबको यह साक्षात्कार हुआ कि स्वयं सृष्टिकर्ताके चित्तमें भी जो विराट्की धारणा कभी आती है, वह वैसी ही है जैसे एक कटोरे जलमें भी सूर्यका प्रतिविम्ब तो पड़ता ही है। उस प्रतिबिम्बको देखकर कोई पृथ्वीसे सोलहसौ गुने बड़े सूर्यका अनुमान कर पावेगा ? अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड जिसके क्षुद्रांशमें अवस्थित हैं, वह विराट् कहीं किसीकी बुद्धिमें आया करता है।

भगवान वामनने भी वास्तविक विराट्को कहाँ व्यक्त किया था। वास्तविक विराट् तो अद्वितीय है। उससे बाहर कुछ बचता ही नहीं। अतः

उसका साक्षात्कार सम्भव नहीं है। वामनने भी विराट्का अत्यन्त साधारण प्रतिविम्ब ही व्यक्त किया था। विराट्-पुरुषका बह एक अल्प आभास मात्र ही था। लेकिन सूर्यका प्रतिविम्ब कितना भी छोटा पड़े, उसकी ज्योति नेत्रोंको तो असाध्य होती ही है। विराट्के उस व्यक्त हुए आभाससे भी त्रिभुवन संत्रस्त—आतंकग्रस्त हो उठा था।

सुर और सृष्टिकर्ता जब सावधान हुए और समझ सके कि उन्हें भगवान विराट्के श्रीचरणके साक्षात्कारका सौभाग्य मिला, तबतक तो वह चरणतल वहाँसे अदृश्य हो चुका था। उसके अर्चनका अवसर ही किसीको नहीं मिला। अब तो उस अदृश्य हुए श्रीचरणको स्मरण करके सिर झुकाना था; किन्तु उसकी स्मृति भी इतनी भव्य, इतनी अकलपनीय थी कि वह कभी विस्मृत हो नहीं सकती थी। वह जागते ही विभोर, विह्वल बनाती हो रहनेवाली है।

'दानव! मैं तीसरा पद कहा रखूं?' ध्वनि बहुत ऊपरसे आ रही थी; किन्तु ऐसी ध्वनि जैसे वह सृष्टिके कण-कणमें गूँज रही हो। जैसे वह अपने हृदयको वेधकर भीतरसे आ रही हो। जैसे अपने समूचे अस्तित्त्वको कण-कण बिखेर रही हो। वह ध्वनि, वह प्रलय-प्रचण्ड ध्वनि पूछ रही थी—'मैं तीसरे पदसे क्या मापूँ? शीघ्र बता।'

आदरसे, आतङ्कसे या अपने-आप अचानक—आप जो कहना चाहें या समझ सकें, समझलें। हुआ यह कि दानवेन्द्र धुन्धु उस अणु-अणुमें गूँजती, समस्त अस्तित्त्वको ही झंकृत करती, सन्दिग्ध बनाती ध्वनिको सुनकर अपनेको सम्हाल नहीं सका। वह भी पूरी शक्तिसे चिल्लाया—'मेरी पीठपर पद रखो! मुझे मापो!'

धुन्धु दानव था। दिव्यदेह था। यज्ञके लिए वह पृथ्वीपर आया था। यहाँ मर्त्यधराके अल्पप्राण मनुष्य उसका असाधारण ज्योतिर्देह और विशाल शरीर देखकर भयसे मर न भी जाते तो उन्मत्त हो जाते या वह प्रदेश ही त्यागकर भाग जाते। इसलिए अन्य दानवोंके साथ उसने भी मनुष्याकार धारण किया था। भले ऐसा करनेपर भी उसका शरीर मनुष्योंसे बहुत बड़ा, दानवोंके भी मानव देहोंसे कुछ बड़ा था। वे भले ज्योतिर्देह नहीं रहे थे, ताम्रतप्त गौरवर्ण और गैरिकवर्ण श्मश्रुकेशवाले तो थे ही।

इस समय आतङ्क अथवा आकुलताके कारण धुन्धुका अपना वास्तविक आकार प्रकट हो गया। वह उस योजन विशाल देहको पृथ्वीपर पूरा फैलाकर पेटके बल साष्टांग प्रणिपात करता गिर गया।

धुन्धुके सब साथी-सहायक दानव और दूसरे भी वहाँ जो किसी भी कारण आ गये थे, भयके कारण या तो इससे पहिले भाग गये थे या अब भाग खड़े हुए। वहाँ इस क्षण अपने सम्पूर्ण शरीरको मरु भूमिपर फैलाये दण्डवत् पड़ा अकेला धुन्धु रह गया था। उसके आस-पास भी कोई वहाँ नहीं था। पृथ्वीके विभिन्न स्थानोंसे जो व्यापारी, सेवक, ब्राह्मण, भिक्षुक अथवा दर्शक आये थे, वे सब तो तभी भाग चुके थे जब आचार्य शुक्र गगनमें जाकर अदृश्य हुए और दूसरे सब यज्ञकर्ता ब्राह्मण वहाँसे भागे।

'अब यहाँ भयानक विनाश होगा !' लोगोंमें आतङ्क शीघ्र फैलता है और फैलता है तो बहुधा बढ़ता ही जाता है। प्रवाद फैलने लगता है तो वास्तविकतासे कितना बढ़ जायगा, कुछ कहा नहीं जा सकता। 'यज्ञ ध्वंस हो चुका। यज्ञशालामें स्वयं यमराज उतर आये। रुद्रके भूतगण दानवोंको तथा दूसरोंको भी पकड़-पकड़कर भक्षण कर रहे हैं।' पता नहीं कितनी बातें ब्राह्मणोंको भागते देखकर फैलती गयी थीं। अत: मर्त्यधराके तो सब वहाँसे तभी भाग चुके थे।

दानवेन्द्र धुन्धुके जो साथी, परिकरके दैत्य थे, वे भी अत्यन्त आतंकित हो चुके थे। उन्होंने सम्पूर्ण पृथ्वीको पीस देनेको आता वह विराट्के उठे पादको देखा था। जैसे ही वह चरण हटा, वे सब धुन्धु कहाँ है या उसका क्या हुआ, यह देखे बिना ही वहाँसे भागे थे। उनमें कोई भी किसी दूसरेको पुकारने, साथ लेनेका भी समय नहीं पा सका था। सब प्राण बचाकर भागे थे। अस्त-व्यस्त भागे थे। विभिन्न दिशाओंमें भागे थे। दुर्गम मरुभूमि जिसे जिधर लगी, वह उधर भागा था। जितना दुर्गम प्रदेश, उतनी सुरक्षा उसमें लगी थी।

'यह पीछा करेगा !' सबको भयके कारण यही लगा और जिसके चरणतलसे पृथ्वी आच्छादित हो सकती है, उससे भागकर तो बचा नहीं जा सकता। इस आतङ्कके कारण बहुत समयतक दानव अपने मानव वेशमें ही मरुस्थलोंमें छिपे रहे। वे वहाँके लोगोंमें घुले-मिले रहे। महातलमें जानेका साहस भी उनमें धीरे-धीरे बहुत पीछे आया।

यदि मरुभूमिके वासियोंपर दानवोंके शील-स्वभाव, संस्कृति और आकारका भी प्रभाव उनके उस दीर्घकालके सान्निध्यमें पड़ा हो तो आश्चर्यकी बात नहीं। वे कोई संयमी साधु लोग तो थे नहीं। वे तो विलासी तथा उद्धत प्रकृतिके थे। अपने प्रवासमें वे जिनके मध्य थे, उनके यहाँकी स्त्रियोंसे उनका सम्बन्ध हो जाना स्वाभाविक था। उनकी सन्तति परम्परा वहाँ बनी रहे, इसे असम्भव नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वे मानव स्त्रियों और उनसे हुई सन्तानोंको न अपना वास्तविक परिचय दे सकते थे, न उन्हें साथ ले जा सकते थे। पृथ्वीके अन्तरालमें स्थित उनके दिव्यलोक—अग्निमय लोकमें धराका पार्थिव शरीरधारी सामान्य प्राणी तो जीवित रह नहीं सकता था।

वहाँ उस देविका नदीके तटके समीप दानवेन्द्रकी यज्ञशाला तथा उसका पूरा परिवेश जनहीन पड़ा था। वह कला एवं वास्तु-निर्माणकी दृष्टिसे बना भव्यतम महानगर उस समय जनहीन तो था; किन्तु तब भी बहुत सम्पन्न था। वह अन्न, वस्त्र, स्वर्ण, धन, रत्नादिसे परिपूर्ण था। लेकिन ऐसा मनुष्योंसे परित्यक्त महानगर कितने समय बना रह सकता था ? उजाड़ नगरको खण्डहर बनते और खण्डहरोंको भूमिसात् होते भगवान काल देखते ही रहते हैं। यह निर्माण-विनाश उनकी सहज क्रीड़ा है।

धुन्धुके उस नगरका निर्माण कोई प्रयागके कुम्भ मेलेका तृणावास या पट आवासका निर्माण नहीं था। धुन्धु वहाँ सौ अश्वमेध यज्ञ करनेका सङ्कल्प लेकर आया था। उसका महानगर आजके किसी महानगरसे विशाल, भव्य सुदृढ़ था। भले वह मरुस्थलमें निर्मित था, उसके निर्माणमें दानव-शिल्पियों और वास्तुमर्मज्ञों, दानवेन्द्रमयके शिष्योंने श्रम किया था। यह सब था; किन्तु किसे पता था कि वह इतने अल्पकालमें उजाड़ हो जायगा और भूकम्पके प्रथम प्रहारमें भूमिसात् हो जायगा। भूमिकम्प भी तत्काल आना था। वामनके ही पादक्षेपसे आना था, जिन्होंने उस नगरको अपने आतंकसे निर्जन कर दिया था।

निर्जन, निस्तब्ध उस मरुस्थलमें अपना पूरा दानवाकार प्रसारित करके दानवेन्द्र धुन्धु पेटके बल साष्टांग पड़ते समय पूरी शक्तिसे चिल्लाया था—'मुझे मापो !'

वामन कहना तो अब उन्हें बनता नहीं, उन विराट् पुरुषने वही दक्षिणपाद जो ऊपर उठा रखा था, जो ब्रह्मलोकतकको मापकर अभी-अभी उधरसे नीचे आ रहा था—धुन्धुकी पीठपर पटक दिया।

धुन्धुका क्या हुआ, कोई देख नहीं सका। सुर भी देख नहीं सके जो बहुत उत्सुक थे। धुन्धुका शरीर उस पादक्षेपके वेगसे तीस योजन गहराईमें उस रेणुकामें धँसता चला गया था। आप जानते हो कि रेतमें इस प्रकार कोई वस्तु गाड़ी जाय तो वहाँ कोई गर्त नहीं बना करता। वामनने जैसे ही अपना पद वहाँसे उठाया, आस-पासकी रेतने वह रिक्त स्थान भर दिया। वहाँ ऊपर तो कोई चिह्न भी शेष रहनेवाला नहीं था। वायुसे उड़ती रेत ऐसे सब चिह्न शीघ्र समाप्त कर देती है।

भगवान विराट्ने जब धुन्धुकी पीठपर पैर पटका था तो उसके धक्केसे वहाँ दूरतक भूमि बहुत डाँवाडोल हो उठी थी। धुन्धुके शिल्पियोंने जो महानगर वहाँ यज्ञशालाके सहित निर्मित किया था, वह उस भूकम्पमें भूमिसात् तो हुआ ही, पृथ्वीके हिलनेके कारण रेतके उसी सागरमें अदृश्य हो गया।

धुन्धुके शरीरका कुछ भी हुआ हो, धुन्धुका क्या होना था। उसे भगवानका सान्निध्य और उनका पादस्पर्श प्राप्त हुआ था। देह त्यागकर वह उससे पहिले वैकुण्ठ पहुँचा, जब उसका शरीर रेणुकाके उस सागरमें तीस योजन नीचे पहुँचा।

भगवान जब वहाँ अन्तर्हित हुए, धुन्धुके साथ वहाँ बनी दानवोंकी यज्ञशाला और वहाँका महानगर भी अदृश्य हो चुके थे। स्वर्ग सुरोंको अधिकृत कर ही लेना था। वहाँ और पृथ्वीपर भी दानवोंका कोई चिह्न शेष नहीं रहा था। अमरपुरीमें या धरापर दानवोंका यह आधिपत्य शीघ्र विस्मृत हो गया।

ब्रह्माजीको और इन्द्रादि देवताओंको अपना उत्सव मनाना था, मनाया उन्होंने; किन्तु जिसने उन्हें यह सुअवसर दिया था, उसने उन्हें अपने स्तवनका भी अवसर नहीं दिया। इस अवतारमें इन्द्रको विष्णुको उपेन्द्र कहनेका अहङ्कार नहीं प्राप्त हुआ।

एक दृष्टि—

अन्तमें कूर्म कल्पके इस अप्रख्यात वामनावतार-चरितपर भी एक दृष्टि डाल लेना अच्छा होगा। इस चरितमें अनेक शब्द ऐसे हैं जो स्वयं अपना रहस्यार्थ स्पष्ट करते हैं। उनसे जीवनमें शिक्षा भी ली जा सकती है, यदि हम उसके लिए उत्सुक हों।

असुर कुलोंमें दैत्य, दानव, कालिकेय—ये तीन मुख्य हैं। पीछे नैकषेय* (राक्षस) कुल भी प्रधान हो गया। महर्षि कश्यपकी पत्नी दिति, दनु और कालकाके ये कुल हैं। इनमें-से दैत्य कुल आरम्भसे असाधारण है। दितिके दोनों पुत्र हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु भगवान विष्णुके पार्षद जय-विजय प्रशप्त होनेसे इस रूपमें आये थे। हिरण्यकशिपुके पुत्र प्रह्लाद तो भक्त मुकुटमणि हैं। प्रह्लादके पुत्र विरोचन इतने धर्मात्मा कि याचक बनकर आये देवताओंको अपनी आयु दानमें दे दी। विरोचनके पुत्र बलिका चरित इस पुस्तकमें आ चुका। बलिका पुत्र वाणासुर भगवान शिवका ऐसा भक्त कि त्रिपुरारि प्रभु उसके पुर-पालक बन गये।

दानव और कालिकेय असुरोंके कुलमें वैसी कोई विशेषता नहीं है, जैसी दैत्य कुलमें रही। इसीलिए जब भी दैत्य कुलमें कोई प्रधान हुआ, दूसरे असुर कुल उसके अनुयायी बने रहे। दानव कुलमें केवल मय इसके अपवाद हैं। वे दानव विश्वकर्मा अमर हैं और परम शिव भक्त हैं। उनके सद्गुणोंकी जो भी प्रशंसा की जाय, कम है।

असुरका अर्थ है प्राणोंका पोषक अथवा प्राणियोंका हिंसक। प्रबल पराक्रम, अनथक उद्योग असुरोंकी विशेषता है। देहकी दृष्टिसे वे देवताओंके समान ही दिव्य देह हैं, दीर्घायु हैं। वे भी भोग प्रिय हैं। लेकिन सृष्टिकर्ताने

---

* रावणकी माता केशिनी अत्यन्त काली होनेसे निकषा कही जाती थी। निकषाका अर्थ है कसौटी। माताके नामसे राक्षसोंको नैकषेय कहा जाने लगा।

उन्हें कोई दायित्व संसारमें सौंपा नहीं है। उनका निवास अधोलोक माने जाते हैं। सुरोंके समान ये भी मानवकी उपासना एवं आराधनासे ही पुष्ट होते हैं; किन्तु यज्ञ एवं अर्चनका अविधिपूर्वक (विधिहीन या भ्रष्ट विधिसे हुआ) भाग इन्हें प्राप्त होता है।

सम्पूर्ण असुर वर्ग असन्तुष्ट रहनेवाला है। उनमें अपवाद रूप मय, प्रह्लादादि थोड़ेसे लोकोत्तर महापुरुष ही परम सन्तुष्ट रहनेवाले हैं। असुरोंका विश्वास सत्तापर बलपूर्वक अधिकार पानेमें है। अतः वे पृथ्वीपर तथा स्वर्गपर अधिकार करनेकी चेष्टामें रहते ही हैं। शक्ति तपस्यासे प्राप्त होती है, यह मूलसूत्र उनको भली प्रकार स्मरण रहता है। अतः उनमें समय-समयपर अत्युग्र तप करनेवाले होते ही रहते हैं। वे तप करके शक्ति सम्पन्न होनेपर स्वर्गपर अधिकार करके वहाँसे सुरोंको निर्वासित कर देते हैं। सुरोंसे उनकी शत्रुता सनातन है।

आपने धुन्ध शब्द सुना है। आप इसके अर्थसे परिचित हैं। न स्पष्ट प्रकाश और न बहुत घना अन्धकार। कुछ विरल अन्धकारको धुन्ध कहते हैं। कुहरा दिनमें हो तो यही अवस्था होती है। धुन्धु शब्दका अर्थ भी धुन्धसे भिन्न नहीं है, यद्यपि यह एक दानवका नाम, उसकी संज्ञा है।

धुन्धुका स्वभाव धुन्ध जैसा। वह महामल्ल है; किन्तु कोई केवल पहलवान होनेसे प्रशासकके पदके योग्य होगा? धुन्धुमें दानव नायकके योग्य बल है। तपस्या करके वह सुरोंसे अजेय हो जाता है। व्यष्टिके जीवनमें देखें आध्यात्मिक स्तरपर तो प्रकाश रहा नहीं और तमोगुणका अन्धकार भी नहीं रहा। राजसकताका प्रचण्ड उद्योग रह गया, जिसने सब सात्विक वृत्तियोंको पराजित कर दिया। अब ऐसी कर्मशीलता जीवन और जगतमें अव्यवस्था, अशान्ति, भागदौड़ ही उत्पन्न कर सकती है।

धुन्धु दानव है। मल्ल है। सुर-शत्रु है। शक्तिशाली है। स्वर्गपर अधिकार कर लेता है; किन्तु वह योग्य शासक नहीं है। उसे विजय प्रिय है। संघर्षमें रहना उसे आता है; किन्तु वह ब्रह्मलोक जानेमें असमर्थ है। अन्तर्मुख होनेके प्रयासमें तो सब राजसिक वृत्तियाँ ही नष्ट हो जायँगी। धुन्धु और उसके अनुचर अन्तर्मुख होनेके प्रयत्नसे ही भयभीत हैं।

हाँ—यदि कर्मशीलतासे अन्तर्मुखता प्राप्त हो तो वे अवश्य वह कर्म करेंगे। यज्ञ करना धुन्धुको अच्छा लगा था। सत्वगुण स्वीकार है उसे, यदि वह क्रियाशीलतासे समन्वित बना रहे। निष्क्रियता और निवृत्तिके साथ दानवेन्द्र अथवा दानवोंका समझौता नहीं हो सकता।

सत्वके—यज्ञके आश्रयसे भी दानवता पुष्ट होगी तो आज नहीं तो कल विनाशका ताण्डव करेगी। उसके प्रति सुरोंका और सृष्टिकर्ताका सशंक होना उचित ही है। वह तो कभी भी निरंकुश होकर आतंक, विनाश प्रारम्भ कर दे सकती है। उसपर विश्वास करके निश्चिन्त नहीं रहा जा सकता।

दानवता, रजोगुण आशङ्का उत्पन्न करनेवाला तो है; किन्तु क्या कोई विधि-विधान केवल इसलिए सात्विक क्रियाको, शुभ कर्मको रोक सकेगा कि वह बहुत सक्रियता चाहता है? कोई सत्पुरुष महायज्ञ, बड़े समारोहादिका विरोध करेंगे? आपके नगरके अवांछित सदस्य (गुण्डे) ही यदि संकीर्तन, सम्मेलन करने लगें तो आप उनके इस अच्छे उद्योगका विरोध कैसे करेंगे? भले यह आशङ्का बनी रहे कि भीड़ जुटाकर अथवा अपने परिचय-क्षेत्र बढ़ाकर यह लोग उसका दुरुपयोग करेंगे; किन्तु उनके उस सात्विक आयोजनका विरोध कैसे करेगा कोई सत्पुरुष?

ऐसी समस्याएँ अनेक बार समाज और संसारमें आती रही हैं, आती ही रहेंगी। इनका एक ही समाधान है कि सच्चे मनसे श्रीहरिकी शरण ली जाय। वे ही समर्थ हैं दानवताके प्रचण्ड पराक्रमके विद्यमान रहते भी उनमें वामन बनकर प्रवेश पानेमें।

यदि आपके मनमें यह दानवदल—रजोगुणका आवेश सात्विक रूप लेकर, लोकसेवा या धर्मादिकी सेवाका रूप लेकर आ गया है तो उसमें भगवदाश्रय, भगवत्प्राप्तिकी कामनाको प्रविष्ट होने दीजिये। वह वामन, छोटी कामना स्वतः विराट् बन लेगी।

वामनने जो परिचय दिया, वह और भी स्पष्ट तथा रोचक है। पिताका नाम भास। निर्गुण निराकार परम तत्त्वका इससे अच्छा नाम सम्भव नहीं है। वह केवल भास है। उसका न वर्णन होता, न साक्षात्कार। वह अवाङ्मनसगोचर है; किन्तु नित्य अपरोक्ष है। आप अनुभव करते हैं

कि आप हैं; किन्तु यह 'मैं हूँ' केवल भास है। इसकी कोई परिभाषा आप नहीं कर सकेंगे।

बड़े पुत्र इस भासके हैं भाललोचन। भाललोचन तो एक ही हैं सदासे। आप उन त्रिनयन नीलकण्ठ प्रभुको जानते हैं। दूसरे जो वामन बने थे, अपना नाम बतलाया उन्होंने प्रभास। सदासे, सबसे प्रकृष्ट रूपसे वे श्रीहरि ही भासित हो रहे हैं। उनसे प्रकृष्ट प्रकाश और कहाँ मिलेगा। वे ही सबके परम प्रकाशक है।

'बड़े भाई भाललोचनने मुझे प्रवाहमें पटक दिया।' आप इस बातको दानवोंके समान हँसकर उड़ा देंगे तो दुःख पाते रहेंगे। आवागमनका यह अनादि प्रवाह पता नहीं कबतक चलता रहेगा। इसमें किसने पटका है प्रभास—परमात्माके ही अंश आपको? अज्ञानने? अविद्याने? नहीं। भाललोचन शिवने। उन विश्वनाथकी इच्छा एवं सान्निध्यके बिना यह संसार चक्र चल रहा है? उन्होंने तो इसलिए पटका कि आप इससे दुःखी होकर उन भाललोचन शिवको पुकारें; किन्तु आपने प्रवाहमें बहते रहनेको ही पुरुषार्थ मान लिया, इसीमें शिव—कल्याण ढूँढ़ने लगे। इससे नेत्र हटाकर देखते ही नहीं। निश्चेष्ट पड़ गये हैं और बहते जा रहे हैं, तब तो दानवोंके ही हाथ पड़ेंगे। वहाँ उपहासके अतिरिक्त क्या मिलना है।

दानवोंको, दानवेन्द्रको भी स्मरणतक नहीं आया कि नन्हा पुरुष कई दिनसे पानीमें पड़ा है। वह क्षुधातुर भी होगा। उसे दो घूँट दूध भी देनेकी उन्हें नहीं सूझी। बात सूझनेकी ही थी। उनमें-से किसी अल्पाहारी दानवके एक ग्राससे अधिककी आवश्यकता उस अत्यन्त छोटे पुरुषको होनी नहीं थी; किन्तु दानवोंको अपने विनोदके सम्मुख यह बात सूझनेवाली ही नहीं थी।

हम-आप भी पशु-पक्षियोंसे, दूसरे प्राणियोंसे विनोद प्राप्त करते हैं; किन्तु उनकी क्रीड़ाका आनन्द लेते समय उनके सुख, उनकी सुविधापर हमारी दृष्टि जाती है? आज मनुष्य अपने शृङ्गार तथा विनोदके लिए सहस्रों प्राणियोंका वध करता है, यह दानवता है या मानवता? इससे मुक्त हुए बिना मनुष्यको मनुष्य कहलानेका अधिकार है?

दानवेन्द्र धुन्धुको तो भ्रम हो गया था। तीन पद ही वामन क्यों माँग रहे हैं, इसपर वह ध्यान देता तो सम्भव था, सचेत हो जाता। आपके भीतर

भी ये वामन बैठे हैं। हृदयमें जहाँसे प्राण वायु ऊपर और अपान नीचे जाता है, 'तत्र वामनमासीनं' वहाँ बैठे हैं वामन और उनका अभ्यास ही तीन पद धरनेका है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अथवा स्थूल, सूक्ष्म, कारणमें ही उनके पद पहुँचते हैं। इन तीनोंमें व्याप्त और इनसे परे तुरीय तो वे स्वयं हैं। तुरीय न शरीर है, न अवस्था है। तुरीय तो तत्त्व है। वह तत्त्व ही तो वामन बना है।

वामनकी माँग है तीन पद पृथ्वीकी। उन्हें स्थूल और सूक्ष्म आप दे दीजिये। कारण तो अविद्या है। इस अविद्याके कारण ही आप अपनेको पृथक मानते हैं, अपनेको कर्ता मानते हैं। इस कर्ताको वे स्वयं माप लेंगे। अविद्याकी निवृत्ति वही करते हैं। केवल उनके चरणोंमें अपने कर्म तथा कर्तृत्वको समर्पित करना है।

बलिके समान धुन्धुमें कोई योग्यता नहीं थी। बलिमें तो विनय, धर्म, श्रद्धा, संयम, सत्य, दानशीलता और समर्पण आदि सब सद्गुण थे। बलि सुयोग्य शासक थे और उन्होंने व्यवस्थामें प्रमाद नहीं किया था। कुलगुरु, कुलश्रेष्ठ तथा दूसरे आदरणीय जनोंकी उन्होंने कभी उपेक्षा नहीं की।

इस सबके विपरीत धुन्धु अत्यन्त अहंकारी था। दुर्विनीत था। शासनको उसमें योग्यता नहीं थी और शासनका दायित्त्व अपनेपर आनेपर भी उसने उसकी ओर ध्यान नहीं दिया। विनय उसे आती नहीं थी। श्रद्धा, संयम, सत्यसे उसका परिचय नहीं था। दानशीलता उसमें थी; किन्तु वह उसके दर्पकी ही पोषक थी। उसने किसीको इस योग्य नहीं माना कि उससे पूछकर महत्त्वपूर्ण कार्य किये जायँ।

धुन्धुका चरित कहता है कि बलाधिक्य जिनमें है, उनमें यदि श्रद्धा, संयम तथा विनम्रता न हो तो उनसे संसारका अनिष्ट ही सम्भाव्य है। वे आतंक उत्पन्न कर सकने हैं; किन्तु सुव्यवस्थाकी स्थापना और उसका संचालन नहीं कर सकते। ऐसे व्यक्ति यदि अधिनायक हो गये तो कितना संहार-सृजन करते हैं, इसका भली प्रकार समाजको अनुभव है।

सृष्टिका सञ्चालक सर्वसमर्थ है। भले वह लीलामय अत्यन्त दुर्विनीत उद्धत बच्चोंको भी कुछ समय मनमाने ढङ्गसे उछल-कूद कर लेने देता है;

किन्तु उन्हें नियन्त्रणमें रखना, उनके अहङ्कारको मिटा देना उसे आता है। उसके विधानमें वैपरीत्य लाकर कितना भी शक्तिशाली अधिक समय सक्रिय नहीं रह पाता।

इसके साथ ही वह सर्वेश अत्यन्त कृपामय है। वह जहाँ कठोर होता भी दीखता है, वहाँ भी उसकी असाधारण करुणा ही काम करती होती है। वह कठोर बनकर भी अपनाता ही है। उसके द्वारा किसीका अमंगल हुआ नहीं करता।

यह तो सम्भव नहीं था कि धुन्धु जैसे दुर्विनीत, अनुभवहीन, दर्पयुक्तकी दयापर त्रिभुवनको छोड़ दिया जाय। इसलिए उसे यह अवसर नहीं दिया जा सकता था कि वह सौ अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न करले और शक्र पदका अधिकारी हो जाय। लेकिन उसे विष्णुपदकी प्राप्ति हुई। दानवोंके अपने लोक महातलमें उनके प्रवेश अथवा निवासमें कोई बाधा नहीं आयी। सुरोंको उनका स्वत्व प्राप्त हुआ।

अवश्य यह बात विचारणीय रह जाती है कि दानवेन्द्र धुन्धुको भगवान वामनने रेणुका समाधि क्यों दी ? उसे अन्य दानवोंके साथ महातल नहीं भेजा जा सकता था ? उसके साथ इतना कठोर व्यवहार क्यों हुआ ? अन्ततः उसने भी तो बलिके समान सम्पूर्ण त्रिलोकी उन्हीं चरणोंमें समर्पित की थी, जिसमें बलिने किया था। उसके साथ सदय व्यवहार क्यों नहीं हुआ ?

इसमें धुन्धु और बलिके अन्तरपर विचार नहीं किया गया। सम्पूर्ण चराचर जगत भगवत्स्वरूप ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। लेकिन कर्ताके मनमें जैसा भाव होता है, उसे वैसा ही फल प्राप्त होता है।

'देवान् देवयजो यान्ति……।' गीता ७.२३

यद्यपि किसी भी देवताकी आराधना करो, होती वह आराधना सर्वरूप सर्वेश्वरकी ही है और उसका फल भी वही देते हैं; किन्तु जबतक आराधककी बुद्धिमें कोई और है, उसे भगवत्प्राप्ति नहीं हुआ करती।

बलिको कोई भ्रम या सन्देह नहीं था कि वे किसे दान कर रहे हैं। वे अपना सर्वस्व दान करनेको प्रस्तुत हो चुके थे। उनके हृदयमें श्रद्धा थी,

त्याग था और अपने सत्यका पालनकी दृढ़ता थी। उनकी दृष्टि इससे विचलित नहीं हुई कि उनके सम्मुख साक्षात् विष्णु हैं। शुक्राचार्यने उन्हें जो भी चेतावनी दी, उसपर उन्होंने अविश्वास नहीं किया था। उसपर विश्वास करके भी वे दानको तत्पर हुए थे।

बलिके बाँधे जानेपर इसीलिए स्वयं सृष्टिकर्ता विचलित होकर प्रार्थना करने भागे आये थे; क्योंकि बलिके दानमें कहीं अपूर्णता नहीं थी। स्वयं बलिमें दृढ़ श्रद्धा थी, त्यागकी प्रस्तुति थी और दान लेने उनके सम्मुख जो आया था, उसे वे पहचान चुके थे। वह आया भी उचित पात्रके रूपमें था। उसका उचित सम्मान, पूजन करके दान दिया गया था।

धुन्धुके सम्बन्धमें तो इससे सर्वथा विपरीत स्थिति थी। उसने कोई श्रद्धापूर्वक दान नहीं किया था। वह अपने दर्पमें था। उसे दान भी परिहास ही लग रहा था। दान जिसे उसने दिया, उसका आदर या पूजन तो दूर, उसका वह परिहास करता रहा। उसे दयनीय समझकर उसके कहनेसे उसने सङ्कल्प भी किया और उपेक्षापूर्वक परिहास रूपसे ही किया। उसे सङ्कल्प करनेकी आवश्यकता अन्ततक नहीं लगती थी। आप जानते हैं—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ गीता १७.२८

धुन्धुने न स्वयं वामनको पहिचाना और न शुक्राचार्यने उसे कोई सूचना दी। इसमें शुक्राचार्यका कोई दोष नहीं है? यज्ञमें दीक्षित यजमानको यज्ञीय कालमें आचार्यकी अनुमतिके बिना आसन नहीं छोड़ना चाहिये; किन्तु धुन्धुने तो शुक्राचार्यकी उपेक्षा ही कर रखी थी। यज्ञ-मण्डपसे निकलते समय भी आचार्यसे अनुमति लेना उसे अनावश्यक लगा।

धुन्धुकी बुद्धिमें अन्ततक वामन एक दयनीय व्यक्ति बने रहे। वे जब विराट् बन गये तो धुन्धु भयाक्रान्त हो गया। उस समय भी वह समझ नहीं सका कि इन विश्वेशकी शरण ले सकता है।

धुन्धु अपनी धुनके पीछे चलनेवाला पराक्रमी था; परन्तु केवल मल्ल था। उसमें उपासना, सहानुभूति अथवा विलासिता भी तो नहीं थी। वह

तो केवल प्रभुत्वकी प्राप्तिका उतावला था और प्रभुत्त्व पाकर शुष्क द्वेषसे संचालित था। अश्वमेध यज्ञ भी इसलिए कर रहा था कि उसे ब्रह्मलोक पहुँचनेकी शक्ति मिल जाय और वहाँ जाकर इन्द्रको मार सके। ऐसे शुष्क वैरको हृदयमें बद्धमूल करनेवालेको रेणुका समाधि ही तो दी जा सकती थी।

धुन्धु बलवान था और धुनका पक्का था। इन गुणोंको उसके दर्पने दोष बना दिया था। आप कह सकते हैं कि उसे अवसर दिया जाता तो वह पुनः तप नहीं करता ? दूसरी बार तप करके वह अपने पहिले वरदानकी त्रुटियोंको सुधारता या उन्हींको दुहराता ? ऐसे दुर्मद लोगोंको, जो केवल अपने मनकी करना जानते हों, दूसरोंकी कहाँ कितनी हानि होगी या सृष्टिकी, समाजकी कितनी मान्य एवं आवश्यक मर्यादाएँ भंग होंगी, जो इसे देखना ही नहीं जानते, उन्हें शक्ति एवं शासन प्राप्त होनेका अवसर दिया जाना चाहिये, यह कोई विवेकशील स्वीकार नहीं करेगा। धुन्धुको महातल भेज देनेका अर्थ होता, उसे पुनः तपके लिए अवसर देना।

धुन्धु स्वयं अपने नामार्थके समान था। वह सृष्टिमें ही धुन्ध फैला देना चाहता था। आप कुहरेका घना धुन्ध बना रहे, यह कभी पसन्द करते हैं ? धुन्धको तो समाप्त होना चाहिये। उसके हटनेपर ही निर्मल प्रकाश प्राप्त होता है। अतः धुन्धुको कहीं भेजकर बचाये रखना ठीक नहीं था। उसे तो मोक्ष ही मिलना चाहिये था।

धुन्धुको इन्द्रपद अल्पकालके लिए मिला। उसका अमरावतीमें निवास भी अल्पकालिक था। अश्वमेध यज्ञ भी वह दस-पाँच नहीं कर सका। उसके यहाँ आकर उसे मुक्त कर देनेमें भी भगवान वामनने कोई चरित-विस्तार नहीं किया। इसलिए कूर्मकल्पका यह वामनावतार चरित पुराणमें वर्णित होकर भी लोकमें प्रचलित नहीं हो सका। यह अप्रख्यात ही रह गया।

वामनावतार ही धर्मकी शक्ति प्रकट करनेके लिए हुआ। बलिके लिए होनेवाले वामनावतारमें धर्मकी शक्तिका कितना सम्मान भगवानने किया, इसका विवेचन कर आये हैं। इस कूर्मकल्पके वामनावतारमें भगवानने यह स्पष्ट किया है कि कोई क्रिया ही धर्म नहीं है। श्रेष्ठतम क्रिया भी, अश्वमेध यज्ञ भी यदि सम्यक् श्रद्धा एवं सम्यक् सावधानी न हो तो धर्म नहीं हो पाता। उससे उत्तम फलकी प्राप्ति नहीं होती।

धुन्धुमें आचार्य शुक्रके प्रति समुचित श्रद्धा तो क्या शिष्टता और विनयका भी अभाव था। उसमें असंयम था। यद्यपि वह विलासी नहीं था; किन्तु केवल विलासिता ही तो असंयम नहीं है। जबतक एक भी इन्द्रिय अनुशासनसे बाहर है, संयम सधा नहीं करता। सबसे मुख्य संयम है जिह्वाका संयम। जीभमें दो इन्द्रियोंका आवास है—१. कर्मेन्द्रिय वाणी, २. ज्ञानेन्द्रिय रसना। धुन्धुमें वाणीका संयम था नहीं। कब, किससे, किस प्रकार बोलना चाहिये, यह विवेक उसमें नहीं था।

हममें दोष आते हैं किसी दुर्बलताके छिद्रसे। हमारा अहित हमारी अपनी असावधानीके कारण होता है। दूसरे व्यक्ति और दूसरे पदार्थ या घटनाएँ तो केवल निमित्त बनती हैं। भगवान वामनने धुन्धुकी इसी दुर्बलताका उपयोग करके उसको पदच्युत किया।

देवेन्द्र पद प्राप्त करके भी धुन्धुमें उचित गम्भीरता होती तो वह यज्ञशालासे उठकर वामनके समीप जाता या स्वयं उन्हें यज्ञशालामें ही ले आनेका आदेश देता ?

यज्ञशालासे उठकर उसका जाना अविनय, अश्रद्धा, असावधानी तो है ही, उसके स्वभावके ओछेपनको स्पष्ट करनेके लिए भी पर्याप्त है। वह बालकके समान कुछ विचित्र बात सुनते ही आवश्यक कार्य छोड़कर दौड़ा गया था। वहाँ जाकर भी उसने अपने पद-गौरवका केवल यह लाभ उठाया कि सम्पूर्ण विनोदके केन्द्र वामनको स्वयं उठा लिया और उनसे स्वयं बातें करने लगा। जैसे दानवेन्द्रको स्मरण ही न हो कि उनके सेवक, सहायक, सजातीय सब वहीं हैं।

अपना कर्तव्य, अश्वमेध यज्ञका कार्य जिसे छोड़कर वह उठ आया था, उसे स्मरण ही नहीं आया। यह भी स्मरण नहीं आया कि जो व्यक्ति इतना अल्पकाय है, जलमें इतनी देर पता नहीं कबसे डूबा रहा है, उसे कुछ विश्राम भी दिया जाना चाहिये। उससे कुछ पूछना है या विनोद करना है तो यह कुछ काल पीछे भी किया जा सकता है। यज्ञीय आवश्यक कर्तव्य पूरा करके यह आमोद मनाया जाय तो इस पीड़ितको भी विश्राम मिल जायगा। लेकिन धुन्धु दानव है। उसे अपनी सुख-सुविधा तथा विनोदके

सामने दूसरेका कष्ट, असुविधा या अपना कोई अन्य आवश्यक कर्तव्य स्मरण हो नहीं आता।

वामनने धुन्धुकी दुर्बलताका लाभ उठाया। प्रशंसा करते गये और अपनेको अधिकाधिक दयनीय दिखलाते गये। दानवके दर्पको उन्होंने भरपूर उत्तेजित किया। इस दर्पसे प्रेरित दया उसमें उत्पन्न हुई। वामनका सब अभिनय धुन्धुको भरपूर मनोरंजन देकर उसे विमुग्ध बनाये रहनेके लिए था। इसी दर्पके कारण, विमुग्धताके कारण वह यज्ञमण्डपको भूला रहा और उसने भूमि-दानका सङ्कल्प भी इसी विमुग्धतामें किया।

यह सब सन्देश है कि महत्कर्म प्रारम्भ करना है तो सम्यक् श्रद्धा एव विनय रखनी ही चाहिये। उस समय विनोद वृत्तिको विदा करके, बलपूर्वक संयमको स्थिर रखना चाहिये।

'श्रेयांसि बहु विघ्नानि।'

शुभ कार्यमें बहुत विघ्नोंके आनेकी सम्भावना रहती है। हमारी पूरी सतर्कता, सावधानी, संयम भी भगवदाश्रयके बिना सदा सफल नहीं होता। अतः भगवानका आश्रय तो लेना ही चाहिये। विपत्तिमें भी उनका स्मरण न हो, इससे बड़ा कोई दुर्भाग्य नहीं।

भगवान नित्य मंगलमय हैं। उनके चारु चरित नित्य मंगलमय हैं। उनका चिन्तन, पठन, गायन, कथन, श्रवण नित्य मंगलमय है। उन लीलामयकी जय !

श्रीकृष्ण—सन्देश

[आध्यात्मिक मासिक पत्र]

श्रीकृष्ण-सन्देश का वर्ष जनवरी से प्रारम्भ होता है।

'श्रीकृष्ण-सन्देश' प्रतिमास लगभग ६४ पृष्ठ पाठ्य-सामग्री देता है।

वार्षिक शुल्क	१५ रुपये।
आजीवन शुल्क	१५१ रुपये।

सम्भव हो तो आजीवन ग्राहक बनें।

व्यवस्थापक— श्रीकृष्ण-सन्देश
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान सेवा-संस्थान
मथुरा-२८१००१

"यह पुस्तक भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्य पर उपलब्ध किये गये कागज पर मुद्रित-प्रकाशित है।"